'Shree Ratna Prabhakar Gyan Pushpamala' No 167
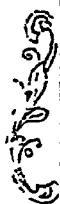
Shreeman Lonkashah

by

Muni Gyan Sundarji Maharaj of Upkeshgachh

Author of

171 Granthas including Jain Jati Mahoday,
Samarsingh, Gayavar Vilas, Siddha
Pratima Muktawali,
Sheeghrabodh
etc.

Oswal Samwat 2393 Vikram Samwat 1993
Veer Samwat 2463

First Edition.

Price for	"Ancient History of Murti-Pooja" & "Shreeman Lonkashah"	*Rs. 5/- only*

विश्व वन्द्य

भगवान् महावीर प्रभु
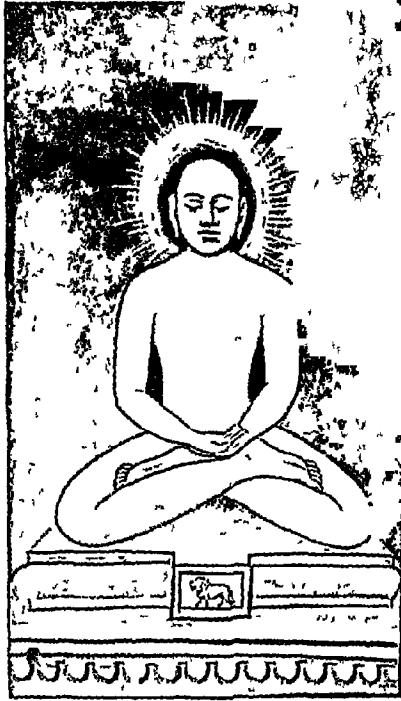
कृतापराधेऽपिजने, कृपामन्थर तारयोः ।

ईषद्बाष्पार्द्रयोर्भद्रं, श्री वीर जिन नेत्रयोः

'श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्प माला' पुष्प नं० १६७

श्रीरत्नप्रभसूरीश्वर पादकमलेभ्यो नमः

श्रीमान् लौंकाशाह
के
जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश

लेखक—

जैनजाति महोदय, धर्मवीर समरसिंह, जैनजाति निर्णय, सिद्धप्रतिमा मुक्तावलि, गयवरविलास, शीघ्रबोध और मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहासादि १७१ ग्रन्थों के सम्पादक एवं लेखक

श्री उपकेशगच्छीय

मुनि श्रीज्ञानसुन्दरजी महाराज
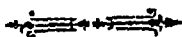
ओसवाल संवत् २३९३

वीर सं० २४६२ ई० सन् १९३६ वि० सं० १९९३

प्रथमावृत्ति १०००

दोनों पुस्तकों } " मूर्त्ति पूजा का प्राचीन इतिहास " व " श्रीमान् लौंकाशाह " का { मूल्य ५) रु०

प्रकाशक—

श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला

फलोदी (मारवाड)

मुद्रक—

शम्भूसिंह भाटी

आदर्श प्रेस, कैसरगंज

अजमेर

विचार परिवर्तन

मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास और श्रीमान् लोंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश, ये दोनों पुस्तकें एक ही जिल्द में बन्धाने का विचार था कि जिससे पढ़ने वालों को अच्छा सुविधा रहे और उस समय उन दोनों पुस्तकों का मेटर २५ से ३० फार्म होने का अनुमान लगाया गया था तदनुसार इनकी कीमत भी उसी प्रमाण से जाहिर की गई थी पर यथावश्यकता इनका कलेवर इतना बढ़ गया कि आज करीबन् ५७ फार्म और ४५ चित्र तक पहुँच गया है। इस हालत में इन दोनों पुस्तकों को अलग अलग बंधाने की योजना की गई है। यद्यपि इसमें बाइंडिंग (जल्द बन्धी) का खरचा अधिक उठाना पड़ेगा तद्यपि पुस्तक का रक्षण और पढ़ने वालों की सुविधा के लिये पूर्व विचारों में परिवर्तन करना ठीक समझा है। फिर भी पाठक इस बात को ध्यान में रखें कि दोनों पुस्तकों का मूल्य शामिल ही रखा है और मंगाने पर दोनों किताबें साथ ही में भेजी जायगी। एक एक पुस्तक मंगाने का कोई भी सज्जन कष्ट न उठावें और दोनों पुस्तकों का सम्बन्ध अन्यान्य मिलता होने से प्रत्येक पाठकों को साथ ही मंगानी और क्रमशः साथ ही पढ़ना जरूरी भी है।

❀ इति शुभम् ❀

भूमिका

"श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश" नामक पुस्तक की लम्बी चौड़ी प्रस्तावना लिखने की आवश्यकता इस कारण प्रतीत नहीं होती है कि इस पुस्तक के आदि के चार प्रकरण प्रस्तावना रूप में ही लिखे हुए हैं, तथापि यहाँ पर इतना बतला देना अत्यावश्यक है कि इस पुस्तक को इस प्रकार से लिखने की आवश्यकता क्यों हुई ? इस प्रश्न के उत्तर में हमारे खास आत्म बन्धु श्रीमान् सन्तबालजी (लघुशताऽवधानी मुनि श्री शौभाग्यचंद्रजी) का नामोल्लेख ही पर्याप्त है क्योंकि आप श्री ने ही इस संगठन युग में अकारण जैन तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों का अपमान, और परमोपकारी पूर्वाचार्यों की निन्दा करने को "धर्म प्राण लौंकाशाह" नामक लेख माला लिख "जैन प्रकाश" पत्र ता० १२-५-३५ से ता० १९-१-३६ तक के अङ्कों में प्रकाशित करवा अपने दूषित मनोविकारों को प्रदर्शित किया है। उपर्युक्त पत्र के इस विषय के तमाम अङ्क मेरे पास ज्यों के त्यों आज भी सुरक्षित हैं।

यदि कोई व्यक्ति अपने मान्य पुरुषों की प्रशंसा में उपमाओं के पहाड़ खड़े करदें अथवा अतिशय उक्ति के साहित्य समुद्र को भी सुखा दें तो हमें कुछ नहीं कहना है किन्तु वह अनधिकार चेष्टा कर अपने पूज्य पुरुषों की जीवनी लिखने की ओट में विश्वोपकारी महात्माओं का अपमान कर अपने लाखों स्वधर्मी

साहित्य प्रेमी

१६८ ग्रन्थों के लेखक व संपादक
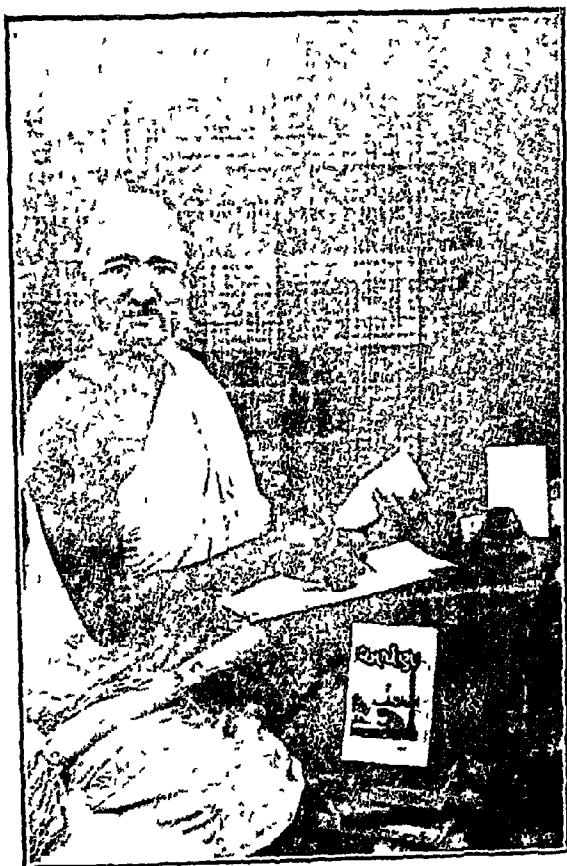
मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज

भाइयों का दिल दुखावे यह वर्दाश्त कैसे हो सकता है ? जैसे कि आप श्रीमान् एक जगह लिखते हैं कि:—

"जैन शासन मां अे विकार ठेठ जम्बूस्वामी थी मांडी ने श्रीमान् लौंकाशाह ना काल सुधी पारंपर्येण केवो, केटला प्रमाणमां, अने केवी रीते वध्योज गयो छे"

जैन प्रकाश ता० १९-६-२५ पृष्ट ३६६

जगत्प्रसिद्ध महान् प्रभाविक प्रकाण्ड विद्वान् जैनाचार्य श्री हरिभद्रसूरि के विषय में लिख दिया है कि:—

"तेमना साहित्य नो ज्योति मां क्रान्ति नी चमत्कारिता नजरे पड़े परन्तु तेम छतां कोण जाणे शा थी तेओ एक महान् शक्तिशाली होवा छतां पोता ना दीर्घ जीवन काल मां पण क्रान्ति ने व्यापक बनावी शक्या नथी ने अे घोषणा नी ज्योति मात्र तेना साहित्य क्षेत्र मांज प्रगटी अने बुझाइ गई छे। आ उणाप तेम ना जेवा समर्थ आत्मा ने माटे असह्य अने अक्षम्य जेवी छे ते आपण ने उडांण थी विचारतां स्वयं जणाइ आवे छे।"

जैन प्रकाश ता० १९-५-२६ पृष्ट ३२१

× × ×

"—तेना मानस मां अेक फणगो के जेह ने प्रस्तुत चरित्रनायक श्रीमान् लौंकाशाह ज विकसावी शक्या-विस्तारी शक्या अने भगवान् महावीर पछी धार्मिक क्रान्तिना उत्तराऽधिकारी तरी के जग मां प्रसिद्ध थवा

अव्यक्त रूपे उगी रह्या हता ते उल्लेख पण प्रस्तुत स्थले विसारवा जेवो नथी"

जैन प्रकाश ता० २६-५-३५ पृष्ट ३२८

× × ×

—समाज साथे देखीतुं वंट करवा मां तेमनी सूरि सम्राट् नी पदवी चाली जाती होय अथवा तो चैत्य-वाद ना आजु बाजु ना वातावरण मां व्यापी रहेली वहेमी रूढियों थी दबायेला जैनधर्माऽनुयायियों नी रूढि शिथि-लता दूर करवा माटे तेम नी एक नी शक्ति अपर्याप्त होय"

जैन प्रकाश ता० ९-६-३५ पृष्ट ३५१

× × ×

कलिकाल सर्वज्ञ एवं गुर्जरेश परमार्हन् कुमारपाल प्रतिबोधक आचार्य हेमचन्द्रसूरि के विषय में आप लिखते हैं कि:—

......"जन हितार्थे तेमणे जे जे कार्य किधा ते विषे अहीं कशुं कहवानुं नथी परन्तु राज्याश्रय लेइ तेमणे १४४० देवालय बंधाव्या ते खरे खर चैत्यवादनी विकृति ना वेग ने हटाड़वा ने बदले वधारवानुं कर्युं छे अने ते कार्य खटके तेहवु छे।

जैन प्रकाश ९-१-३५ पृ० ३५२

क्या आपके उपर्युक्त उद्धरण एक विशाल जनसमुदाय के दिल दुखानेवाले नहीं हैं ? शायद, आपकी मान्यता यह रही हो कि मूर्तिपूजा रूप सड़ों चरमकेवली श्रीजम्बूस्वामी के समय प्रारम्भ हुआ होगा और श्रीमान् लौंकाशाह ने इस सड़े (विकृत

भाग) की टोपलियाँ शिर पर उठा-उठाकर दूर फेंकने का प्रयत्न किया होगा। आचार्य हरिभद्र और हेमचन्द्रसूरि ये कोई साधारण व्यक्तिएँ होंगे कि उनकी क्रान्ति उनके साहित्य में ही रह गई। और लौंकाशाह एक महान् पुरुष होगा कि उनकी क्रांति ने जगत् का उद्धार कर डाला—पर यह तो विचारिये कि इस स्वप्न संसार की सत्ता कितनी है वहाँ तक ही तो न हो कि जहाँ तक आँख न खुले ? क्योंकि आँख खुलने पर तो स्वयं आप भी देख सकते हो कि आपके समुदाय में जो ३२ सूत्र माने जा रहे हैं उनमें से एकादश अङ्गों के अतिरिक्त समग्र सूत्र जम्बूस्वामी के वाद बनाये गये हैं तथा वे ३२ सूत्र जम्बूस्वामी के वाद दशवीं शताब्दी में लिखे गये हैं जो कि आपकी स्वप्न दृष्टि का मध्यम काल था। जिन सूत्रों को आप खास तीर्थङ्करों की वाणी समझते हैं अब उनके मानने के विषय में आपके लिए दो प्रश्न पैदा होते हैं—प्रथम तो यह कि यदि इन सूत्रों के रचनाकाल या लेखन समय को सुविहित समय मानते हों तो जम्बूस्वामी से सड़ा प्रवेश होने की आपकी मान्यता सिद्ध नहीं होगी वरन् आपके माने हुए बत्तीस सूत्र विश्वास करने योग्य नहीं रहेंगे। कारण जब वे सड़े के समय ही रचे गये या लिखे गये हैं तो उनमें भी सड़े के होने की कल्पना करनी पड़ेगी। जैसे कि आपने मूर्त्ति के विषय की है।

दूसरा प्रश्न यह है कि जम्बूस्वामी चरमकेवली और भद्रबाहुस्वामी तक जो चतुर्दश पूर्वधर विद्यमान थे और जिन्हें आप सर्वज्ञ समान समझते हैं उनमें से तो किसी एक ने भी यह कहीं नहीं कहा कि उस समय जैन शासन में सड़ा (विकार) प्रवेश हुआ था—फिर समझ में नहीं आता है कि केवल आपने ही यह शब्द

कहाँ से ढूँढ निकाला ? क्या आपके द्वारा किया हुआ यह केवली और चतुर्दश पूर्वधरों का अपमान नहीं है ?

खैर आगे आपने आचार्य हरिभद्र सूरि और हेमचन्द्रसूरि के बारे में जो शब्द लिखे हैं उन्हे लिखने के पहिले जरा उक्त आचार्यों और लौंकाशाह की मिथः तुलना करके तो देखनाथा कि कहाँ तो शासन के सुदृढ़ स्तंभ रूप उक्त आचार्य प्रवर और कहाँ शासन भंजक लौंकाशाह। क्योंकि उक्त आचार्यों ने तो उपदेश देकर अनेकों बड़े २ राजा महाराजाओं एवं लाखों करोड़ों नये जैन बनाकर "अहिंसा परमोधर्म" की विजय पता का भारत के चारों ओर फहराई थी। तथा जिसके लिए क्या पौर्वात्य और पश्चिमात्य पण्डित आज भी मुक्त कण्ठ से भूरि २ प्रशंसा कर रहे हैं अथवा इधर तो उन सूरीश्वरों ने ऐसे-ऐसे अत्युत्तम जनोपयोगी साहित्य का सृजन कर संसार में जैनशासन को उज्वलमुखी बनाया था और उधर लौंकाशाह ने बने बनाये घर में ही फूट डाल कर शासन को रसातल मे पहुँचाया अर्थात् जैन शासन को पतन के गहरे गढ्डे में ढकेला, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि के पूर्व दश करोड़ जैन थे उन्हे आचार्यश्री ने तो १२ करोड़ तक पहुँचाया और लौंकाशाह के समय जो सात करोड़ जैन अवशिष्ट रहे थे उनमें फूट कुसम्प और अशान्ति पैदा कर तथा हिंसा और दया के वास्तव स्वरूप को न समझने के कारण भद्रिकों के हृदय को संकीर्ण बनाकर और मलीन क्रिया की प्रवृत्ति चलाकर जैनोंका पतन प्रारंभ किया और आज उनकी संख्या नाम मात्र तेरह लाख तक पहुँचा दी है और न जाने भविष्य में इसका क्याभयंकर नतीजा

निकलेगा। इससे अब आप स्वयं समझ सकते हैं। कि लौंकाशाह की क्रान्ति (?) से जैनधर्म एवं समाज को नफा हुआ या नुकसान ?। आगे चलकर आपने अपने लेख में अनेक स्थलों पर इतिहास शब्द का भी प्रयोग किया है संभव है ऐसा इसलिए किया हो कि जनता यह जान लें कि आप (संतवालजी) इतिहास के भी मर्मज्ञ हैं परन्तु इस विषय में हम अपनी ओर से कुछ न लिखकर आपके ही एक दो वाक्यों को यहाँ उद्धृत कर पाठकों को बतला देते हैं कि श्रीमान् ने इतिहास का कहाँ तक अभ्यास किया है। आप एक जगह लिखते हैं :—

"रत्नप्रभसूरि जेवा ओ घणा क्षत्रियों ने ओसा गाम मां जैन-धर्म ना श्रावकों बनाव्याछे"

तथा इस लाईन के फुट नोट में आप पूर्वोक्त क्षत्रियों की जातियों के नाम इस प्रकार बताते हैं:—

"भट्टी, चहुँवाण, बेलोट, गोड़, गोहिल, हाड़ा, जादव, मकवाणा, परमार, राठोड़, अने थरादश रजपूतों हता"

जैन प्रकाश ता० १६-६ ३५ पृष्ठ ३३६

आपश्रीमान, रत्नप्रभसूरि का समय ई० सं० १६६ अर्थात् वि० सं० २२२ का बतलाते हैं और उस समय उपर्युक्त क्षत्रियों की जातियों का होना आप स्वीकार करते हैं। आपकी इस ऐतिहासिक विद्वत्ता को साधु(!)वाद[१] है। आपकी लिखी उक्त जातिएँ उस समय शायद भविष्यवेत्ताओं को भी अज्ञात होंगी पर आपने

१—यह समय वीरनिर्वाण सं० ७० का था।

तो झट से लिख मारा कि इन जातियों को रत्नप्रभसूरि ने जैन बना दिया। पर विचारने की बात तो यह है कि उस समय इन जातियों का अस्तित्व तो क्या पर उस वक्त के बाद अनेक शताब्दियों तक भी इनका अस्तित्व नहीं था। ऐसी हालत में रत्नप्रभसूरि के समय उक्त जातियों के अस्तित्व का लिख मारना कहाँ की विद्वत्ता समझी जा सकती है। यदि यह कह जाय कि ये बातें किसी अन्य ग्रन्थ में से देख के ही लिखी हैं तो इस लेखमाला की फिर कितनी कीमत समझी जा सकती है ?। आप की लेखमाला की प्रामाणिकता और आपके हृदय की दूषित भावना का यह एक छोटा किन्तु सारवान नमूना है। विशेष सुज्ञ पाठक स्वयं आपके प्रमाणों को देख कर निर्णय करें२। आपकी इस लेखमाला का प्रतिवाद हमने उन्हीं दिनों में लिखकर तैयार कर दिया था, परन्तु हमारे विद्वद्वर्य मुनिश्री न्यायविजयजी महाराज उस गुजराती लेखमाला का प्रत्युत्तर गुजराती भाषा में ही उसी समय जैन ज्योति अखबार द्वारा दे रहे थे। इस कारण हमने हमारे प्रतिवाद को छपाने से रोक दिया तथा एक कारण यह भी था कि इस संगठन युग में ऐसी खण्डन मण्डनात्मक विरोधवर्द्धिनी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना भी हम बुरा समझते हैं। किन्तु जब हमारे भाई मिथ्या लेख लिख अकारण भद्रिक जनता में गलत फहमी फैलाने का प्रयत्न करने लगते हैं तब इच्छा के न होते हुए भी सत्य घटना को जनता के सामने रखने के लिए लेखनी हाथ में लेनी पड़ती है।

२—आचार्य रत्नप्रभसूरि ने जिन क्षत्रियों को जैन बनाये वे प्रायः सूर्यवंशी चन्द्रवंशी आदि और इनकी शाखा प्रति शाखा के ही थे। देखो मेरी लिखी 'ओसवालोत्पत्ति विषय शंका समाधान' नामक पुस्तक।

इस समय हमें "ज्ञान ग्रन्थ मालानुं पुष्प चौथुं"—वर्तमान परिस्थिति अने अहिंसा, नामकी एक पुस्तक हमारे आत्मीय बन्धु की भेजी हुई मिली है जिसके लेखक हैं सुप्रसिद्ध कविवर्य मुनि महाराज श्री नानचंदजी। यह पुस्तक मुनिश्री सन्तबालजी और मुनिश्री न्यायविजयजी महाराज की लेख माला बन्द होने के पश्चात् प्रकाशित हुई है। इस किताब के टाईटिल के अन्तिम पेज पर लिखा है कि:—

छप रहा है

क्रान्ति नो युग स्रष्टा (क्रांतिकार नुं ज्वलन्त चित्र)।
मालूम होता है श्रीमान् संतबालजी की लिखी हुई "धर्मप्राण लौंकाशाह" नाम की लेखमाला में जो कुछ लिखना शेष रह गया था उनका अब पुस्तकाकार में पुनः मुद्रण करवाने की आवश्यकता प्रतीत हुई है अथवा स्थानकवासी साधु श्री कानजीस्वामी जो अभी कुछ दिन हुए मुँहपत्ती का डोरा तोड़ कर जैनमन्दिर मूर्ति को मानने लगे हैं उन के लिए श्रीमान् सन्तबालजी ने "धर्मप्राण लौंकाशाह" नामकी लेखमाला लिख अपने परितप्त समाज को आश्वासन दिया था किन्तु उस लेखमाला का फल उल्टा ही हुआ और तदनुरुप स्वामी कल्याणचन्दजी एवं गुलाबचन्दजी जैसे प्रतिष्ठित विद्वान् साधु हालही में मुंहपत्ती का डोरा तोड़ मन्दिर मूर्ति के उपासक बन गए हैं। अतएवं बहुत जरूरी है कि इस परिताप के लिए भी स्थानकवासी समाज को कुछ न कुछ सान्त्वना तो मिलनी ही चाहिये अतः संभव

है। "क्रान्तिनो युगस्रष्टा" इसी सान्त्वना का द्वितीय संस्करण होगा। पर दुःख है कि इस द्वितिय संस्करण के होने पर भी यदि दैववश २-४ साधु और इस स्थानकवासी समाज में से निकल गए तो न जाने आपको फिर कौनसे उपाय का अवलम्बन करना पड़ेगा ? यह अभी भविष्य के गर्भ में ही अन्तर्निहित है।

जब हमारे भाइयों को "धर्मप्राण लौंकाशाह" की लेख-माला से सन्तोष नहीं हुआ है और वे अब क्रान्ति नोयुग स्रष्टा नामक पुस्तक छपाने को उतारू हुए हैं और विनाही प्रमाण कपोल कल्पित बातें लिख श्रीमान् लौंकाशाह की हँसी एवं किल्लयें उड़ाने का मिथ्या प्रयत्न करें इस हालत में हमारा भी कर्तव्य है कि हम लौंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक साधनों द्वारा कुछ प्रकाश डाले क्योंकि आखिर लौंकाशाह भी तो हमारे आचार्यों द्वारा बनाए हुए श्रावकों की सन्तान ही हैं। व्यर्थ हीं में उन मृत आत्मा की हँसी उड़ानी किसके हृदय में नहीं खटकेगी ? अतएव इस विषयका गहरा अभ्यास कर श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन की भिन्न भिन्न विषय को लक्ष में रक्ख पचवीस प्रकरण लिख-कर वास्तव में लौंकाशाह कौन थे और आपने क्या किया था यह सब प्रमाणिक प्रमाणों द्वारा स्पष्ट बतला दिया है उम्मेद है कि इसके पढ़नेसे उभय समाज को संतोष होगा और भविष्य में इस विषय के लिये उभय समाजकी शक्ति समय और द्रव्य का व्यर्थ ही में बलीदान न होगा। इस प्रकार हार्दिक शुभभावना से प्रेरित हो मेंने यह प्रयत्न किया है, न कि किसी के दिल को दुःखाने को या किसी को इससे हलका दिखाने को और यह बात इस किताब के पढ़ने मात्र से पाठकवर्ग स्वयं समझ सकेगा।

अन्तमें मैं यह कह कर इस वक्तव्य को समाप्त कर दूंगा कि पाठक एकबार इस पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर सत्यासत्य का निर्णय कर असत्य का त्याग और सत्य को स्वीकार कर स्व पर का कल्याण करे। पुनः इस मन्तव्य को लिखने में दृष्टि दोष या प्रूफ संशोधन की असावधानी के कारण कोई त्रुटि रह गई हो तो सज्जन महानुभाव शीघ्रही सूचित करावे कि भविष्यमें अन्यावृतियों में सुधार किया जाय। सर्वत्र सुखो भवतुलोका:।

"लेखक"

चित्र-सूची

प्राक्कथन

एक सामान्य मनुष्य के चरित्र को प्रकाश में लाने के लिये करीब ३०० पृष्ठों की इतनी बड़ी भारी पुस्तक देखकर पाठकों को बड़ा भारी आश्चर्य होगा कि सचमुच ही विद्वान साहित्यप्रेमी वयोवृद्ध दीर्घअनुभवी मुनिराजश्री ज्ञानसुंदरजी महाराज ने इस पुस्तक को लिख कर कमाल किया है क्योंकि लौंकाशाह को इस रूप में सर्व साधारण तो क्या परन्तु उनके खास अनुयायी वर्ग और स्थानकमार्गी भी नहीं जानते थे। इसलिये जैन समाज को उसमें भी स्थानकमार्गी समाज को तो मुनिराजश्री का बड़ा भारी आभार मानना चाहिये। क्योंकि उनकी सम्प्रदाय के माने हुए आद्यस्थापक पुरुष के जीवन चरित्र के लिये मुनिश्री ने प्राचीन एवं सर्व मान्य प्रमाणों की बहुत अच्छी खोज की है। नकि स्थानकमार्गियो की तरह सिर्फ कल्पना ही की है इस स्थान पर यह कह देना भी अतिशय युक्ति न होगा कि लेखक श्री ने जैनधर्म के भूतकालिन इतिहास का अच्छा दिग्दर्शन कराया है।

लेखक महोदय ने इस पुस्तक का नाम 'श्रीमान लौंकाशाह' के जी० इ० रक्खा है। जिसमें उन्होंने यह बतलाया है कि लौंकाशाह एक जैन श्रावक और त्रिकाल प्रभुपूजा करने वाला था परन्तु भवितव्यता के कारण उस पर अनार्य इस्लाम धर्म की छाया पड़ी। यही कारण है कि श्रीमान् लौंकाशाह ने जैनागम,

जैनश्रमण, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देवपूजा आदि धार्मिक विधान मानने से इन्कार कर केवल अपनी असंयत अवस्था में 'पूजा करवाने की गरज से नया मत स्थापन किया परन्तु उसकी नींव इतनी कमजोर और गति-मंद थी कि आपके बाद करीब १०० वर्षों में ही आपके अनुयायी, श्रीपूज्य यतियों और श्रावकों ने लौंकाशाह के द्वारा निषेध की हुई सब क्रियाओं को अपने मत में फिर से स्थान दिया इससे आपसी मत भेद मिटकर लौंकाशाह का नाम की स्मृति के रूप में केवल लौंकागच्छ नाम ही रह गया।

पुनः अठारहवीं शताब्दी में लोकागच्छीय यति श्रीमान धर्मसिंहजी और लवजी ने इस शान्त अग्नि को प्रज्वलित करने को एक नया उत्पात खड़ा किया जो पहिले मूर्तिपूजा निषेध का सिद्धान्त तो लौंकाशाह का था ही पर स्वामी लवजी ने उसको बढ़ा कर विशेषतः मुंहपत्ती में डोराडाल मुंहपर बांधने की प्रवृत्ति चलाई। और धर्मसिंहजी ने श्रावक के सामायिक आठ कोटि से होने का मिथ्या आग्रह किया उस समय इस प्रवृत्ति का लौंकाशाह के अनुयायियों द्वारा पूरा २ विरोध हुआ फिर भी उन्होंने किसी की परवाह न करके भद्रिक अबोध जनता को अपने मत में फंसा ही लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भद्रिक अपठित जनता में एक समय वाममार्गी जैसे हिंसा और व्यभिचार प्रधान धर्म का भी प्रचार होगया तो स्वामि लवजी ने तो सिर्फ मुंहपर मुंहपत्ति बांध उपर से दया दया की ही पुकार की थी। अतएव अबोध लोगों में आपका मत चल पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। इससे साफ जाहिर होता है कि स्थानकमार्गी समाज

स्वामि लवजी की अनुयायी है न कि लौंकाशाह की। क्योंकि लौंकाशाह के अनुयायी तो मूर्त्तिपूजक और हाथ में मुंहपत्ति रखने वाले आज भी हजारों की तादाद में मौजूद हैं।

प्रस्तुत पुस्तक को सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि लेखक महोदय ने इसके लिये बहुत परिश्रम और शोध खोज की है क्योंकि कितने ही लेखकों ने श्रीमान् लौंकाशाह का चरित्र बहुत कल्पनाओं के रंग से रंग दिया है इससे उसकी असलियत का विकृत रूप बन गया है। मुख्य करके लौंकाशाह के जीवनचरित्र के लिये स्थानकमार्गी समाज के तत्वज्ञानी श्रीमान् वाडीलाल मोतीलाल शाह, श्रीमान् सौभाग्यचंदजी लघु शतावधानी (संतबालजी) स्था. पूज्य अमोलखऋषिजी और स्थान० साधु मणिलालजी ने लिखा है वह सब एक दूसरे से विरुद्ध है इस बात को लेखक महोदय ने इस पुस्तक में बतलाने का ठीक प्रयत्न किया है। जैसे कि श्रीमान् वा-मो-शाह और संतबालजी ने लौंकाशाह के लिये बतलाया है कि उनका जन्म अहमदाबाद में हुआ तथा वह बड़ा भारी साहूकार, विद्वान और मर्मज्ञ था। उसने गृहस्थावस्था में यतियों से कई सूत्र प्राप्त कर एक-एक प्रति यतियों के लिये और एक एक प्रति स्वयं अपने लिये लिखी उसने अपने मत को चारों तरफ खूब फैलाया इत्यादि। इसी तरह उनके ही पूज्य स्था० मुनि मणिलालजी उनके विरुद्ध अपनी पट्टावलि में लिखते हैं कि लौंकाशाह का जन्म अरहटवाड़ा में हुआ उनका विवाह और एक पुत्र भी वहाँ ही पैदा हुआ। बाद वहां से लौंकाशाह ने अहमदाबाद में आकर एक मुसलमान बा० की नौकरी की। कुछ समय पश्चात् वहां से नौकरी छोड़ कर पाटण

में यति सुमतिविजय के पास वि. सं. १५०९ में यति दीक्षा ली बाद अहमदाबाद चातुर्मास किया और वहाँ का श्री संघ आपका तिरस्कार कर उपाश्रय से निकाल दिया अर्थात् वे स्वयं उपाश्रय से निकल गये इत्यादि आगे स्था० पूज्य अमोलखऋषिजी ने अपना अलग ही मत बतलाया उन्होंने लिखा है कि १५२ आदमियों के साथ मुंहपर मुंहपत्ती बांधकर लोंकाशाह ने दीक्षा ली। पाठक स्वयं निश्चय करलें कि स्थानकमार्गियों के किस किस लेखकों के लेख से लोंकाशाह का चरित्र प्रमाणिक माना जाय।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक महोदय ने सभी लेखों की प्रमाण पूर्वक अच्छी आलोचना करके सत्य वस्तु को प्रदर्शित की है यह बात पाठकों को इस पुस्तक के पढ़ने से अच्छी तरह विदित हो जायगी। साथ ही यह भी मालूम हो जायगा कि वास्तव में इन लोगों के पास लोंकाशाह का प्रमाणिक चरित्र है ही नहीं जो कुछ लिखा है वे सब अपनी कल्पनाओं के आधार पर लिखा है।

इस पुस्तक के साथ ही एक "ऐतिहासिक नोंध की ऐतिहासिकता" नामक पुस्तक भी दृष्टि गोचर हो रही है उसे पढ़ने से ज्ञात होता कि मुनिश्री ने स्थानकमार्गी मत के ऊपर काफी प्रकाश डाला है। इससे यह भी सिद्ध हो जायगा कि वा० मो० शाहने दुनिया की आंखों पर असत्य का पर्दा डालना चाहा था परन्तु लेखक महोदय ने संसार के सामने उसकी प्रमाण पूर्वक आलोचना करते हुए सत्य वस्तु रख दी है। इससे भोली जनता जिनको कि इतिहास का विशेष बोध नहीं है वे भी सरलता से तमाम बातों को अच्छी तरह समझ जायेंगे।

आगे चल कर मुनिश्री ने एक पुस्तक "कडुआशाह की पट्टावली का सार" नामक लिखकर प्रस्तुत पुस्तक के साथ लगादी है जो कि लौंकाशाह के साथ सम्बन्ध रखने वाली है। उस में बतलाया है कि लौंकाशाह के समय में ही एक कडुआशाह ने भी अपने नाम पर नया मत निकाला था किंतु लौंकाशाह की तरह उसने सब क्रियाओं का निषेध नहीं किया था वह मूर्तिपूजा, सामायिक, प्रतिक्रमण पोषध आदि सबको मानता था सिर्फ साधुओं से द्वेष के कारण उसने साधु संस्था का अस्वीकार किया था। वह लौंकाशाह को तो जैनशासन का द्वेषी व जैनधर्म का भंजक ही समझता था। उसने अपने मत के बहुत से नियम बनाये जिसमें एक नियम यह भी था कि लौंकामत के अनुयायीयों के घर का अन्नजल नहीं लेना। यह बात उस समय के ग्रन्थ बतला रहे हैं। कि उस समय लौंकाशाह को लोग बड़ी घृणा की दृष्टि से देखते थे। इससे साफ सिद्ध होता है कि कडुवाशाह की पट्टावली का सार भी लौंकाशाह के जीवन पर ठीक-ठीक प्रकाश डाल रहा है।

इस प्रकार लौंकाशाह के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रस्तुत तीनों किताबों में लेखक मुनिश्री ने ऐतिहासिक प्रमाण अच्छे रूप में दिये हैं जिस मे पढ़ने वालों की रुचि अधिक बढ़ती रहेगी। इतना ही क्यों पर लेखक महोदय ने तो श्रीमान् लौंकाशाह के साथ २ तीन परिशिष्ट को भी मुद्रित करवा दिये हैं। प्रथम परिशिष्ट में मुनि वी का (वि० सं० १५२७) पं० लवण्य समय (वि. सं. १५१५ से १५४३)। उपा० कमलसंयम (वि. सं. १५४४) इन तीनों के ग्रन्थ जो लौंका-

शाह के सम सामायिक थे उनके और दूसरे परिशिष्ट में लौंका गच्छीय यति भानुचन्द्र (वि सं. १५७८) और लौंका गच्छीय यति केशवजी (वि सं १६०० के आसपास) इन दोनों के ग्रन्थ मुद्रित हैं। तथा तीसरे परिशिष्ट में लौंकामत के सैकड़ों विद्वान साधु तथा स्थानकमार्गी अनेक साधुओं ने अपना मत को कल्पित व प्रमाणशून्य समझ कर उसको छोड़ २ कर मूर्तिपूजक साधु बने हैं उनके चित्र मय प्रमाण के दिये हैं।

अब अंत में यही लिख कर इस पक्कथन को समाप्त कर देता हूँ कि वांचक महाशय इस पुस्तक को पढ़ कर खूब लाभ उठावें तथा सत्यपथ की ओर अग्रसर हों। यही शुभेच्छा पूर्वक इसको पूरा करता हूँ।

वि० सं० १९९२
कार्तिक शुक्ल ११
अजमेर

दर्शनविजय

इस ग्रन्थ के पहिले से ग्राहक बनें उन सज्जनों की

शुभ नामावली

१२५	श्रीमान्	नवलमलजी गणेशमलजी मूथा	जोधपुर।
२५	,,	चन्दनमलजी जोगावरमलजी वैद	फलोदी।
३५	,,	गजराजजी सिंघवी,	सोजत (मारवाड़)।
९	,,	श्रीकुशलचंद्रजी जैन लायब्रेरी, बीकानेर	(राजपूताना)
१	,,	रतिलालजी भीखा भाई	बम्बई।
१	,,	कालूरामजी कांकरिया	बड़ल्ल।
१	,,	दुर्लभजी त्रिभुवन,	मोरवी (का०)।
१	,,	जसवंतमलजी भंडारी,	ब्यावर (रा०)।
१	,,	भूरामलजी गादिया	ब्यावर (रा०)।
१	,,	हंसराजजी पेथाजी चुन्नीलालजी कुंगा	बंबई।
१	,,	मोहनलालजी वैद	फलोदी (मारवाड़)।
१	,,	नेमीचंदजी वैद	,, ,,
१	,,	छगनलालजी वैद	,, ,,
१	,,	माणकलालजी वैद	,, ,,
१	,,	लूणकरणजी वैद	,, ,,
१	,,	आशकरणजी वैद	,, ,,
२	,,	रूपचंदजी ताराचंदजी	अमरावती
१	,,	दीपाजी सदाजी	,,
१	,,	रुगनाथचंदजी कोचर	,,

१	श्रीमान्	जसवंतमलजी कोठारी	पाली
१	,,	बखतावरमलजी सेठिया	,,
१	,,	मानचन्दजी भंडारी	जैतारण
१	,,	सायबचन्दजी खीवराजजी खीवसरा	पाली
१	,,	धनराजजी चाँदमलजी खीवसरा	अजमेर
१	,,	मिश्रीलालजी मूलचंदजी सियाल	पाली
१	,,	भीखमचन्दजी नागोरी	पाली
१	,,	लखमीचन्दजी नागोर	,,
१	,,	जुगराजजी सुराण	पिपलिया
१	,,	अचलदासजी कालूरामजी पटवारी	बालोतरा
१	,,	पुनमचंदजी कस्तूरचदजी मूथा	बालोतरा
१	,,	केशरीमलजी पोकरणा	पीसांगन (अजमेर)
१	,,	जैनश्वेताम्बर लायब्रेरी	पीसांगन (अजमेर)
२	,,	जीतमलजी लोढ़ा की धर्मपत्नी श्रीमती प्रभावती बाई	[अजमेर]
२	,,	सेठ हिम्मतमलजी	सिरोही
१	,,	कुन्दनमलजी अनराजजी कोठारी	ब्यावर
१	,,	जतनमलजी सुजाणमलजी भंडारी,	
४	,,	हीराचन्दजी सचेती १ श्रीमोतीलालजी भंडारी	अज०
१	,,	देवकरणजी महता १ ,, शिवचन्दजी घाड़ीवाल	,,
१	,,	सोभागमलजी महता १ ,, पन्नालालजी मेहता	,,
२	,,	महेशराजजी भंडारी १ ,, हीरालालजी बोहरा	,,
१	,,	वर्द्धमानजी बांठिया १ ,, अगरचन्दजी पारख	किशन०
१	,,	गोडीदासजी ढड्ढा १ ,, सिरेमलजी सोनी	,,

विषयाऽनुक्रमणिका

शुद्धि पत्रक

पृ०	ला०	अशुद्धि	शुद्ध
४४	७	१९३६	१६३६
४५	६	स्थानक	स्थानक०
४५	११	लोका	लौंक
५९	१२	प्रपज	प्रपञ्च
६४	१४	कर दिया	०
६७	२३	यज्ञ	अज्ञ
७२	१४	पह	यह
७२	२१	शातार्थी	०
७८	१०	दुष्कला	दुष्काला
८२	२१	हरि	हीर
८३	१२	वोरे	घोर
८५	१६	पना	वस्था
८६	४	मारते	मरते
९१	२४	पौषद	पौसह
९२	९	लिखेतह	लिखते हैं
९२	१२	लंको	लुंको
९२	१७	सांमु	सा
९३	१२	वांड	वाडा
९४	१०	निकालवा	निकाला

पृ०	ला०	अशुद्धि	शुद्ध
१०७	६	भाण	भाणा
१०८	५	पौसद्	पौसह
११३	१२	मूति	मूर्ति
११६	२१	जिगकी	जिनकी
१२१	१०	भो	यो
१२४	१७	किसी	किसी सूत्र
१२५	५	यला	यत्न
१४२	११	ऋाणा	भाणा
१५८	९	नौंवी लाइन को दशवी पढ़ो	
१७०	१४	मे	मैं
१४७	१०	दाषा	दोषों
१७८	१–४	ला + स	ल + सं
१७९	२५	हनन	संहनन
१८६	४	सात	साता
१८९	२१	भट्टे	भट्टे
१९१	८	किर	फिर
१९१	२१	श्रा	हुश्रा
२०२	७	खत	खाता
२१२	१९	विरूद्ध	विरोध
२२७	११	डपाइ	छपाइ
	×	×	×
२४१	७	विष	विपा
२४२	११	सत्य	सत्या

पृ०	ला०	अशुद्धि	शुद्ध
२६१	२४	उद्धत	उध्धृति
२६२	९	पति	प्रति
२६४	६	दिय	दिया
२७९	१९	श्राविक	श्रावक
२८३	६	उद्धर	उध्धृत
२८३	१०	पड़वा	पाड़वा
३०१	१२	कराके	कारके
३१५	१	नान	संतान
३१५	१२	स्वच्छ	स्वेच्छा

श्रीमान् लौंकाशाह के

जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश

श्रीमान् संतबालजी का प्रश्न ।

जैन प्रकाश अखबार ता० १०-११-३५ पृष्ट ३० पर आप प्रश्न करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

फिर ता० १७-११-३५ पृष्ट ४२ पर आप लिखते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

पुनः ता० २४-११-३५ पृष्ट ५४ पर सवाल करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

और ता० ८-१२-३५ पृष्ट ७८ आप बयान करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

फिर ता० १५-१२-३५ पृष्ट ९० पर आप प्रश्न करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

फिर, ता० २२-१२-३५ पृष्ट १०१ पर पुछते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

फिर ता० ६-१-३६ पृष्ट १२४ पर प्रश्न करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

फिर ता० १३-१-३६ पृष्ट १३८ पर प्रश्न करते हैं कि—

"धर्मप्राण लौंकाशाहे शु कार्युं ?"

एक व्यक्ति प्रश्न करे, उसका उत्तर कोई दूसरा व्यक्ति ही दे सकता है न कि स्वयं प्रश्न करना और स्वयं ही उत्तर लिखना। अतएव दूसरा किसी को उत्तर देता न देख मैंने आप श्रीमान् के उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में यह किताब लिखी है शुभम् ।

प्रकरण पहिला

श्रीमान् लौंकाशाह कौन थे ?

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी संसार भर के लिये और विशेष कर जैन समाज के लिये एक भीषण उत्पात का समय था। इस शताब्दी में जितने उत्पात मचाने वाले व्यक्ति हुए, वे सब के सब असंयमि गृहस्थ एवं अल्पज्ञ ही थे। उन्होंने बिना कारण एवं बिना प्रमाण धर्म के अन्दर भेदभाव एवं संसार भर में फूट कुसम्पादि डाल कर क्लेश के ऐसे बीज बो दिये कि जिनके महान् भयंकर कटुक फल आज पर्यन्त हम लोग चख रहे हैं। उस समय का छिन्न भिन्न हुआ संघ हजारों प्रयत्न करने पर भी आज तक भी संगठित नहीं हो सका। यदि यह कह दिया जाय कि संसार के पतन का मुख्य कारण वे क्लेशोत्पादक व्यक्ति ही हैं तो भी अतिशयोक्ति नहीं है।

उन विघ्नोत्पादकों में लौंकाशाह नामक व्यक्ति भी एक है। उन्होंने वि० सं० १५०८ में जैन श्वेताम्बर समुदाय के अन्दर धर्म भेद डाल कर अपने नाम पर एक नया मत निकाला परन्तु उस मत की नींव शुरू से ही कमजोर थी और गति भी बहुत मंद थी क्योंकि लौंकाशाह के बाद कुछ समय व्यतीत होने पर जिस क्रिया का 'लौंकाशाह ने विरोध किया था उसी क्रिया को आप के अनुयायियों ने स्वीकार कर लिया फिर तो लौंकाशाह की स्मृति मात्र केवल 'लौंकामत' नाम ही रह गया।

लौंकाशाह न तो स्वयं विद्वान् था और न आपके समकालिन कोई आपके मत में ही विद्वान् हुआ । यही कारण है कि लौंकाशाह के समकालिन किसी लौंकाशाह के अनुयायी ने लौंकाशाह का जीवन नहीं लिखा इतना ही नहीं पर लौंकाशाह के अनुयायियों को यह भी पता नहीं था कि लौंकाशाह का जन्म किस ग्राम किस कुल में हुआ था, किस कारण से उन्होंने संघ में छेद भेद डाल नया मत खड़ा किया तथा लौंकाशाह के नूतन मत का क्या सिद्धान्त था इत्यादि ।

यदि लौंकाशाह के अनुयायी लौंकाशाह के विषय में आज भी कुछ जानते हैं तो परम्परा से चली आई किंवदन्ति के आधार पर इतना जानते हैं कि:—

"लौंकाशाह एक साधारण स्थिति का जैन गृहस्थी था और वह पहले नाणवटी (कोडी टकों की कोथली) का धंधा करता था। बाद जैन यतियों के उपाश्रय सूत्रों का उतारा (नकल) कर अपनी आजीविका चलाता था, शास्त्रों को लिखने से तथा यतियों के विशेष परिचय से लौंकाशाह को यही मालुम* हुआ

---

* जैन शास्त्र मूल अर्धमागधी, और टीका संस्कृत में है। इस भाषा से तो लौंकाशाह अज्ञात ही था और इस प्रकार का ज्ञान केवल लिखने मात्र से हो नहीं सकता है क्योंकि जिन लेखकों ने जैन शास्त्र लिखने में ही अपना जीवन पूरा किया है। उनसे पूछने पर इसका पता चल सकता है कि शास्त्राऽन्त निहित उपदेश और जैन सिद्धान्त का उन्हें कुछ भी बोध नहीं है। लेखकों का काम तो कापी टू कापी करना है, उनका मनन करना नहीं अतः सिवाय वे लिपि ज्ञान के क्या (अधिक) ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? यही हाल लौंकाशाह का था।

कि वर्तमान यतियों का आचार व्यवहार शास्त्रानुसार नहीं है अर्थात् यति लोग शिथलाचारी हैं बस इसी कारण से लौंकाशाह ने अपने नाम पर अलग मत निकाला और हम लोग उसी मत की परम्परा में लौंकाशाह के अनुयायी हैं।"

इस समय स्थानकमार्गी नामक समाज है वह भी अपने को लौंकाशाह का अनुयायी होना बतलाता है पर वास्तव में वह लौंकाशाह के अनुयायी नहीं किन्तु लौंकाशाह की आज्ञा का भंग करने वाला यति लवजी का अनुयायी है। लौंकाशाह के अनुयायी और लवजी के अनुयायियों में बड़ी शत्रुता थी और वे आपस में एक दूसरों को उत्सूत्र प्ररूपक, निन्हव और मिथ्यात्वी बतला रहे थे, इस हालत में स्थानकमार्गी समाज लौंकाशाह के अनुयायी कैसे हो सकते हैं ?

क्या लौंकाशाह के अनुयायी, और क्या लवजी के अनुयायी (स्थानकमार्गी) इन दोनों में ज्ञान का बोध बहुत कम था इसी कारण न तो इनमें कोई विद्वान् हुआ और न हुआ कोई अच्छा लेखक। साहित्य की सेवा और ग्रंथों का निर्माण तो दूर किनारे रहा पर जिस लौंकाशाह को अपने मत का आदि पुरुष माना जा रहा है उसका जीवन चरित्र के लिये भी किसी ने आज पर्यंत लेखनी हाथ में नहीं ली अतएव परम्परा से चली आई बात पर विश्वास कर लौंकाशाह को एक साधारण गृहस्थ एवं लहिया मान रक्खा है।

वर्त्तमान युग, ज्ञान-युग है। इसका थोड़ा बहुत प्रभाव सब संसार पर हो चुका है। इस हालत में केवल स्थानकवासी समाज ही ज्ञान से वञ्चित क्यों रहे ? उस पर भी यत् किंचित्

ज्ञान का प्रभाव पड़ा, और कई विद्वान् एवं लेखक भी पैदा हुए। उन्होंने साधारण व्यक्तियों का जीवन पढ़ा, तो उनके मन में यह भावना पैदा होना स्वाभाविक है कि हमारे धर्म स्थापक गुरु श्रीमान् लौंकाशाह का जीवन आज पर्यन्त भी अन्धेरे में क्यों? हमें भी इनका सुन्दर जीवन चरित्र बनाना चाहिए यह विचार कर लौंकाशाह का जीवन चरित्र लिखने तो बैठे। परन्तु कोई भी कार्य प्रारंभ करने के पहिले उसे सर्वांग सुन्दर बनाने के लिये तद्विषयक सामग्री की जरूरत रहती है, उनके (स्थानक मार्गी समाज के) पास इसका सर्वथा अभाव था। क्योंकि लौंकाशाह के जीवन चरित्र के विषय में जो कुछ आधार प्रमाण मिलते हैं वे लौंकाशाह के समकालीन उनके प्रतिपक्षियों के लिखे हुए ही मिलते हैं और ये प्रमाण चाहें सर्वांश सत्य भी क्यों न हों परन्तु स्थानकमार्गी समाज का उन पर इतना विश्वास नहीं कि वे इन प्रमाणों को सर्वांश सत्य समझें। हाँ! लौंकाशाह के सम सामयिक पं० लावण्य समय. उ० कमल संयम और बाद लौंकाशाह के करीब ३०-४० वर्षों में यति भानुचन्द्र ने कई चौपाइया लिख लौंकाशाह का अस्तित्व स्थायी अवश्य रक्खा है।

लौंकाशाह के पश्चात् प्रायः १०० वर्षों में लौंका मत के अनुयायी बहुत से श्रीपूज्य या यति ❀ लौंकाशाह के मत का

❀ वाडीलाल मोतीलाल शाह की ऐ० नो० के पृष्ट ५९ के लेखाऽनुसार लौंकागच्छ के पूज्य मेघजीस्वामी ने ५०० साधुओं के साथ आचार्य विजय हीर सूरिजी के पास जैन दीक्षा स्वीकार की थी। और उपाध्याय धर्मसागरजी के मताऽनुसार पूज्य मेघजी के अलावा पूज्य

परित्याग कर मूर्त्तिपूजक समाज में दीक्षित हुए, और मूर्त्तिपूजा के उपदेशक बने, और अवशिष्ट साधुओं ने भी मूर्त्तिपूजा को शास्त्र सम्मत मान के अपने २ उपाश्रयों में मूर्त्तियों की स्थापना की और द्रव्य भाव से उनकी पूजा अर्चा प्रारंभ की, वह प्रवृत्ति आज कल भी लौंकागच्छ में ज्यों की त्यों विद्यमान है। भेद है तो इतना ही कि खास मूर्त्तिपूजक समुदाय के आचार्य आदि जब नगर प्रवेश करते हैं, तब पहिले मन्दिर जाकर बाद में उपाश्रय जाते हैं। और लुङ्कागच्छ के श्रीपूज्य आदि आते हैं तो वे पहिले उपाश्रय जाकर फिर मन्दिर का दर्शन करते हैं। इस प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। लौंकागच्छ के श्रीपूज्य, यति और हजारों घर इस समय विद्यमान हैं पर वे सब मूर्त्तिपूजक हैं और मूर्त्ति पूजकों में ही उनकी गिनती की जाती है।

स्थानक मार्गियो की उत्पत्ति विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लुङ्का गच्छ के यति वजरंग जी के शिष्य यति लवजी और यति शिवजी के शिष्य धर्मसिंहजी से हुई है। और लवजी के लिए लौंकागच्छ की पटावलियो में बहुत कुछ लिखा है कि "लवजी उत्सूत्र प्ररूपक गुरु निंदक, मुँह पर मुँहपत्ती बाँध तीर्थङ्करों की आज्ञा भङ्ग कर कुलिंग धारण किए हुए हैं।" तथा धर्मसिंहजी के लिए तो यहां तक लिखा है कि:—

श्रीपाल जी आदि बहुत साधुओं ने आचार्य हेम विमल सूरि के पास भी जैन दीक्षा स्वीकार की। और पूज्य आनन्दजी स्वामि कई साधुओं के साथ आचार्य आनंद विमल सूरि के पास पुनः दीक्षा ग्रहण की थी।

"संवत् सोल पचासिए, अमदावाद मझार ।
शिवजी गरू को छोड़ के, धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार ॥
ऐ० नोंध, पृष्ट ११७

इस प्रकार लवजी और धर्मसिंहजी ने लौंकांगच्छ से अलग अपना एक मत निकाला । उसको ही लोग पहिले ढूंढिया और बाद में साधुमार्गी तथा आज स्थानकमार्गी मत कहते हैं । अतः निश्चित होगया कि लौंकागच्छ और स्थानकमार्गीयों की मान्यता एवं आचार व्यवहार में जमीन आकाश का अन्तर है, इसे हम आगे चल कर और भी विस्तार से बतावेंगे ।

जिस लौंकागच्छ की आज्ञा का भंगकर उनके अवगुण-वाद बोलने वाले यति लवजी और धर्मसिंहजी ने अपना मत पृथक् निकाला, उनके ही अनुयायी आज अपने मत का संस्थापक लौंकाशाह को याद करते हैं । कारण यह है कि पहिले तो लौंका-गच्छ के श्रीपूज्यों और यतियों के साथ स्थानकमार्गियों की घोर द्वन्द्वता चल रही थी, इस हालत से स्थानकमार्गी लौंकाशाह को खोज क्यों करते, और क्यों उनके लिए कुछ लिखते भी, पर जब वि० सं० १८६५ में अहमदावाद में संवेगपक्षीय महापण्डित मुनि श्री वीरविजयजी और स्था० साधु जेठमलजी के आपस में शास्त्रार्थ हुआ तो उस हालत में जेठमलजी को लौंकाशाह की शरण लेनी पड़ी, और उन्होंने अपने समकित सार नाम के ग्रंथ के पृष्ठ ७ में लौंकाशाह के विषय में कुछ लिखा भी है । बस स्थानकमार्गियों के पास लौंकाशाह के विषय में जो प्राचीन से प्राचीन प्रमाण कहा जाय तो यह जेठमलजी का लिखा हुआ समकित सार का ही प्रमाण है । पर आज के स्थान० समाज के नये

विद्वानों को इससे थोड़ा भी संतोष नहीं हुआ, कारण उन्होंने उस समय अपने सरल किंतु सच्चे हृदय से यह लिख दिया कि लौंकाशाह एक साधारण गृहस्थ और लिखाई का धंधा करता था, परन्तु आज के स्थानकमार्गी विद्वानों को तो अपने धर्म का आद्य संस्थापक धर्मगुरू, "धुरन्धर विद्वान्, अतिशय धनाढ्य, साहुकार, राजकर्मचारी, शास्त्र मर्मज्ञ, संयमी, मुनि, एवं आचार्य तथा मुँह पर मुँहपत्ती बाधने वाला और मूर्त्ति का कट्टर विरोधी" चाहिए। ऐसे सीधे सादे दीन गुरु से आज के आडम्बर प्रिय शिष्यों को संतोष कहां ? अतः आज कल स्थानकमार्गी समाज में जो नये ढँग के विद्वान् पैदा हुए हैं वे अपनी वाक् पटुता, मनोहर लेखनशैली और अलौकिक अलङ्कृत शब्दावली से अच्छे से अच्छा उपन्यास तैयार कर सक्ते हैं। इस हालत में लौंकाशाह का जीवन एक उपन्यास के ढंग पर तैयार कर अपनी कृतज्ञता का परिचय दें इसमें आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है ? परन्तु दुःख है कि वे सर्वतो भावेन ऐसा कर नहीं सकते। कारण आपके पूर्वज लौंकाशाह का ऐसा साधारण जो लेख लिख गए हैं वही इनके कार्य में बाधा डालता है। फिर भी नई रोशनी के कर्मशील लेखक एकान्त हतोत्साह नहीं हुए हैं, वे किसी न किसी रूप में लौंकाशाह का महत्व भरा जीवन प्रकाशित कर ही देते हैं, जनता उसे सच्चा समझें या झूठा। इसकी इन्हें परवाह नहीं। पर यह कार्य नैतिकता से जरूर विरुद्ध है। यदि स्थानक मार्गी समाज को लौंकाशाह का सादा किंतु सच्चा जीवन पसन्द नहीं है तो उसको चाहिये कि अपने सर्वमान्य लेखकों का सम्मेलन करें और वहां सर्व सम्मति से एक ही लक्ष्य बिन्दु को दृष्टि

में रख कर वाद विवाद के पश्चात् सच्चे जीवन चरित्र को लिखे तो वह विद्वत्समाज में हँसी करानेवाला न होकर सर्व मान्य और विश्वसनीय समझा जा सकता है। आशा है लौंकाशाह के सच्चे जीवन के इच्छुक, स्थानक मार्गी समाज के विद्वान् लेखक व्यर्थ ही में आकाश पाताल एक न कर इस सार भरी सलाह पर ध्यान देंगे। जिस तरह स्थानकमार्गी समाज के विद्वान् आज तक भी लोकांशाह के प्रमाणिक जीवन को प्रकाशित नहीं करा सके हैं उसी तरह तपागच्छ वाले भी इस महत्व के विषय में मौनाऽवलम्बन धारण किये हुए हैं, अगले प्रकरण में हम उसी का विस्तृत विवेचन करते हैं।

प्रकरण-दूसरा

क्या तपागच्छीय यतिजी ने लौंकाशाह का जीवन लिखा है ?

स्थानकमार्गी साधु मणिलालजी ने हाल ही में "जैन धर्म नो संक्षिप्त प्राचीन इतिहास अने प्रभुवीर पटावली" नाम की एक पुस्तक मुद्रित कराई है। आप जब प्रस्तुत पुस्तक लिख रहे थे तब आपको डाक द्वारा किसी से प्रेषित "दो पन्ने" मिले, जैसे वाड़ीलाल मोतीलाल शाह को भी ऐतिहासिक नोंध लिखते समय डाक मिली थी। शायद उसका ही अनुकरण स्वामि मणिलालजी ने किया हो ?

उन दो पन्नों में श्रीमान् लौंकाशाह का जीवन वृत्तान्त था, वह भी वि० सं० १६३६ में तपागच्छीय यति श्रीनायक विजय के शिष्य श्रीकान्तिविजय ने पाटण में लिखा था। उन पन्नों को स्वामीजी ने अपनी पुस्तक के पृष्ठ १६१ में मुद्रित भी करवा दिया है। स्थानकमार्गियों के मताऽनुसार वे पन्ने ३५७ वर्ष के पुराने भी जरूर हैं। ये दोनों पन्ने तपागच्छ के यति कान्तिविजय ने लिखे हैं या किसी दूसरे ने ? इस पर तो हम आगे चल कर विचार करेंगे, परन्तु पहिले यह देखना है कि इन पन्नों में लिखा क्या है ?

"अरहट वाड़ा, में हेमाभाई की भार्या गंगा की कुक्षि से वि० सं० १४८२ को एक पुत्र का जन्म हुआ, उसका नाम

लोकचंद्र रक्खा। वि० सं० १४९७ में लोकचंद्र का विवाह हुआ, जिसकी बरात अरहट वाड़ा से सिरोही गई। उसी लोकचन्द्र को लोग लौंकाशाह कहने लगे। वि० सं० १५०० में लौंकाशाह के एक पुत्र हुआ। बाद हेमाभाई ने अपनी दुकान का काम लौंकाशाह को सौंपा, और लौंकाशाह व्यापार कर अपने कुटुम्ब का निर्वाह करने लगा। बाद मे लौंकाशाह अहमदाबाद को चला गया (शायद वहां अपना गुजारा नहीं होता था)। अहमदाबाद में नाणावटी का व्यापार कई दिन तक किया। अनन्तर बादशाह मुहम्मद की भेंट हुई और बादशाह ने लौंकाशाह को पाटण के खजाने का तिजोरीदार बनाया, फिर वहां से अहमदाबाद के खजाने का काम किया। जब बादशाह के पुत्र ने बादशाह को जहर देकर मार डाला तो लौंकाशाह को वैराग्य आया, और उसने पाटण जाकर वि० सं० १५०९ श्रावण सुदि ११ (चौमासा में) को यति सुमतिविजय के पास अकेले यति दीक्षा लेली और ज्ञानाऽभ्यास कर वि० सं० १५२१ में अहमदाबाद में चतुर्मास किया।"

लौंकाशाह के इस जीवन से आज के नयी रोशनी के स्थानकमार्गियों को जो अभिलाषा थी वह सब पूर्ण होगई। क्योंकि लौंकाशाह साधारण लहिया नहीं पर बादशाह का माननीय तिजोरीदार था, लौंकाशाह ने गृहस्थाऽवस्था में नहीं पर यति होकर अपना नया मत चलाया। यदि लौंकाशाह का यही जीवनवृत्त किसी लौंकाशाह के अनुयायी के नाम से तैयार किया जाता तो शायद इतना विश्वास पात्र नहीं समझा जाता। पर इसका लेखक तो खास तपागच्छीय यति कान्तिविजय बताये जाते

हैं। इस कारण केवल लौंकों, तथा स्थानक मार्गियों को ही नहीं किन्तु तपागच्छ तथा सब संसार को भी यह मान्य होना चाहिये। पर दुःख इस बात का है कि अभी तक तो तपागच्छ वालों ने उन दो पन्नों को देखातक भी नहीं है। और न किसी ने यह भी कहा है कि वास्तव में ये दो पन्ने तपागच्छीय यति के हैं या इनके नाम पर किसी ने कल्पित ढाँचा खड़ा किया है। इन पन्नों का वस्तुतः निर्णय न होने के पहिले ही स्थानकमार्गी साधु संतबालजी (लघुशताऽवधानी मुनि श्री शौभाग्यचंदजी) बीच में ही कूद पड़े हैं। अर्थात् इन्होंने बीच में ही इन दो पन्नों को मिथ्या सिद्ध करने को कमर कसी है। उन पन्नों के विरोध में आप लिखते हैं कि लौंकाशाह का जन्म अहमदाबाद में हुआ। (पन्नों में अरहट वाड़ा लिखा है) लौंकाशाह के लग्न की बरात अहमदाबाद से सिरोही गई (पन्नों में अरहटवाड़ा से सिरोही जाना लिखा है) लौंकाशाह ने यति दीक्षा नहीं ली किंतु उन्होंने गृहस्थाऽवस्था में ही शरीर छोड़ा।

संतबालजी ने केवल अपनी ओर से नहीं किन्तु श्रीमान् वाड़ी० मोती० शाह की "ऐतिहासिक नोंध" के आधार पर ही यह लिखा है। यही क्यो पर वि० सं० १८६५ में स्वामी जेठमलजी भी लौंकाशाह को यति नहीं पर गृहस्थ ही लिख गए हैं, यह तो हुई स्थानकमार्गियों की आपस की विरुद्धता, अब उन दोनों पन्नों को इतिहास की कसोटी पर भी कस के देखें कि सत्य किस तह पर विद्यमान् हैं।

दोनों पन्नों में वि० सं० १४९७ में लौंकाशाह का सिरोही

में लग्न होना बतलाया है और इतिहास वि० सं० १४९७ में *
बादशाह मुहम्मद का देहान्त बताता है इस समय लौंकाशाह
अरहटवाड़ा जैसे गाँव में मात्र १५ वर्ष की उम्र का एक नादान
लड़का था। बादशाह किस चिड़िया का नाम है यह भी उसे
ज्ञात नहीं था। वि० सं० १५०० में लौंकाशाह के एक पुत्र
हुआ और उसने कुछ असीवक दुकानदारी भी की फिर अहमदा-
बाद गया वहाँ नाणावटी का धंधा किया और अनन्तर बादशाह
की भेंट हुई। पर जब लौंकाशाह के व्याह के वक्त ही बादशाह
मुहम्मद मर गया तो फिर लौंकाशाह को बादशाह की भेंट होना
और अपना तिजोरीदार बनाना कैसे सिद्ध होता है ? सुज्ञ पाठक
स्वयं विचार करें।

हाँ ! बादशाह मरने के बाद पीर हुआ हो और पीर होकर
लौंकाशाह को पाटण और अहमदाबाद का तिजोरीदार बनाया
हो तो स्वामिजी का काम निकल सकता है, क्योंकि लौंकाशाह
के जीवन से यह भी पाया जाता है कि लौंकाशाह को पीर का
इष्ट था, और उस अनार्य संस्कृति के प्रभाव से ही उसने आर्य
होकर भी जैन धर्म में ऐसा अनार्योचित उत्पात मचाया था।

यदि इन दो पन्नों में वि० सं० १५०० में अरहटवाड़ा में
लौंकाशाह के पुत्र होने का नहीं लिखते तो कम से कम लौंकाशाह

---

* १ रा० ब० पं० गौरीशंकरजी ओझा अपने राजपूताने के इतिहास पृष्ठ० ५३६ पर लिखते हैं कि अहमदाबाद के बादशाह मुहम्मद का देहान्त वि० सं० १४९७ में हुआ था।

२ साक्षर डाह्या भाई प्रभुराम ने गुजरात के इतिहास में लिखा है कि अहमदाबाद का बादशाह मुहम्मद वि० सं० १४९७ में स्वर्गस्थ हुआ।

और बादशाह के मिलाप की बात तो सत्य हो जाती अन्यथा यह भी काल्पनिक प्रतीत होती है ।

इस मिलाप के लिए स्वामी मणिलालजी ने अपनी "प्रभुवीर पटावली" पृष्ट १६४ पर फुटनोट में लिखा है कि अगर लौंकाशाह का जन्म वि० सं० १४८२ के स्थान मे १४७२ का समझा जाय तो लौंकाशाह को खजाँचीपना नहीं ता बादशाह के साथ मिलाप का उल्लेख तो संभव हो सकता है ।

स्वामीजी को क्या वह मालूम नहीं है कि दुकानदार अपने चोपड़े से एक पन्ना निकाल देता है तो सब चोपड़े झूंठे ठहरते हैं । मान लो कि आप लौंकाशाह का जन्म समय १४८२ के बदले वि० सं० १४७२ का समझ लो तो भी फिर लग्न समय बदले बिना लौंकाशाह और बादशाह का मिलाप संभव हो नहीं सकता । यदि लग्न समय भी सं० १४९७ के बदले वि० सं० १४८७ का मान लेंगे तो भी आपकी इष्टसिद्ध नहीं होगा । क्योंकि लौंकाशाह के अरहटवाड़ा में वि० सं० १५०० में एक पुत्र होने के बाद अहमदाबाद जाने की बात आपके मार्ग में रोड़े डालेगी । यदि लौंकाशाह के पुत्र का समय सं० १५०० के बदले १४९० का मान लोगे तो हमारे नये विद्वान् स्वामी संतबालजी क्या कभी चौंक नहीं उठेंगे ? । कारण उन्होंने दावे के साथ लिखा है कि लौंकाशाह का जन्म वि० सं० १४८२ कार्त्तिक सुदि १५ को हुआ । जब आप सं १४८७ में लौंकाशाह का विवाह करवाते हो तो संतबालजी के मताऽनुसार लौंकाशाह का लग्न ५ वर्ष की वय में और पुत्र जन्म ८ वर्ष की वय में मानना होगा । अतः पहिले जाकर घर में संतबालजी से तो पूछलो कि भाई मैं

लौंकाशाह के जन्म समय में १० वर्ष का अन्तर डालता हूँ जिससे कि कम से कम लौंकाशाह और बादशाह का पारस्परिक मिलन तो होजाय ? क्या आप इस बात को स्वीकार कर लेंगे कि लौंकाशाह का लग्न पाँच वर्ष और उसके पुत्र ८ वर्ष की वय में हुआ था ?

स्वामीजी ! आप लौंकाशाह को धनाढ्य, राजकर्मचारी और यति से दीक्षित सिद्ध करने को दो पन्ने मुद्रित करा कर उलटे चक्कर में फँस गये। लौंकाशाह की तमाम घटनाओं के समय को बारबार बदलने की कोशिश करने पर भी संतबालजी आप से सहमत नहीं हैं। अतः सब से बहेतर तो यह है कि इस काल्पनिक मूल ढाँचे को ही बदल दिया जाय। ऐसा करने से आपके सिर पर आई हुई सब आपदाएं टल जायेंगी।

ज़रा आंखें मूंदकर विचार करें कि वि० सं० १६३६ का समय तो तपागच्छ और लौंकामत के बीच भीषण प्रतिद्वन्द्विता का था। क्योंकि पूज्य मेघजी श्रीपालजी आनंदजी आदि सेकड़ों साधुओं ने इसी समय लौंकागच्छ का परित्याग कर जैन दीक्षा ली थी। उस समय ऐसा गया बीता तपागच्छ का यति कौन होगा कि लौंकाशाह की असम्बन्धित घटना अपने हाथ से लिख दे। शायद किसी पक्षान्ध व्यक्ति ने तपागच्छीय यति का नाम लिख इनकी रचना की हो तो भी यह कल्पनिक ही है। क्योंकि भाषा की दृष्टि से ये पत्र इतने प्राचीन सिद्ध नहीं होते हैं। पर हमारे स्थानकमार्गी भाईयों को भाषा का ज्ञान ही कहां है ? अतएव आज की सुधरी हुई भाषा में दो पन्ने लिख उन्हें ३५७ वर्ष के प्राचीन सिद्ध करने का मिथ्या प्रयत्न करते हैं, पर भाषा मर्मज्ञ स्वीकार करेंगे या नहीं ? इसकी आपको परवाह ही क्या है ?

वास्तव में ये दो पत्रे तपागच्छीय यति के तो क्या पर उस समय के लिखे हुए ही नहीं प्रतीत होते हैं बल्कि अर्वाचीन समय में किसी ने कल्पित बनाए हैं। और इस कल्पित मत में यही कल्पना पहिली वार ही नहीं पर आगे भी कई बार की गई हैं। उदाहरणार्थ लीजिए वि० सं० १८६५ में अहमदाबाद में तपागच्छय और स्थानकमार्गी (ढूँढिये) साधुओं में शास्त्रार्थ हुआ, उसमें स्थानकमार्गी हार गये तो स्वामी जेठमलजी ने तीन पानों के अन्दर एक "विवाह चूलिया सूत्र" के नाम पर नया पाठ बना कर अपने पक्ष की पुष्टि में प्रमाण दिया। पर जब उसकी परीक्षा हुई तो सारी सभा के समक्ष ही उन ३ पत्रों को जल देवता की शरण करना पड़ा। इसी भाँति स्थानक मार्गी साधु कुनणमलजी ने भी अपनी पुस्तक में कई एक नये कल्पित पाठ* बना कर छपाये हैं, जिन्हे कई स्थानकमार्गी भी स्वयं कल्पित करार देते हैं।

---

* "किंभंते। शिलावटाणं जिणपडिमाणं अम्मा पियारो हवइ × × × तिथ्थकरेणं अम्मापियारा वणइ वणवइ २ त्ता, अणुमोदइ २ ता किंफल × × जिण सिद्धान्ताणं रोहणी (लिलाम) करइत्ता किंफल तिर्थंकराणॅ, × जिणमन्दिरेणं × × पखालेण × × किंभंते पंचम कालेणँ सावज्जा चारेणँ संस्कृतेणं चत्तारेणं अँग भापेइता × × परतिष्टाणं × × यात्राण × किंभंते। केवलीणं नाटक करे इत्ता सनमुखेण × × तिर्थंकरेणँ गोत्रेणव × × संवेगहाणभंते × × × इत्यादि ऐसे कई पाठ बनाके अपनी विद्वत्ता का परिचय दिया है परन्तु खास स्थानकवासी समाज ही इनका सख्त विरोध करता है और इन उत्सूत्रों को अनुमोदन करनेवालों को अनंत संसारी समझता है।

स्थानकमार्गी साधु मणिलालजी ने पूर्वोक्त दो पत्रों पर विश्वास कर लौंकाशाह का जीवन लिख "प्रभुवीर पटावली" नामक पुस्तक में छपवा तो दिया पर आपके इस कल्पित लेख की नींव कितनी कमजोर है इस पर तनिक भी विचार नहीं किया। जीवन चरित्र के मूलाधार जब ये दोनों पत्र भी स्वयं झूठे सिद्ध होते हैं तो उनके आधार पर रचित यह जीवन वृत्त तो स्वतः झूठा साबित होगया*। दूर जाने की बात नहीं आपके इस हवाई किले को तो स्वयं संतबालजी ने भी विध्वस कर दिया। इतने पर भी आप को इन पत्रों की सत्यता पर विश्वास हो तो संतबालजी की लिखी "धर्मप्राण लौंकाशाह" नाम की लेखमाला को सप्रमाण असत्य सिद्ध करने का साहस करें।

---

*स्थानकमार्गी साधु मणिलालजी का "जैन धर्म नो संक्षिप्त इतिहास" के लिये अखिल भारतवर्षीय स्थानकवासी जैन श्वे० स्था० कान्फरेन्स ने तारीख १०-५-१९३६ रविवार की जनरल वार्षिक बैठक मे—अहमदाबाद में १० वां प्रस्ताव पास किया है कि—

आफिशियल इतिहास के अभाव से अपूर्ण अहेवाल छपे हों वे भविष्य में इतिहास बन जाते हैं। साक्षात् देखने वाले तो चले जाते हैं, और संभाल से तैयार किया हुवा साहित्य सत्य माना जाता है। "अजमेर सम्मेलन यात्री" और "जैन धर्म का प्राचीन संक्षिप्त इतिहास" में अजमेर साधु सम्मेलन का रिपोर्ट अपूर्ण है। इतना नहीं कितनाक भाग उल्टे रास्ता पर लेजाने वाला है। ये पुस्तक अपने प्रस्ताव अनुसार प्रमाणित भी नहीं। इस प्रस्ताव से "जैन धर्म नो संक्षिप्त इतिहास" की कितनी प्रमाणिकता है, सो स्पष्ट हो जाता है।

ता० १७-५ ३६ जैन प्रकाश पृ० ३४२

अस्तु । इस विवेचन से पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि जो दो पन्ने तपागच्छीय यति कान्तिविजय के नाम से मुद्रित करवाये हैं वे बिलकुल कल्पित हैं आगे चल कर हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि लौंकामत और स्थानकमार्गी पन्थ के विद्वानो के पास लौंकाशाह के जीवन लिखने में प्रमाणों का अभाव क्यों है ? और ऐसे कल्पित पन्ने क्यों बनाये जाते हैं पाठक ध्यान दे कर पढ़े ।

प्रकरण तीसरा

स्थानकमार्गियों के पास लौंकाशाह के जीवन विषयक प्रमाणों का अभाव क्यों है ?

लौंकाशाह का इतिहास लौंकाशाह के अनुयायी श्रीपूज्य व यति वर्ग के पास से ही मिल सकता है, नकि स्थानकमार्गियों के पास से। क्योंकि लौंकाशाह के अनुयायियों और स्थानकमार्गियों के आदि पुरुषों के आपस में बड़ी भयंकर शत्रुता चल रही थी। लौंकागच्छ के श्रीपूज्योंने यति धर्मसिंहजी एवं लवजी को अयोग्य समझकर ही गच्छ से बाहर किया था। इसी अपमान से रुष्ट हो इन दोनों ने भगवान् महावीर और लौंकागच्छ की आज्ञा को भंगकर कई मन कल्पित कल्पनाओं द्वारा अपना नया ढूँढिया मत चलाया। परन्तु कलिकाल के कलुषित प्रभाव से उन दोनों की भी मान्यता एक न रह सकी, क्योंकि जब धर्मसिंहजी ने श्रावक के सामायिक आठ कोटि से होने की कल्पना की तो लवजी ने डोरा डाल मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने की कल्पना कर डाली। इन नयी २ कल्पनाओं के कारण लौंकाशाह के अनुयायियों और नूतन मत स्थापकों के परस्पर में वैमनस्य का होना स्वाभाविक था। अतः नूतन मत स्थापक, लौंकाशाह के इतिहास की ओर क्यों ध्यान देते ? जैसे स्थानकमार्गियो में से स्वामी भीखमजी ने दया दान की उत्थापना कर तेरहपन्थी मत

निकाला तो वे रुघुनाथजी आदि स्थानकमार्गियों का इतिहास व उपकार कब मानने बैठे थे ? वे तो उलटा उन्हें (रुघुनाथजी आदि को) शिथिलाचारी, उत्सूत्रवादी और निन्हव कहने में भी नहीं चूके । जैसे कि धर्मसिंह, लवजी ने लौंकाशाह के अनुयायियों श्री पूज्यो और यतिवरों को कहा था । इस हालत में स्थानकमार्गियों के पास लौंकाशाह का इतिहास न मिले तो यह संभव ही है । जब वि० सं० १८६५ में अहमदाबाद में संवेग पक्षिय महान् पं० वीर विजयजी गणि और स्थानक मार्गी साधु जेठमलजी के आपस में शास्त्रार्थ हुआ तो वहाँ धर्मसिंहजी लवजी से ही उनका काम नहीं चला, किन्तु मूर्त्तिपूजा के विरोध में लौंकाशाह को भी याद करना पड़ा, और उन्होंने अपने समकित सार नामक पुस्तक में लौंकाशाह की चर्चा भी की । (इसे हम पूर्व भी लिख चुके हैं) बस, स्थानकमार्गी समाज में कहीं भी लौंकाशाह का यदि नामोल्लेख किया गया है तो स्व-स्वार्थ साधनार्थ एक इसी पुस्तक में सर्व प्रथम स्वा० जेठमलजी ने किया है, पर यह वर्णन सादा और सरल होने से आज के स्थानकमार्गियों को रुचिकर नहीं होता । अच्छा होता, यदि जेठमलजी अपनी पुस्तक में लौंकाशाह विषयक प्रसंग को जरा भी स्थान नहीं देते कि ये बिचारे अपनी रुचि के अनुसार निःसंकोच हो लौंकाशाह के जीवन चरित्र का ढाँचा उपन्यास के तौर पर ऐसा सुन्दर खड़ा करते, जिसे देख सभ्य समाज को भी एक बार दंग रह जाना पड़ता, परन्तु दुःख है कि जेठमलजी का किया हुआ लौंकाशाह विषयक उपकार उलटा अनुपकार सिद्ध हो इन नयी रोशनीवालों के मार्ग में बाधा डाल रहा है ।

स्वामी जेठमलजी के बाद प्रायः १०० वर्षों में किसी भी स्थानकमार्गी ने लौंकाशाह का नाम तक नहीं लिया, पर इस बीसवीं शताब्दी में फिर लौंकाशाह की आवश्यकता हुई और श्रीमान् वाडीलाल मोतीलाल शाह ने वि० सं० १९६५ में एक "ऐतिहासिक नोंध" नाम की किताब लिख सोते हुए स्थानक मार्गी समाज को जागृत किया।

जमाने ने फिर रंग बदला। श्रीमान् सन्तबालजी ने शाह की ऐतिहासिक नोंध में मनगढ़न्त सुधार कर अपने नाम से "श्रीमान् धर्मप्राण लौंकाशाह" नाम की लेखमाला लिखकर 'जैन प्रकाश' पत्र में प्रकाशित करवाई, पर श्री मणिलालजी को वह भी पसन्द नहीं आई। आपने कुछ भाग ऐतिहासिक नोंध से; और कुछ भाग तपागच्छीय यति कान्तिविजयजी लिखित दो पत्रों से संगृहीत कर अर्थात् इन दोनों के मिश्रण से और कुछ फिर अपनी नयी कल्पना से "†प्रभुवीर पटावली" में लौंकाशाह का एक निराले ढंग पर जीवन चरित्र छपवाया। अब फिर न जाने भविष्य में इसमें भी कितने सुधारक क्या क्या सुधार करेंगे?

वस्तुतः निष्पक्ष हो ऐतिहासिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो इन सब लेखकों के पास प्रमाणों का तो पूरा अभाव ही है। जिसे हम इन्हीं समाज के विद्वानों के वाक्यों को यहाँ उद्धृत कर दिखाते हैं। पाठक तथ्याऽतथ्य का निर्णय करें। यथा—

स्थानक० साधु मणिलाल जी—

"× × × इतिहास लखवानी प्रथा जैनोमां

---

† यह पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है। जिसको स्था० समाज अप्रमाणिक होना घोषित कर दिया है।

घणी ओछी होवा थी, एक महान् अने प्रबल सुधारक श्रीमान् लौंकाशाह ना जीवन थी पण आपणे केटलेक अंशे अन्धारामां रह्या छीए।"

× × ×

"× × × तेमना इतिहास संबन्धी आपणे जोइये तेवी माहिती मेलवी शक्या नथी।"

प्रभुवीर पटावली पृष्ठ १५७

× × ×

"एवा एक प्रबल तेजस्वी क्रान्तिकारक अने चारित्रशील पुरुषना व्यक्तित्व ने, तेना जीवन वृत्तान्त ने आपणे पक्के पाये खरी खात्री थी जाणी शक्या नथी, ते एक दुर्भाग्य नो विषय छे श्रीमान् लौंकाशाह कोण हता ? क्यां जन्म्या हता ? कई रीते तेमणे सत्य धर्म नी घोषणा करी ? अने तेओए कया २ कार्यों कर्यां, तेनो संपूर्ण एहवाल पण आपणे जोइये ते रीते मेलवी शक्या नथी। पृथक् २ विद्वानों ना पृथक् २ अनुमानों पर हजुए आपणे लक्ष दोरी रह्या छीए, अद्यापि सुधिमां तेमना जीवन अने विकास माटे आपणे जे कांई सांभलीये छीए, तेमां वधु वजन वाली वात " ऐतिहासिक नोंध " जे प्रखर तत्वज्ञ श्रीमान् " वाडीलाल मोतीलाल शाह " लिखित जणाय छे × × ×।"

प्रभुवीर पटावली पृष्ट १५८–९

इसी प्रकार श्री संतबालजी आदि स्था० साधु और गृहस्थ लेखकों का लौंकाशाह विषयक प्रमाणों का सब से बढ़कर आधार श्रीमान् वा० मो० शाह और उनसे लिखित "ऐतिहासिक नोंध" है। ऐति० नोंध स्वयं अपने नाम से ही विश्वास दिला रही है कि इसमें इतिहास की बातों की ही नोंध (चर्चा)–होगी। और श्रीमान् वाडी० मोती० शाह स्थानकमार्गी समाज में एक बड़े भारी विद्वान् और इतिहास के संशोधक समझे भी जाते हैं।

अब देखना यह है कि श्रीमान् वाडी० मोती० शाह ने अपनी नोंध में लौंकाशाह का जीवन जिन साधनों को उपलब्ध कर लिखा है उन्हें हम आपके ही शब्दों द्वारा व्यक्त कर देते हैं, हालाँ कि स्थान० समाज का इस पर अटूट विश्वास है।

"× × × हम लोगों में इतिहास लिखने की प्रथा कम होने से एक जबर्दस्त धर्म सुधारक, और जैन मिशनरी के सम्बन्ध में आज हम बहुत करके अंधेरे में हैं।"

ऐतिहासिक नोंध पृष्ट ६५

× × ×

"इतना होने पर भी अभी हम उनके खुद के चरित्र के बारे में अंधेरे में ही हैं × × ×, लोंकाशाह कौन थे? कब—कहाँ कहाँ फिरे इत्यादि बातें आज हम पक्की तरह कह नहीं सकते हैं × × जो कुछ बातें उनके बारे में सुनने में आती हैं, उनमें से मेरे ध्यान में मानने योग्य ये जान पड़ती हैं × × × ×।"

ऐतिहासिक नोंध पृष्ट ६६

"× × × पर इस तरह का कोई उल्लेख उनके निगुण भक्तों ने कहीं नहीं किया कि लौंकाशाह कौन स्थान में जन्मे ? कब उनका देहान्त हुआ ? उनका घर संसार कैसा चलता था ? वे थे किस सूरत के ? उनके पास कौन २ शास्त्र थे ? वगैरह २ हम कुछ नहीं जानते हैं × × ।"

ऐतिहासिक नोंध पृष्ट ७८

× × ×

"× × × मैं इन बातों को मन्जूर करता हूँ कि मुझे मिली हुई हकीकतों पर मुझे विश्वास नहीं है। क्योंकि हमारे में यह इतिहास लिखने की प्रथा न होने से जुदी २ याददास्ती में जुदा २ हाल लिखा है × × × ।"

× × ×

ऐतिहासिक नोंध पृष्ठ ८७

श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन इतिहास के विषय में भी जब यह हाल है कि, वे कहां जन्मे, कहां मरे, उनकी सूरत कैसी थी, उनका संसार कैसे चलता था, उनके पास क्या क्या सूत्र थे, वे कहाँ २ फिरे, इत्यादि बातें भी जब कोई नहीं जानता तो उनको बड़ा साहूकार, महाविद्वान्, अतिशय धर्मसुधारक, क्रान्तिकारक आदि लिख मारना क्या यह लौंकाशाह की हँसी उड़ाना नहीं है। खैर ! वाडीलाल तो गृहस्थ थे, × पर तीन करण और तीन योग से असत्य बोलने का त्याग बतलाने वाले श्रीमान् संतबालजी एवं मणिलालजी ने भी लौंकाशाह के जीवन विषय

में असंभव गप्पें मार कर अपने दूसरे महाव्रत (सत्य भाषण) का कैसे रक्षण किया होगा ? यह समझ में नहीं आता। अन्त में हम यह पूछना चाहते हैं कि इस २० वीं सदी में ये ऐसे कल्पित कलेवरों की आप लोग कितनी कीमत कराना चाहते हैं ?

लौंकाशाह का जीवन लिखने वाले जितने स्थानक मार्गी हैं वे अपना २ बचाव करने के लिए प्रायः यह लिख देते हैं कि जैनों में इतिहास लिखने की प्रथा थी ही नहीं, या थी तो बहुत कम, इसलिए लौंकाशाह के विषय में इतिहास नहीं मिलता है। पर हम आप से यह पूछते हैं कि जब लौंकाशाह का इतिहास मिलता ही नहीं है तो, फिर आपने लौंकाशाह का जीवन किस आधार पर लिखा है। जैसे लौंकाशाह का जन्म सं० १४८२ काति सुदि १५ को, लौंकाशाह की दीक्षा वि० १५०९ श्रावण सुदि ११ को, इत्यादि फिर वे कहाँ से लिख मारा है, क्या आपने ये सब मनगढन्त ही लिखे हैं।

जैनों में इतिहास लिखने की प्रथा थी ही नहीं, यह लिखना तो केवल अपना बचाव करना है। लौंकाशाह को तो हुए आज केवल ४५० वर्ष हुए हैं परन्तु जैन साहित्य में हजार वर्ष से अधिक पूर्व का तो विस्तार से लिखा हुआ इतिहास प्राप्त है। पूर्वकालीन प्राप्त इतिहास केवल बड़े २ जैन धर्माऽवलम्बी राजाओं तथा जैन धर्म के आचार्यों का ही नहीं है, अपितु जैन धर्म में श्रद्धालु, जैन सद्गृहस्थों का इतिहास भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध है। जैसे कि—"मंत्री विमल, उदायण, वाहड़, सान्तु महता, मुंजल मंत्री, महामात्य वस्तुपाल तेजपाल, जगडुशाह त्रिभुवन-सिंह, संग्रामसोनी राजसिंह सोमाशाह मंत्री नारायण, कर्म्माशाह

मुहता तेजसिंह, सबलसिह, मंत्री यशोधवल, मुहणोत नैणसी, खेतसी, जेतसी, देशलशाह, सारंगशाह, समराशाह, थेरुशाह, पेथड़शाह, पुनड़शाह, भैंसाशाह, चोपाशाह, छुनाशाह, खेमाशाह, दयालशाह, नांनगशाह, रामाशाह, भैंरूशाह कोरपाल, सोनपाल, भामाशाह, सोजत के वैद मुहता, जोधपुर के सिंघी, भंडारी, मुर्शिदाबाद के जगत सेठ, अहमदाबाद के नगर सेठ, और टीलाचाणिआ, आदि अनेक महापुरुषों के इतिहास विद्यमान हैं। इतना ही नहीं, किन्तु सोलहवीं शताब्दी के इतिहास से जैन साहित्य ओतप्रोत भरा पड़ा है, फिर केवल एक लौंकाशाह के विषय में ही यह क्यों कहा जाय कि हमारे में इतिहास-लेखनप्रथा नहीं थी, लौंकाशाह के समकालीन एक कडुआशाह भी हुए। उन्होंने भी लौंकाशाह की भाँति ही अपने नाम पर एक पृथक् कडुआमत निकाला था, उनका तो इतिहास मिलता है, फिर लौंकाशाह का ही इतिहास न मिले इसमें क्या कारण है। यदि कोई साधारण व्यक्ति हो. उसका तो इतिहास शायद चूहों के बिल की शरण ले सकता है, परन्तु स्थानकवासियों की मान्यतानुसार सात करोड़ जैनों से टक्कर लेने वाले, महान् क्रान्तिकारक, अपने नाम से नया मत निकाल, एकाध वर्ष में ही विना वैज्ञानिक सहायता के, उसे भारत के इस छोर से उस छोर तक फैलाने वाले, लाखों चैत्यवासियों से मंदिर मूर्ति-पूजा छुड़ाके उन्हे अपने नव प्रचलित धर्म में दीक्षित करने वाले, स्वनाम धन्य लौंकाशाह का इतिहास किस गुफा में गुप्त रह गया, अरे इतिहास तो दूर किनार रहा, उनके गाँव घर, जन्मस्थान, और जन्मतिथि तक का हाथ न लगना, यह स्थान कभागियों के लिए कम दुःख और कम शरम की बातनहीं है ?

इस विषय का उपालंभ हम जैन इतिहास-कारों को ही नहीं किन्तु जैनेतर सहृदय अन्यान्य इतिहासकारों को दिये विना भी नहीं रह सकते। क्योंकि आपके इतिहासों में जब महात्मा कबीर नानक, रामचरण, नरसिंह मेहता, मीरांबाई आदि को भी जब स्थान मिला है तो लौंकाशाह जैसे प्रबल सुधारक (!) को स्थान नहीं मिलना क्या यह एक परिताप का हेतु नहीं है ?

वस्तुतः यह गलती इतिहासकारों की नहीं किंतु स्थानक-मार्गियों की यह एक स्वप्नवत् कल्पना है कि लौंकाशाह एक नामांकित पुरुष हुए हैं, पर ऐसा कोई प्रमाण नहीं है। स्थानकमार्गियों के साहित्य में तो लौंकाशाह का अस्तित्व तक भी नहीं है। उनको तो प्रत्युत पं० लावण्यसमयजी और उपा० कमलसंयमजी का महान् उपकार मानना चाहिए, जिन्होंने कि स्वरचित ग्रन्थों में नामोल्लेखकर लौंकाशाह का अस्तित्व स्थिर रक्खा है। अन्यथा लौंकाशाह का कोई नाम निशान ही नहीं था कि लौंकाशाह नाम का भी कोई व्यक्ति संसार में प्रकट हुआ है।

अब हम यह दिखाना चाहते हैं कि लौंकाशाह से संबन्ध रखने वाले कौन २ प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे हमें इनके अस्तित्व का पता मिल सके ? इन्हें पाठक अगले प्रकरण में पढ़ें।

प्रकरण—चौथा

लौंकाशाह विषयक प्राप्त प्रमाण।

लौंकाशाह के जीवन इतिहास के विषय में लौंकागच्छीय श्रीपूज्य व यतिवर्ग के पास अनेक पटावलियें आदि आज भी विद्यमान हैं, पर वे स्थानकमार्गियों को रुचिकर नहीं है, कारण ! उन पटावलियों में न तो दिन भर मुँहपत्ती बाँधने का निर्देश है और न आज तक भी उनके अनुयायी बाँधते हैं। इतना ही नहीं पर लौंकाशाह की मान्यता के एवं परम्पराऽऽगत आचार व्यवहार के विरुद्ध चलने के कारण श्रीमान् धर्मसिंहजी लवजी नामक यतियों को गच्छ के बाहिर करने का भी उल्लेख किया हुआ है, इसी अपमान के कारण इन दोनों महाशयों ने "ढूंढिया" नामक नया मत निकाला था, इसका भी वर्णन इन पटावलियों में अंकित है। इस हालत में स्थानकमार्गी समाज को अपने पूर्वजों की सत्यस्थिति (निंदा) बताने वाली पटावलियें कब अभीष्ट हो सकती है ? और वे कब उन्हें (पटावलियों को) प्रमाणिक मानने को तैयार हैं।

परन्तु फिर भी लौंकाशाह की पाट परम्परा मिलाने के लिये थोड़ा बहुत संबंध व नामावली उन पटावलियों से लिए बिना काम नहीं चल सकता, अतः लौंकागच्छ की पटावलियों को अप्रामाणिक मानते हुए भी जहाँ अपना काम रुक जाता है वहाँ उनकी शरण लेनी ही पड़ती है। स्थानक मार्गियों का जो कुछ

इतिहास है वह लौंकागच्छ की पटावलियें ही हैं, इनको यदि निकाल दिया जाय तो स्थानक मार्गियों के पास कुछ भी अपना पूर्व इतिहास शेष नहीं रहता। और लौंकागच्छ के प्रतिपक्षियों ने भी जो कुछ लिखा है वह भी लौंकाशाह के लिए ही, न कि स्थानकमार्गियों के लिए। फिर समझ में नहीं आता है कि आज स्थानकमार्गी लोग लौंकाशाह को अपना धर्मस्थापक एवं धर्मगुरु किस कारण मानते हैं? क्या लौंकाशाह के सिद्धान्त स्थानकमार्गी मान्य रखते हैं?।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में एक लौंकाशाह नामक व्यक्ति ने जब जैन समाज में उत्पात मचाकर अपने नये धर्म की नींव डाली, उसके विरुद्ध में अनेक धुरंधर विद्वान् आचार्योंने अपनी आवाज उठाई और लौंकाशाह के खण्डन में अनेक ग्रन्थोंमें उल्लेख भी किए, पर लौंकाशाह और लौंकाशाह के किसी भी आनुयायी ने उससमय कुछ भी प्रत्युत्तर दिया हो, इस विषय में कोई उल्लेख नजर नहीं आता है। इतना ही नहीं पर लौंकाशाह के मूल सिद्धान्त क्या थे? वह कौनसी धर्म क्रियाएँ करता था इसका भी कोई उल्लेख न तो स्वयं लौंकाशाह का और न उनके प्रतिष्ठित मताऽनुयायीका ही मिलता है, इससे यह पाया जाता है कि न तो स्वयं लौंकाशाह किसी विषय का विद्वान् था और न उनके पास कोई अन्य विद्वान् ही था। केवल पाप-पाप, हिंसा-हिंसा और दया-दया करके भद्रिक जनता को मिथ्याभ्रम में डाल अपना सिक्का जमाना ही लौंकाशाह का सिद्धान्त था, यह कहें तो मिथ्योक्ति नहीं है। लौंकाशाह के जीवन चरित्र विषय में लौंका-शाह के समकालीन लेखकों ने जो कुछ लिखा है, उससे ठीक

ज्ञात होता है कि लौंकाशाह जैनसाधु और जैन आगम किन्हीं को भी बिलकुल नहीं मानता था यही क्यों पर वह तो जैनधर्म की मुख्य क्रिया—सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान दान और देवपूजा को भी मानने से इन्कार था। इस विषय में आज तक जो साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसकी सूची पाठकों के अवलोकनार्थ हम नीचे दे देते हैं:—

नं०	ग्रंथ का नाम	कर्त्ता का नाम	संवत्
१	सिद्धान्त चौपाई	पं० मुनिश्री लावण्यसमय	वि० सं० १५४३
२	सिद्धान्तसार चौपाई	उपाध्याय कमलसंयम	वि० सं० १५४४
३	उत्सूत्र निवारण छत्तीसी	मुनि वीका	वि० सं० १५४४
४	दयाधर्म चौपाई	लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्र	वि० सं० १५७८
५	तरणतारण श्रावकाचार	दि० तारण स्वामी	वि० सं० १६वीं श०
६	भद्रबाहु चरित्र	दि० रत्नानंदी	वि० सं० १६वीं श०
७	कुमतिध्वंस चौपाई	पं० हीर कलस	वि० सं० १६१७
८	लुंपक निराकरण चौपाई	दि० सुमति कीर्ति	वि० सं० १६२७
९	लौंकाशाह जीवन	तपागच्छीय कान्ति विजय	वि० सं० १६३६
१०	तपागच्छीय पटावली	उ० धर्मसागरजी	वि० सं० १६४८
११	लौंका० सिलोको	लौंका० यति केशवजी	वि० सं० १७वीं श०
१२	कडुआमत पटावली	सं० श्रा० कल्याणजी	वि० सं० १६८४
१३	कवितामय जीवन	रूपचन्द	वि० सं० १६९९
१४	सिद्धान्त चौपाई	पं० गुणविनय	वि० सं० १७वीं श०

१५	वीर वंशावली	....	वि० सं० १८०६
१६	समकितसार	स्था० साधु जेठामलजी	वि० सं० १८६५
१७	शास्त्रोद्धार मीमांसा में	स्था० अ० ने उद्धृतकी	वि० सं० १८८३
१८	अज्ञानतिमिर भास्कर	जै आ विजयानद सूरि	वि० सं० १९४३
१९	ऐतिहासिक नोंध	वाड़ी० मोतीलाल शाह	वि० सं० १९६५
२०	शास्त्रोद्धार मीमांसा	स्था० सा० अमोलख ऋषिजी	वि० सं० १९७६
२१	जैनयुग का एक लेख	जैन श्वे० कान्फ्रेंस पत्र	वि० सं० १९८२
२२	राजपूताने का इतिहास	पं० गौरीशंकरजी ओझा	वि० सं० १९८३
२३	जैन० प्रभुवीर पटावली	स्था०साधु मणिलालजी	वि० सं० १९९१
२४	धर्मप्राण लौंकाशाह	स्था०साधु संतबालजी	वि० सं० १९९२
२५	लौंका० की पटावली	स्था० साधु नागेन्द्र चंदजी द्वारा	
२६	बंबई समाचार का लेख	स्था०साधु विनयर्षिजी	४-४-३६
२७	उपकेशगच्छ पटावली	उ० सहज सुन्दर	
२८	आंचलगच्छ पटावली	पं० हीरालाल हंसराज	

इनके अलावा और भी अनेक ग्रन्थ और पटावलियों में लौंकाशाह के विषय का उल्लेख मिल सकता है, और जिनके आधार से लौंकाशाह का एक प्रामाणिक इतिहास भी तैयार हो सकता है। लौंकाशाह कब जन्मा, इसका खुलासा हम पाँचवें प्रकरण में करेंगे।

प्रकरण—पाँचवां

लौंकाशाह का समय।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि संघटित जैन समाज को छिन्नभिन्न करने के लिए लौंकाशाह नामक एक व्यक्ति हुए, और इनका समय विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिमार्द्ध से सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक का है, परन्तु स्थानकमार्गियों के पास आपके उत्पत्ति समय के बारे में भी कोई निर्णित प्रमाण नहीं है, इस विषय में यत्किंचित् प्रमाण हाथ लगते हैं वे अन्यान्य गच्छीय लेखकों के लिखे हुए ही हैं जो निम्न-प्रकार हैं।

(१) पंडित मुनि लावण्य समय जी (वि० सं० १५४३)

"सई उगणीस वरिस थया, पणयालीस प्रसिद्ध ।
त्यारे पछी लुकु हुइ असमंजस तीणइ किद्ध ॥३॥

सिद्धान्त चौपाई।

ये महाशय वीर प्रभु से १९४५ वर्षों के बाद अर्थात् वि० सं० १४७५ में लौंकाशाह का जन्म होना बताते हैं।

× × ×

(२) उपाध्याय कमल संयम (वि० सं० १५४४)

"संवत् पनर अठोतरउ जाणि, लुंको लहियो मूल निखाणि

× × ×

संवत् पनर नु त्रिसई कलि, प्रकट्यो वेपधार समकलि"

सिद्धान्त सार चौपाई।

आपका मत है कि वि० सं० १५०८ मे तो लौंकाशाह ने अपनी पुकार उठाई, और वि० सं० १५३० मे भाणा ने विना गुरु वेप धारण किया।

× × ×

(३) मुनि श्री वीका

"वीर जिणेसर मुक्ति गया, सइ ओगणीस वरस जव थया,
पणयालीस अधिक माजनई, प्रागवाट पहिलई साजनई"

असूत्र निराकरण बत्तीसी।

आपका मत है कि लौकाशाह का जन्म वीरात् १९४५ अर्थात् वि० सं० १४७५ में लघु० पोरवाल कुल मे हुआ।

× × ×

(४) लौंका० यति भानुचंद (वि० सं० १५७८)

"चौदसया व्यासी वइसाखई, वद चौदस नाम लुंको राखई"

दयाधर्म चौपाई।

× × ×

(५) लौंकागच्छीय यति केशवजी

"पुनम गछइं गुरु सेवनथी, शैयद ना आशिप वचनथी।
पुत्र सगुण थयो लखु हरपि, शत चऊदे सत सितरवर्षि॥११॥"

२४ कडी का सिलोको।

आपका मत है कि लौंकाशाह का जन्म वि० सं० १४७७ में हुआ था। आगे यतिजी ने आपका देहान्त ५६ वर्ष की उम्र में वि० सं० १५३३ में होना लिखा है।

× × ×

(६) दि० तारण स्वामी—आपका समय लौंकाशाह के सम-कालीन है, आप लिखते हैं कि—

"उस समय अहमदाबाद में श्वेताम्बर जैनियों के अन्दर लौंकाशाह हुए, उन्होंने भी वि० सं० १५०८ में अपने नया पन्थकी स्थापना की जो मूर्ति को नहीं पूजते ह।" (मूल लेख से विशुद्ध भाषान्तर)

तरण तारण श्रावकाचार।

× × ×

(७) उपाध्याय धर्मसागरजी (वि० सं० १६४८)

'वि० सं० १५०८ में लौंकाशाह ने उत्पात मचाया, सं० १५३३ में उसके मत में साधु हुए। (मूल लेख से भाषान्तर)

तपागच्छ पटावली।

× × ×

(८) तपागच्छीय यति कान्तिविजय (वि० सं० १६३६)

"आ महात्मानो जन्म अरहट्टवाड़ा नी ओसवाल गृहस्थ चौधरी अटकना शेठ हेमाभाई नी पवित्र पतिव्रत परायण भार्या

गंगाबाई नी कुक्षि था संवत १४८२ चौदा सौ ब्यासी ना कार्तिक शुक्ला पूनम ने दिवसे थयो।"

लौंकाशाह नुं जीवन प्रभुवीर पटावली पृ० १६१।

× × ×

(९) इसी का अनुकरण स्वामी मणिलालजी और संतवालजी ने किया है। अर्थात् आप दोनों का मत है कि लौंकाशाह का जन्म वि० स० १४८२ में हुआ है।

(१०) स्था० साधु जेठमलजी (वि० स० १८६५)

"संवत् पनरासौ गति से गयो, एक सुमेत मत तिहां थयो।
अमदावाद नगर मंझार, लौंकाशाह वसे सुविचार॥"

समकित सार पृष्ठ ७।

आप वि० सं० १५३१ में लौंकाशाह का होना लिखते हैं।

× × ×

ऊपर दिये हुए प्रमाणों से यह स्पष्ट होजाता है कि लौंकाशाह का अस्तित्व तो विक्रम की पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के मध्य में अवश्य था। परंतु उनकी निश्चित जन्मतिथि अवश्य सन्दिग्ध है, क्योंकि पं० लावण्य समयजी और मुनि बीका तो वि० सं० १४७५ में इनका जन्म होना मानते हैं, लौं० यति केशवजी १४७७ और अवशिष्ट, लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्रजी, स्था० साधु मणिलालजी, एवं संतबालजी तथा तपागच्छीय यति कान्तिविजयजी इन चारों की मान्यता है कि लौंकाशाह का जन्म

वि० सं० १४८२ में हुआ था । जिस प्रकार लौंकाशाह के जन्म संवत् में मतभेद है इसी प्रकार देहान्त के समय में भी मतभेद है । इस मतभेद के होने का कारण यही होसकता है कि लौंकाशाह के समकालीन किसी भी लौंका-अनुयायी ने इनका जीवन चरित्र नहीं लिखा । फिर भी लौंका-यति भानुचन्द्रजी की लिखी चौपाई जरूर मान्य समझी जा सकती है क्योंकि ये स्वयं लौंकाशाह के अनुयायी और इन्होंने लौंकाशाह के इहलीला संवरण के बाद केवल ४० वर्षों में ही इस चौपाई को लिखा था । अतः लौंकाशाह का जन्म संवत् वि० सं० १४८२ के आस पास ही मानना युक्ति और प्रमाणों से संगत है । जिस प्रकार लौंकाशाह का जन्म संवत् विचार वीथी में भूला हुआ भटक रहा है तद्वत् जन्म स्थान का भी पूरा निर्णय अभी तक नहीं हो सका है, इसका विवेचन पाठक छट्टे प्रकरण में पढ़ें ।

प्रकरण—छट्ठा

लौंकाशाह का जन्मस्थान ।

लौंकाशाह के जन्म स्थान के संबंध में आज बड़ी धाँधली मची हुई है, हमारी बुद्धि में तो इसका कारण यह जँचता है कि लौंकाशाह ने जन्म तो किसी छोटे ग्राम में लिया पर, बाद में कुछ वयस्क होने पर जीवन निर्वाह निमित्त अहमदाबाद में आकर वास किया, और वहाँ अकस्मात् यतियों से विरोध होजाने पर, अपने नाम से नया मत निकालने की दुश्चेष्टा की, ऐसी दशा में यदि पिछले लेखकों ने उनका खास गाँव न जानने से उन्हें अहमदाबाद का ही लिख दिया हो तो कोई अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु हम यहाँ यह प्रयास करेंगे कि वास्तव में लौंकाशाह का जन्म स्थान कहाँ है, इसलिये इस विषय के कुछ भिन्न २ लेखकों के प्रमाण यहाँ पहिले उद्धृत करते हैं।

(१) लौंकागच्छीय यति भानुचंद्र (वि० सं० १५७८)

"सोरठ देस लींबड़ी ग्रामेह, दसा श्रीमाली डुंगर नामई ।
घरणी चूड़ा ही चित उदारी, दीकरो जायो हरख अपारी ॥३॥"

दयाधर्म चौपाई

(२) यति कान्तिविजय (१६३६)

"आ महात्मानो जन्म अरहटवाड़ा ना ओसवाल गृहस्थ

चौघरी अटकना सेठ हेमाभाई नी पवित्र पातिव्रत परायण भार्या गंगा नी कुक्षि थी चौदा व्यासी ना कार्तिक शुद्ध पुनम ने दिवसे थयो × ×"

लौंकाशाह नुं जीवन वृत्तान्त प्रभु० पदा० पृष्ट १६१

× × ×

(३) दि. रत्नानन्दी विक्रम की सोलहवीं शताब्दी

"लौंकाशाह का जन्म पाटण के दशा पोरवाल कुल में होना लिखते हैं।"

भद्रबाहु चरित्र पृष्ठ ९०

(४) दि. सुमति कीर्ति वि० सं० १६२७

"लौंकाशाह का जन्म पाटण के दशा पोरवाल कुल में हुआ।"

हस्तलिखित चौपाई

(५) लौं० यति केशवजी २४ कड़ीका सिलोका में

"इण कालइं सौरष्ट्र धरा मइं, नागवेश तटिनीतट गामइं।
हरिचन्द श्रेष्टि तिहां वसइं, मउंघी वाइ घरणी शील लसइं॥१०॥"

इसने लौंकाशाह का जन्म सोराष्ट्र देश की नदी के किनारे पर बसा हुआ नागनेश ग्राम में हरिचन्द्र श्रेष्ठि की मउंघी भार्या के वहां होना बतलाया है।

(६) श्री वीर वंशावली वि० सं० १८०६ संग्रहीता

"लौंकाशाह का जन्म पाटण में दशा पोरवाल कुल में हुआ।"

जैन सा० सं० वर्ष ३ अंक ३ पृष्ठ ४९

(७) स्था० साधु नागेन्द्रचंद्रजी से मिली पट्टावली

"एह अवसर पोसालिया, गढ जालोर मझार।
ताड़पत्र जीरण थयां, कुलगुरु करे विचार ॥४०॥
लुंको महतो तिहॉं वसे, अक्षर सुन्दर तास।
आगम लिखवा सुंपिया, लिखे शुद्ध सुविलास ॥४१॥

ऐति० नोंध पृ० ११६

इसीसे मिलती हुई एक रूपचंदकृत चौपाई भी वि० सं० १६९९ की है, उसमें भी लौंकाशाह का जन्म स्थान जालोर होना लिखा है।

इनके अलावा अन्य जितने लेखक हैं, उन सब का मत है कि लौंकाशाह अहमदाबाद का था, जैसे स्वामी जेठमलजी ने समकितसार नाम के ग्रन्थ में, स्वामी अमोलखर्षिजी ने अपनी शास्त्रोद्धार मीमांसा में, स्वामी संतबालजी ने "धर्मप्राण लौंकाशाह" नाम की लेख माला में, वाड़ीलाल मोतीलालशाह ने अपनी ऐतिहासिक नोंध में, लौंकाशाह को अहमदाबाद का वासी साहूकार लिखा है। पूर्वोक्त लेखों का सारांश निम्नोक्त है:—

वि० सं० १५७८ के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान लींबड़ी (काठियावाड़)।

वि० सं० १६२७ के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान पाटण (गुजरात)।

वि० सं० १६३६ के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान अरहटवाड़ा (सिरोही)

वि० सतरहवी सताब्दी के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान नागनेश (सौराष्ट्र)।

वि० सं० १६६६ के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान जालौर (मारवाड़)

वि० सं० १८६५ से आज पर्यन्त के लेख से लौंकाशाह का जन्मस्थान अहमदाबाद (गुजरात)।

लौंकाशाह का संक्षिप्त वंश परिचय यह है

वि० सं० १५७८ के लेख से—दशा श्रीमाली।

वि० सं० १६२७ के लेख से—दशा पोरवाल।

वि० सं० १६३६ के लेख से—ओसवाल।

लौंकाशाह के सम सामयिक मुनि वीका हुए। उन्होंने भी लौंकाशाह का वंश दशा पोरवाल लिखा है।

उपरोक्त प्रमाणों से स्पष्टतया यह निश्चय नहीं हो सकता है कि वस्तुतः लौंकाशाह का जन्म किस वंश और किस स्थान में हुआ। तथापि अनुमान प्रमाण से यह कह सकते हैं कि लौंकाशाह

का जन्मस्थान "लींबड़ी" बहुत संभव है, अनन्तर लींबड़ी से लौंकाशाह गुजारे के लिये अहमदाबाद आया हो यह बात जँच सकती है। इसे कुछ अंशों में अन्य लेखक भी स्वीकार करते हैं। लौंकाशाह अहमदाबाद आकर फिर चिरकाल के लिए वहीं रहा, इसीसे इन्हें कोई २ अहमदाबाद वासी लिखते हों यह भी हो सकता है। तथा जिन्होंने लौंकाशाह को पाटण का लिखा है इसका कारण मेरे खयाल से अहमदाबाद का उपनाम "पाटण" होना ही है।

वीरवंशावली में लौंकाशाह का देहान्त सत्यपुरी (मारवाड़) में होना लिखा है, इस हालत में यदि लौंकाशाह अपनी युवाऽवस्था में कभी जालोर गया हो और वहाँ के कुल गुरुओं के पास लिखाई का काम करने से किसी लेखक ने इन्हें जालोर का और जालोर के पास सत्यपुरी होने से आपका देहान्त सत्यपुरी में होना लिख दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु लौंकाशाह का जन्मस्थान तो लींबड़ी होना ही युक्तियुक्त है। कारण— प्रथम तो सब से प्राचीन अर्थात् वि० सं० १५७८ की चौपाई में इसका उल्लेख है और चौपाई लौंकागच्छीय यति की ही बनाई हुई है और यह यति लौंकाशाह के समय विद्यमान होना भी सम्भव है, अतः यह प्रमाण अति समीपवर्ती समय का है। दूसरा इस चौपाई में लखमसी को लौंकाशाह के फूई का पुत्र होना लिखा है। तीसरा लोंकाशाह ने यतियों के खिलाफ पुकार अहमदाबाद में उठाई पर जब वहाँ किसी ने भी इनकी बात नहीं सुनी और उल्टा तिरस्कार किया तब वह लींबड़ी गया और वहाँ एक तो जन्मस्थान होने के कारण से तथा अन्य लखमसी की सहायता से उन्होंने लींबड़ी राज्य में अपने नये मत की विषवल्ली बोई। इससे यह स्पष्ट

प्रकट होता है कि लौंकाशाह का जन्मस्थान लींबडी ही था, और लौंकाशाह का जितना संबंध लींबडी से है उतना, अरहटवाडा, जालोर और पाटण से नहीं है। अब जरा स्थानकवासी नये विद्वानों की ओर भी दृष्टिपात कीजिये कि वे इस विषय में क्या लिखते हैं?।

स्वामी मणिलालजी ने लौंकाशाह का जन्म अरहटवाडा में लिखा है और स्वामी संतबालजी ने अहमदाबाद में वि० सं० १४८२ काति सुदि १५ को इनका जन्म महोत्सव बड़े समारोह से होना लिखा है। आश्चर्य तो यह है कि जब पूर्णरूपेण जन्म स्थान का भी पता नहीं है तो फिर काति सुदि १५ की मिति किस आधार से लिखी गई है। इस मिति के लिखने का कारण मेरी दृष्टि में तो शायद यह हो सकता है कि कार्तिक शुक्ला १५ सिद्धाचल की एक महत्व पूर्ण यात्रा का दिन है। हजारों भावुक सिद्धाचल पर जाते हैं, जिनमें लौंकागच्छीय और स्थानकवासी भी शामिल हैं, उनको वहाँ जाने से रोकने के कारण ही लौंकाशाह की जन्मतिथि कार्तिक शुक्ला १५ की बता के उस दिन उनकी जयन्ती का खाका खड़ा करना ही इष्ट है। लौंकाशाह का जन्म अरहटवाड़ा में बताने का तो स्वामी मणिलालजी के पास आकस्मिक प्राप्त दो पत्रों का प्रमाण है। पर संतबालजी के पास तो सिवाय मनकल्पित आधार के और कोई प्रबल प्रमाण नहीं है, क्योंकि होता तो वे अपने लेखमें जरूर लिखते। हाँ! अब ये भी एक ऐसी घोषणा करदें कि मुझे भी प्राचीन पुस्तकें टटोलते २ पत्ते मिले हैं जिनमें लौंकाशाह का जीवन और जन्मस्थान लिखा है और अहमदाबाद को उनकी जन्म भूमि करार दी है तो बचाव हो

सकता है। क्योंकि ऐसी २ असत्य घोषणाएँ स्वार्थ साधनार्थ घोषित करना ऐसे लोगों के लिए कोई नई बात नहीं है।

सचमुच इन्होंने (संतबालजी ने) यदि ऐसी घोषणा करदी तो फिर, मणिलालजी अपने प्राप्त पत्रों की इज्जत रक्षा कैसे करेंगे ? इसका पूरा उत्तर अभी भविष्य के गर्भ में है। उपर्युक्त विवेचन से सुज्ञ पाठक यह तो विचार सकते हैं कि लौंकाशाह का जन्मस्थान अन्य स्थानो को न मान कर लींबड़ी को मानना ही अधिक युक्तियुक्त और संगत है, जिनका कि यथा बुद्धि पूरा खुलासा हम ऊपर कर आए हैं। अब यह बतायेंगे कि लौंका-शाह का व्यवसाय क्या था, इसे पाठक सातवें प्रकरण मे देखें।

प्रकरण—सातवां

लौंकाशाह का व्यवसाय।

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के लेखकों ने लौंकाशाह का जो कुछ जीवन-वृत्त लिखा है, उसमें उन सब लेखकों का प्रधानतया यही एक मत रहा है कि लौंकाशाह एक साधारण गृहस्थ था, और नाणावटी का तथा लिखने का धंधा किया करता था, जैसे कि यति भानुचन्द्रजी वि० सं० १५७८ में लिखते हैं।

"लखमसी फूई नो दीकरउ, द्रव्य लुंका नुं तेणइहरउं।
उमर वरिस सोलानी थई, चूडा माता सरगिं गई॥
आवइ अहमदावाद मंझार, नाणावटी नो करइ व्यापार॥

दयाधर्म चौपाई

लौंकाशाह का पिता लौंकाशाह की ८ वर्ष की उम्र में और माता १६ वर्ष की उम्र में स्वर्गस्थ हुई। लौंकाशाह की ८ वर्ष की वय में ही उसके पिता के मर जाने पर उसकी सब कीमती जायदाद, उसकी भुआ का लड़का लखमसी हजम कर गया। बाद में लौंकाशाह निर्द्रव्य और निराधार होकर अहमदाबाद आया और वहाँ नाणावटी (टका कोड़ी की कोथली) का धंधा करना प्रारंभ किया।

\+ × +

"लौंकाशाह लींबड़ी थी अहमदावाद आव्या त्यां केटलाक वर्षों सुधी नोकरी करी पण पोतानो स्वभाव अति उग्र होवा थी, त्यांथी छूटा पड़ी अने नाणावटी नो घंघो आदर्यो, पण त्यां एकदा महा अनर्थ जोई लौंकाशाह ने लागी आव्युं के मारे एक जीवड़ा माटे अेटलो वधो अनर्थ शुं करवा करवो जोईये" इत्यादि ।

हस्तलिखित लौंकाशाह का जीवन

× × ×

यति कान्तिविजयजी वि० सं० १६३६ में लिखते हैं:—

"पोताना वतन थी अहमदावाद आवी नाणावटी नो घंधो करता हता ।"

प्रभुवीर पटावली पृष्ट १६१

× × ×

(१) लौं० यति केशवजी २४ कड़ीका सिलोका में

ज्ञान समुद्र नी सेवा करता, भणीं गुणीं लहिउं वन्यो तव त्यां ।
द्रम्म कमाणी श्रुतनी भक्ति, आगम लिखइ मनमां शंकई ॥१२॥

आप लिखते हैं कि ज्ञानसमुद्र (ज्ञानसागर) सूरि के पास लिख पढ़ (अक्षर ज्ञान प्राप्त कर) के लेखक (लहियो) हुआ आगम लिखने में एक तो द्रव्य प्राप्ती दूसरी ज्ञान की भक्ति यह लौंकाशाह का व्यवसाय था आगम लिखते २ लौंकाशाह को शंकाए हुई वह लौंकाशाह के सिद्धान्त में बतलाई जायगी ।

स्था० साधु जेठमलजी लिखते हैं:—वि० सं० १८६५

"× × × संवत पनरासौ एकत्रीमें गुजरात देशे अहमदाबाद नगर ने विषय ओसवाल वंशी सा० लुंको वसे ते नाणावट नो धंधो करे।"

—समकित सार पृ. ७

× × ×

स्थानक साधु मणिलालजी वि० सं० १९९२ में लिखते हैं:—

"× × तेमां केटलाक धीर धार नो व्याज वटाववो अने अनाज विगेरे नो व्यापार करता अने संतोष थी जीवन गुजारता × × × (यह तो लौंकाशाह के पिता का व्यवसाय था) × × × लौंकचन्द्र (लौंकाशाह) ने पिताए दुकान नो सर्व कारभार सोंप्यो × × (लाकाशाह) ठीक २ द्रव्योपार्जन करता अने कुटुम्ब नो निर्वाह चलावता हता × × ×।"

प्रभुवीर पटावली पृष्ट १६५

स्वामीजी बतलाते हैं कि लौंकाशाह के पिता का व्यापार किसानों को व्याज पर धन धान आदि देना था। जब लौंकाशाह का लग्न हुआ तब दुकान का सब व्यापार लौंकाशाह को सौंप दिया और लौंकाशाह उस दुकान का धंधा कर अपने कुटुम्ब का ठीक निर्वाह करता था, बात भी ठीक है, ऐसे छोटे से गाँवों में सिवाय

इस व्यापार के अन्य क्या व्यापार हो सकता है। परन्तु जब ऐसे छोटे गाँव में शायद इस क्षुद्र व्यापार से अपना निर्वाह ठीक चलता नहीं देखा हो तो अरहट्वाड़ा का त्याग कर अहमदाबाद गए हों, और वहाँ नाणावट का धंघा किया हो तो यह संभव ही है, क्योंकि एक साधारण निर्धन गृहस्थ बड़ा व्यपार कैसे कर सकता है। यह तो हुई स्वामी मणिलालजी की बात, अब आगे चल कर देखें कि साधु संतबालजी लौंकाशाह के विषय में अपने क्या उद्गार प्रकट करते हैं। आप लौंकाशाह को अहमदाबाद का बड़ा भारी साहूकार बतलाते हैं। (देखो धर्मप्राण लौंकाशाह की लेखमाला) संभव है इन दोनों महाशयो के नायक लौंकाशाह अलग २ होंगे तभी तो वे वैसा और ये ऐसा लिखते हैं पाठक जरा ध्यान से देखें। हालाँ कि इन लौंकाशाह के माता पिता के नामों में दोनों का एक मत होने पर भी जन्मस्थान और व्यवसाय के विषय में एक मत नहीं है। अब सवाल यह पैदा होता है कि धर्मप्राण लौंकाशाह हुए हैं वह संतबालजीवाले हैं या मणिलालजी वाले ?

जब वाड़ीलाल मोती० शाह अपनी ऐतिहासिक नोंध में लौंकाशाह के लिए और ही लिखते हैं कि लौंकाशाह बड़ा भारी साहूकार था, तब स्वामी नागेन्द्रचंद्रजी द्वारा प्राप्त पटावली में लिखा हुआ मिलता है कि:—

"लौंको महतो तिहाँ वसे, अक्षर सुन्दर तास।
आगम लिखवा सूँपिया, लिखे शुद्ध सुविलास॥

ऐतिहासिक नोंध पृष्ठ ११६

"× × × लौंकाशाह उपासरे पुस्तकें लिखते थे। उसकी लिखाई के पैसे दे देने पर भी साढ़ा सत्रह दोकड़ा शेष रहने से आपस में तकरार हुई।"

वीरवंशावली जै० सा० सं० वर्ष ३-४-४९

× × ×

उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि लौंकाशाह, एक धनी मानी सेठ नहीं किन्तु साधारण स्थिति का बणिया था, इसका व्यवसाय भी साधारण ही था। परन्तु हमारे नई रोशनी वाले स्थानिकमार्गियों को यह कब अच्छा लगे कि, उनके आद्य धर्मप्रवर्तक, धर्मगुरु एक सामान्य स्थिति के साबित हों; अतः स्था० साधु मणिलालजी ने इनके बारे में जो स्फुट उद्गार दबती जबान से निकाले हैं वे पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ अंकित करते हैं।

"× × × तेओ लहीया हता एम असंबद्ध अनुमान आपणे केम करी शकिये? बीजुं कारण ए के तेमणे पोताना उपदेश थी लाखो मनुष्यो ने सारंभी अने परिग्रह प्रवृत्तिओनी मान्यता फेरवी शुद्ध दयामय जैन धर्म नो प्रकाश कर्यो, एवुं प्रबल कार्य अने महाभारत कार्य एक लहीया थी थई शके ते वात मानवा मां आवे खरी?

प्रभुवीर पट्टावली पृष्ठ १६०

स्वामीजी की यह कल्पना ठीक ही है कि विचारा साधारण लहीया कोई महत्त्व का कार्य नहीं कर सकता, और लौंकाशाह ने भी तद्वत् कोइ महत्त्व का कार्य नहीं किया। बने हुए घर में फूट डाल के एक अलग हिस्सा करना यह कार्य महत्त्व का थोड़े ही है। महत्त्व का कार्य तो पृथक नींव खोद कर नया मकान खड़ा करना है। घर में आग लगाना कौन महत्त्व का कार्य बताता है। ऐसा घृणित कार्य तो निःसहाय विधवा भी कर सकती है। आगे आप लिखते हैं कि लौंकाशाह ने लाखों मनुष्यों को मूर्त्ति-पूजा छुड़ाकर अपने अनुयायी बनाये, एवं लौंकाशाह विद्वान् तथा धनाढ्य था, पर इस कथन के लिये स्था० साधुओं के पास कुछ भी प्रमाण नहीं है। यह तो केवल कल्पना की सृष्टि है। सत्य बात तो उन्हीं प्राचीन लेखों से विदित होती है जो हम ऊपर बतला आये हैं।

चारसौ वर्ष पूर्व के सरल हृदयी और सत्स्वभावी स्था० साधुओं का लिखा हुआ लौंकाशाह का व्यवसाय आडम्बर प्रिय आज के स्थानकमार्गी साधुओं को कैसे प्रिय हो सकता है। वे तो उन्हें बड़ा भारी विद्वान बड़ा साहूकार राजकर्मचारी, एवं बादशाह का परम प्रिय व्यक्ति देखना चाहते हैं। परन्तु उनको दुःख इतना ही है कि अपने पूज्य पूर्वजों का लिखा हुआ प्राचीन इतिहास देख शिर नीचा करना पड़ता है।

अस्तु, इस नये और पुराने के व्यर्थ झगड़े को दूर रख खास लौंकाशाह संतबालजी के मुँह से क्या फरमाते हैं। उसे ही हम पाठकों के आगे रखते हैं। लौंकाशाह अपने को पूछने वाले से कहते हैं:—

× × × हूँ उपदेशक नथी, पण साधारण लहीयो छुं × × ।"

× × ×

× × × अने मारी जेवा गरीब वाणियानी शक्ति पण शुं × × ?

"स्थान. साधु संतबालजी की लेख माला जैन प्रकाश ४-८-३५ पृष्ठ ४५१

तो, स्वयं लौंकाशाह संतबालजी द्वारा कह रहे हैं कि मैं उपदेशक नहीं परन्तु एक साधारण लहिया (लेखक) हूँ, और मेरे जैसे गरीब बणिये की क्या शक्ति, कि मैं कुछ कर सकूँ । ऐसी दशा में,वाड़ी. मोती.शाह, संतबालजी, मणिलालजी, अमोल-ऋषिजी, आदि स्थानकमार्गी लोग बिचारे लौंकाशाह पर क्यों वृथा वाग्प्रपञ्च रच बोझा लाद रहे हैं। याद रक्खो कभी सचमुच स्वयं लौंकाशाह तुम्हारे सामने आकर सवाल कर बैठे कि— क्यों रे! साधुओं! मैंने कब अनार्य मुस्लिम बादशाह की नौकरी की थी ? और कब मैंने मनुष्यों को उपदेश देकर महोपदेशक का तमगा लटकाया था ? बोलिये ! इस हालत में उनका प्रतीकार करने को आपके पास क्या पुष्ट प्रमाण है ?

यदि मत प्रवर्त्तक लौंकाशाह को मानकर ही उनके लिए इतने प्रशंसात्मक चाटुवाद कहे और लिखे जाते हैं तो, लौंकाशाह के मत से अलग होकर नया मत निकालने वालों के लिए भी तो कुछ लिखना चाहिए था कि उन्होंने लौंकाशाह से विरुद्ध होकर बड़ी भारी बहादुरी की, उन्होंने लौंका-मत से पृथक् जो

मत निकाला है वह श्रेष्ठ और सर्व मान्य है जिसमें स्वामी भीखमजी भी सामिल आ सके। इत्यादि, कुछ न कुछ लिखने पर ही आपकी लौंकाशाह के प्रति की हुई भक्ति की क़ीमत हो सकती है। अन्यथा यह तो प्रशंसा नहीं प्रत्युत प्रशंसा की ओट ले, लौंकाशाह की हँसी करना है।

वस्तुतः लौंकाशाह एक दशा श्रीमाली वणिया तथा साधारण गृहस्थ और लिखने का काम कर अपनी जीविका चलाने वाला लहिया था। जिस तरह लौंकाशाह के पास लौकिक साधनों की पूर्ति करने को धन का अभाव था, वैसे ही इह लौकिक और पारलौकिक साधनों की पूर्ति करने वाला ज्ञान धन भी कम था। जिसको आप अगले प्रकरण में पढ़ने का प्रयत्न करें।

प्रकरण—आठवां

लौंकाशाह का ज्ञानाऽभ्यास ।

श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन विषय में जितने लेखकों के नाम हम पीछे लिख आए हैं, उनमें किसी एक ने भी ऐसा उल्लेख कहीं पर नहीं किया है कि लौंकाशाह ने गृहस्थाऽवस्था में किसी के पास ज्ञानाभ्यास किया था, और न लौंकाशाह के जीवन में भी ज्ञान की झलक पाई जाती है। हाँ ! स्थानकमार्गी साधु मणिलालजी, अमोलखर्षिजी, संतबालजी और वाड़ी० मोती० शाह अपनी २ कृतियों में यह उल्लेख जरूर करते हैं कि, लौंकाशाह के अक्षर सुन्दर मोती के समान चमकीले थे, पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि लौंकाशाह विद्वान् थे। किन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि वे एक अच्छे लिखने वाले लहिया (नकलनविज) थे और जैन-उपाश्रयों में लिखाई का काम करते थे, जैसे आज भी अनेक ब्राह्मणादि लोग कर रहे हैं। लिखाई का काम करने मात्र से विद्वत्ता प्राप्त होना नितान्त असंभव है, यदि संभव हो तो सांप्रत में जिन नकलनविजों ने अपने जीवन का बड़ा भाग इस काम में व्यतीत किया है उनसे पूछा जाय कि आप कितने विद्वान् हुए हैं। हमें अमुक शब्द का अर्थ तो बता दीजिये—देखें आपको सिवाय "ना" के क्या उत्तर मिलता है। हाँ, निरन्तर लिखने से जरूर अच्छा (लहिया) नकलनविज हो सकता है। यही हाल लौंकाशाह का था, उनको

भी इससे बढ़कर विद्वत्ता प्राप्त नहीं हुई थी कि कापी टू कापी के सिवाय उनका अन्तर्निहित मर्म जानलें।

यह एक प्रधान बात है कि जब हम किसी के जीवन वृत्त को लिखने बैठते हैं तो उनकी विद्वत्ता बताने को उनके रचित ग्रन्थों का हवाला देकर उनकी प्रशंसा करते हैं। पर यह उदाहरण तो सर्व प्रथम लौंकाशाह के विषय का ही देखने में आया है कि उनकी सुन्दर लिपि का प्रमाण दे उनको बजाय लिखारी के, पण्डित प्रमाणित किया जाता है। लिपि रचना एक प्रकार की कला है, अतः सुन्दर लिपिकार कलाविद् कहा जा सकता है विद्यावान् नहीं। यह बात दूसरी है कि यदि एक मनुष्य पूर्ण पंडित भी हों, सुन्दर लेखक भी हों तो उसे हम विद्वान् लहिया (नकलनवीज) कह सकते हैं।

अब हम इसका विवेचन करते हैं कि लौंकाशाह के अक्षरों की सुन्दरता किस लिए बताई जाती है? क्या इसका कारण यह तो नहीं है कि, लौंकाशाह का जन्म काठियावाड़ में हुआ और बाद में व्यापारार्थ गुजरात में आकर वास किया अतः उनकी गुर्जर लिपि तो स्वतः सुन्दर सिद्ध है। परन्तु जैन लिपि जो देव नागरी अक्षरों के अनुकूल है, और जैनों के तमाम आगम प्राकृत और संस्कृत भाषा में हैं, अतः इस देवनागरी लिपि का पृथक् अभ्यास करना, एक गुर्जर भाषा भाषी के लिए जरूर महत्त्व का परिचायक है। क्योंकि, पहिले जमाने में आज कल की भाँति पाठशालादिकों का सुचारु प्रबंध नहीं था, और न सर्वत्र सर्व-विषयों के अभ्यास का अबाध प्रचार था, अतः लौंकाशाह का अन्य भाषा भाषी होकर भी देवनागरी लिपि में सुन्दर लिखना

ही स्थानक मार्गियों की एकान्त प्रशंसा का प्रधान हेतु है। लौंका-शाह ने जैन यतियों के पास रह कर ही लिपिज्ञान सीखा था। इसका भी यत्र तत्र उल्लेख नजर आता है। जो हो! इससे तो यह सिद्ध होता है कि लौंकाशाह को केवल लिपिज्ञान याद था, न कि शास्त्र ज्ञान, और यही इनकी महिमा का कारण हो तो शायद संभव भी है। क्योंकि आज भी संसार में जो नकल करने का पेशा वाले या मुंशी हैं तो उनका परिचय अक्षरों की सुन्दरता से ही दिया जाता है, यहीं क्यों? इससे उनकी प्रशंसा और कीमत भी होती है। परन्तु किसी साहूकार या राजकर्मचारी की प्रशंसा अक्षरों से हुई हो यह उदाहरण हमारे ध्यान में आज तक भी नहीं आया।

वि० सं० १५७८ में लौंकागच्छीय यती भानुचंद्रजी ने दया-धर्म चौपाई लिखी है जिनमें लौंकाशाह को नाणावटी का व्यापारी लिखा है, परन्तु अक्षरों की सुन्दरता और विद्वत्ता के बारे में तो यतीजी के लेख में कहीं गन्ध भी नहीं मिलती है।

वि० सं० १६३६ में यति कान्तिविजयजी लिखित दो पन्नों में लौंकाशाह का सब जीवन चरित्र लिखा मिलता है, और स्थानकमार्गी समाज तथा विशेषतः स्वामी मणिलालजी का उस पर पूर्ण विश्वास है, किन्तु लौंकाशाह गृहस्थाऽवस्था में ही विद्वान् या सुन्दर लेखक था, इसका जिक्र इन पन्नों में भी नहीं है।

वि० सं० १८६५ में स्था० साधु जेठमलजी ने अपने समकित सार नाम के ग्रन्थ में लौंकाशाह के विषय में बहुत कुछ लिखा है। आपने लौंकाशाह का व्यवसाय नाणावटी का बताते हुए यह भी उल्लेख किया है कि जब उनको अपने नाणावटी

धंधे में अनर्थ नजर आया तो, उन्होंने इसे छोड़ शास्त्र-लेखन कर्म शुरू किया, पर यह तो इन्होंने भी कहीं नहीं बताया कि लौंकाशाह विद्वान् थे। फिर यह समझ में नहीं आता कि इतना कुछ होने पर भी, (बिना कुछ प्रमाणों के) मूंठ मूठ हमारे स्थानक मार्गी भाई, श्रीमान् लौंकाशाह पर यह अनर्थ क्यों गढ रहे हैं कि वे महा-विद्वान् थे। यदि कभी लौंकाशाह स्वयं स्वर्ग से उतर पड़े, और इस सुधार प्रिय नई रोशनी के स्थानक मार्गियों से पूछ बैठे कि अरे! साधुओं! व्यर्थ मुझे सभ्य संसार में क्यों हँसी का पात्र बना रहे हो। कब मैंने विद्वत्ता का काम किया? या कोई पुस्तक आदि की रचना की? जो तुम मुझे उनके आधार से विद्वान् बताते हो? मैं तुम्हारी इस झूठी प्रशंसा से जरा भी प्रसन्न नहीं किन्तु अतिशय अप्रसन्न हूँ। क्योंकि मिथ्या स्तुति प्रकाराऽन्तर से कलङ्क का ही कारण है। आगे से ऐसी झूंठी प्रशंसा कर मेरे पर कलङ्क न लगाओ, एतदर्थ सावधान करता हूँ। तो आप इसका क्या जवाब देंगे।

कई एक स्थानक मार्गियों का यह भी मत है कि लौंकाशाह ने अपने हाथों से ३२ सूत्रों की नकलें की थी?। संभव है— सुन्दर अक्षरों की योजना भी शायद! इसी की पूर्ति के लिये की जाती हो? क्योंकि बिना अक्षर लिपि के सुधरे; क्या कोई स्वाका! नकल कर सकेगा?। परन्तु यह कल्पना भी अब थोथी प्रमाणित हो चुकी है। क्योंकि स्वामी मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली में लौंकाशाह द्वारा ३२ सूत्र लिखी जाने वाली बात को भी मिथ्या घोषित करदी है, जिनका पूरा विवेचन आगे के प्रकरणों में होगा।

तात्पर्य यह है कि लौंकाशाह तो एक सामान्य व्यक्ति, एवं मध्यमःस्थिति का गृहस्थ था। न तो उसने कभी ३२ सूत्र लिखे और न उसके वर्णनीय अक्षर ही थे। न वह विद्वान् था, और न उसने कहीं कभी किसी गुरु के पास रह कर विनय-भक्तियुक्त हो ज्ञानाऽभ्यास ही किया था। और न कोई प्राचीन पुस्तक, पटावली, व इतिहास इन बातों को सत्य सिद्ध करते हैं। ऐसी दशा में यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि वह प्रगाढ विद्वान् और विख्यात लेखक था। यह बात तो एक साधारण मनुष्य भी जान सकता है कि, यदि लौंकाशाह कुछ भी विद्वान् होते और थोड़ा बहुत ही उन्हें जैनशास्त्रों का अभ्यास होता तो वे कभी भी सामायिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, और देव पूजा का निषेध नहीं करते। यदि दृष्टिराग, और मतपक्ष में बेभान होकर ही उन्होंने ऐसा किया, यह कहा जाय, तो फिर तेरहपंथी लोग भीखमजी के लिए भी तो यही कहते हैं, उसे भी सत्य मानना चाहिए। यदि तेरह पंथियों का कहना सत्य नहीं मानते हों तो आपका (स्थानक मार्गियों का) कहना ही हम क्यों सत्य मानें। अर्थात् जैसा आपका कहना निःसार है, वैसा तेरह पंथियों का; क्योंकि तुम दोनों एक ही वृक्ष की तो दो शाखाएँ हो।

स्थानकमार्गी साधु आज लौंकाशाह को भले ही विद्वान्, क्रांतिकारक, और सुधारक आदि मिथ्या विशेषणों से विभूषित करें, किन्तु कागजी घुड़ दौड़ में वे अब भी तेरहपंथियों की बराबरी नहीं कर सकते हैं। कारण तेरहपंथी तो अपने पूज्यजी को पूज्य परमेश्वर, तीर्थेश्वर, तीर्थनाथ, शासनाधीश, शासननाथ,

आदि कई उपमाएँ लगाते हैं। जिन्हें स्थानकमार्गी समाज, धर्म-नाशक, दयादान, उत्थापक, मिथ्यात्वी, कुलिंगी, पाखण्डी, समझते हैं। परन्तु यही हाल लौंकाशाह और लवजी धर्मसिंहजी का है। सत्य बात तो यह है कि ऐसे निरर्थक मिथ्या विशेषणों की कल्पना करने के बजाय, किसी व्यक्ति के थोड़े भी हो पर प्रमाणिक गुणविशेष, यदि जनता के सामने रखे जायँ तो उनकी विशेष कीमत हो सकती है। अन्यथा मिथ्या गुण वर्णित व्यक्ति तो होली के बादशाह की तरह केवल हास्यभाजन ही समझा जाता है।

उक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि लौंकाशाह का शास्त्रज्ञान कुछ था ही नहीं, क्योंकि इसके लिए कोई भी पुष्ट प्रमाण हमें अद्याऽवधि नहीं मिला है। जो कुछ मिलता है वह सामान्य लौकिक ज्ञान का ही द्योतक है। स्थानक मार्गियों ने जो इनके विषय में बढ़ा चढ़ा के लिखा है, यह इनकी मिथ्या कल्पना एवं स्वकीय वाक् प्रपञ्च का विस्तार है। तथा जो बात उनके ३२ सूत्रों की नकल करने की है, वह भी खपुष्पवत् झूंठी है, जिसका पूरा खुलासा आप नवें प्रकरण में पढ़ें।

प्रकरण-नौवां

क्या लौंकाशाह ने ३२ सूत्र लिखे थे ?

कई एक मनुष्यों की यह धारणा है कि लौंकाशाह ने निज हाथों से ३२ सूत्रों की दो दो नकलें (प्रतिलिपिएं) करी थी जिनमें एक एक तो यतिजी को दी, और एक एक अपने पास रहने दी, और इन ३२ सूत्रों के आधार पर ही अपना नया मत चलाया, प्रमाण में आज भी आपके अनुयायी इन ३२ सूत्रों को मानते हैं। उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण ये हैं:—

श्रीमान् वाड़ीलाल मोतीलाल शाह—

"× × × *लौंकाशाह यतियों के उपाश्रय में गए × × × उतारने के लिए दिए हुए शास्त्रों से एक-एक नकल यतियों के लिए और एक-एक घरू उपयोग के लिए लिखी, इसी तरह लौंकाशाह के पास एक अरसा में अच्छा जैन साहित्य इकट्ठा हो गया।"*

ऐति. नोंध, पृष्ठ ६७

× ×

आचार्य विजयानन्द सूरि—

"× × × अहमदावाद में एक लौका नामक लिखारी यतियों के उपसरा में पुस्तक लिख के आजीविका चलाता था, एक दिन उसके दिल में बेईमानी आई, और एक पुस्तक के सात पन्ने बीच में से लिखना छोड़ दिया, तब पुस्तक के मालिक ने पुस्तक अधूरा देखा तो लुंका लिखारी का तिरस्कार कर उपाश्रय से निकाल दिया और दूसरे (शास्त्र) भी उससे लिखवाना बन्द कर दिया × × × ।"

अज्ञान तिमिर भास्कर पृष्ठ २०२-३

आपने स्थानकवासी मान्यता के अनुसार यह लिखा होगा ।

× × ×

श्रीमान् संतबालजी—

"× × × यतिजी लौंकाशाह के यहां गोचरी को गए, वहा वार्तालाप हुआ × × × यतिजी ने शास्त्र लिखने को दिए, पर उनको यह खयाल नहीं था, कि आज यह लहिया है, वह कल कैसा होगा ?' लौंकाशाह को शास्त्र मिलता गया और वह उतारा करते गए × × × ।"

"जैन प्रकाश ता० १८-७-३५ पृष्ठ ३३९ गुजराती का सार"

× × ×

इन्हीं उपर्युक्त उद्धरणों का उल्लेख यत्र तत्र अन्य लेखकों ने भी किया है। इन लेखों से यह पाया जाता है कि लौंकाशाह ने जो सूत्र अपने लिए गुप्त रूप से लिखे थे, वे यतियों

की आज्ञा विना तस्कर वृत्ति से लिखे थे, और इस प्रकार यतियों की चोरी की थी, आप की इस वृत्ति का अनुकरण आज भी आप के अनुयायियों में पूर्ववत् ही विद्यमान है, और सैकड़ों ग्रंथों से ग्रंथकर्त्ताओं के मूल पाठ निकाल कर अपने नाम से नये पाठ बना कर रखने के अनेकों उदाहरण विद्यमान है।

यह लोकोक्ति बिलकुल ठीक है कि झूठ बोलने वाले और जमीन पर सोने वाले के कोई मर्यादा नहीं होती है। जब स्थानक मार्गियों के लेखों से लौंकाशाह पर चोरी करने का आक्षेप आता है, तब उसका निवारण करने को स्था० साधु अमोलखर्षिजी अपने "शास्त्रोंद्धारामीमांसा" नाम के ग्रंथ में लिखते हैं:—

"लौंकाशाह साधु दर्शन का प्रेमी होने से एक दिन प्रातः काल यतियों के दर्शनार्थ उनके उपाश्रय में आया, × × × यतिजी ने एक सूत्र लिखने को दिया। लौंकाशाह ने उसकी दो प्रतिलिपि लिख कर यतिजी को दी और कहा कि एक प्रति आपके लिये और एक प्रति मेरे लिए मैंने लिखी है, यह सुन सरल स्वभावी और ज्ञान प्रचार के वडे प्रेमी यतिजी ने खुश होकर कहा कि आप भी इसे पढ़ना, × × × इस तरह से करके लौंकाशाह ने बत्तीस सूत्रों की भी दो दो प्रतिलिपिएँ कीं। × × × आगे आप लिखते हैं कि नन्दी सूत्र में ७२ सूत्रों के नाम हैं पर ३२ सूत्रों के अलावा ४० सूत्र विच्छिन्न होगए ह।'

"शास्त्रोद्धार मीमांसा पृष्ट ५७"

यह युक्ति न तो वा. मो. शाह को सूझी और न संतबाल जी की स्मृति में आई। पर ऋषिजी ने यह नयी युक्ति गढ़ कर लौंकाशाह पर आते हुए चोरी के दोष का निवारण कर दिया। सच्ची भक्ति तो इसी का ही नाम है कि अपना दूसरा महाव्रत भले ही भाड़ में चला जाय, पर धर्म गुरू लौंकाशाह पर कोई कलङ्क न रहना चाहिए। फिर भी आपकी युक्ति में एक त्रुटि तो रह ही गई है। वह यह है कि वा. मो. शाह और संतबाल जी तो उस समय के यतियों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, और ऋषिजी उन्हें सरल स्वभावी तथा ज्ञान प्रचार के प्रेमी और लौंकाशाह के वंदनीय तथा पूजनीय मानते हैं। संतबालजी ने यतियों का लौंकाशाह के घर आना लिखा है। और वा. मो. शाह, एवं ऋषिजी उल्टा लौंकाशाह को उपाश्रय में भेजते हैं। इससे तो संतबालजी का बड़ा भारी अपमान होता है। और जब हम स्था. साधु मणिलालजी के लेख को देखते हैं तब पूर्वोक्त सब लेखों पर पानी फिरता नजर आता है। क्योंकि वे अपनी प्रभुवीर पटावली में लिखते हैं कि "लौंकाशाह का जन्म अरहटवाड़ा में हुआ, बाद वह अहमदाबाद गया। वहाँ बादशाह की नौकरी की तत्पश्चात् पाटण जाकर यति दीक्षाली इत्यादि यह बात स्वामीजी ने केवल कल्पना के किले पर ही नहीं खड़ी की है, किन्तु इसके लिए स्वामीजी को अनायास वि० सं० १६३६ के लिखे हुए लेख का सहारा मिला है। पर स्वामीजी ने इसमें न तो लौंकाशाह का उपाश्रय जाना लिखा है और न यतिजी का गोचरी निमित्त उसके घर जाना लिखा है तथा न लौंकाशाह ने चोरी या साहूकारी से कैसे भी ३२ सूत्र या एकाध

सूत्र की भी नकल की हो इसका उल्लेख किया है। ऐसी दशा में वा. मो. शाह, स्वामी संतवालजी, अमोलखर्षिजी आदि की पूर्व कल्पना स्वतः संदिग्ध सिद्ध है। क्योंकि मणिलालजी ने जो कुछ लिखा है उसको अन्य प्रमाण भी पुष्ट करते हैं। यथा—स्थानक० साधु जेठमलजी ने वि० सं० १८६५ में समकितसार नाम का जो ग्रन्थ बनाया है, उसमें भी लौंकाशाह का जीवन लिख, तत्सम्बन्धी कई प्राचीन चौपाईयें उद्धृत की हैं. पर उनमें भी यह कहीं नहीं लिखा है कि लौंकाशाह ने ३२ सूत्रों की एक एक या दो दो नकलें की थीं। इनसे आगे चलकर वि० सं० १५७८ में लौंका गच्छीय यति भानुचद्र ने दया धर्म चौपाई लिख लौंकाशाह का पूरा जीवन चरित्र वर्णन किया है,पर ३२ सूत्रों की नकल की तो कहीं गन्ध तक भी नहीं मिलती है। जब लौंकाशाह के ४० वर्ष के पश्चात् का ही यह प्रमाण है तो जरूर मान्य है, तद्वत् वि० सं० १६३६ का स्वामी मणिलालजी वाला, और वि० सं० १८६५ का स्वामी जेठमलजी का लिखा प्रमाण भी अवश्य विश्वसनीय है। और उपर्युक्त तीनों प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि लौंकाशाह ने ३२ सूत्र तो क्या पर एक भी सूत्र नहीं लिखा। फिर समझ में नहीं आता कि वा. मो. शाह, संतबाल जी, और अमोलखर्षिजी ने यह नयी कल्पना कहाँ से ढूँढ निकाली है? और इसके लिए उनके पास क्या प्रमाण है? यदि एक भी प्रमाण नहीं तो इस वीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक युग में ऐसे स्वकल्पित ढकोसले की कुछ भी कीमत शेष नहीं रहती है। स्थानक मार्गी समाज को चाहिए कि वे पहिले अपने घर में यह निपटारा करलें कि संतबालजी

का लिखना झूठा है, या मणिलालजी का लेख मिथ्या है।

अब हम स्वयं इनके लिखे लेखों को ऐतिहासिक कसोटी पर कस के दिखाते हैं कि कितने''भर इन लेखों में सत्यांश है ? अथवा केवल काल्पनिक कागजी कपोत ही उड़ाए गए हैं।

"*लौंकाशाह ३२ जैनागमों की दो दो प्रतिएँ तैयार कर चुके थे उस समय भण्डार के स्वामी यतिजी को यह खबर मिली कि लौंकाशाह गुप्त रूप से एक एक प्रति पृथक् निज के लिए रात्रि के समय लिखते हैं। तब उनसे लिखवाना बंद कर दिया* × × ×" पर हमारी *समझ से स्थानकमार्गी भाइयों का यह कहना इतिहास की दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि लौंकाशाह ने अपने हाथों से ३२ जैनागमों की दो दो प्रतिएँ लिखी थीं; तब उनमें से एकाध प्रति या एकाध छोटा मोटा पन्ना ही उनके हस्ताक्षरों वाला कहीं भी उपलब्ध नहीं होता इसका कारण क्या है ? क्योंकि चौदहवीं पन्द्रहवीं सदी के लिखे हुए तो इस समय अनेकों ग्रन्थ उपलब्ध हैं तो फिर सोलहवीं शताब्दी के लिखे लौंकाशाह के हस्तलिखित अक्षरों के ही नहीं मिलने में क्या विशेष कारण है* × × × ?"

जैन युग वर्ष ५ अंक १०

इस प्रमाण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि लौंकाशाह ने अपने लिये या यतिजी के लिए कोई भी सूत्र नहीं लिखा था, विशेष खुलासा हम आगे चल कर फिर करेंगे।

अब एक ओर तो हमारे अमोलखर्षिजी लिखते हैं कि ३२ सूत्रों के अलावा सब सूत्रों का विच्छेद हो गया, और दूसरी ओर लौंकाशाह के जन्म के पहिले के भी अनेक सूत्र हस्त लिखित मिलते हैं, यह परस्पर विरोधोक्ति न जाने क्या जान कर लिखी गई है ? ! हम इनसे यह पूछना चाहते हैं कि जब लौंकाशाह ने ३२ सूत्रों की २-२ नकलें लिखीं तो मात्र ६४ नकलें तो सूत्रों की ही हो गई, और विश्वास है ये बृहद् कार्य ग्रंथ हजारों पृष्ठों में समाप्त हुए होंगे पर आज बारीकी से ढूँढने पर भी कहीं लौंकाशाह के हस्ताक्षरों से भूषित एक पन्ना भी उपलब्ध नहीं होता है ऐसी हालत में इस बीसवीं सदी के शोध युग में यह क्यों कर विश्वास हो सकता है कि लौंकाशाह ने भी कभी ३२ सूत्रों की नकलें की थीं ? । सत्य बात तो यह है कि लौंकाशाह ने ३२ सूत्र तो क्या एक भी सूत्र नहीं लिखा, इनके अनुयायी जो झूठी गप्पे हाँकते हैं वह केवल लौंकाशाह की महत्ता बताने के लिए ही ।

अब यदि कोई यह प्रश्न करें कि जब लौंकाशाह ने ३२ सूत्र नहीं लिखे तो उनके अनुयायियों में फिर इन ३२ सूत्रों की मान्यता क्यों ? । इसके प्रत्युत्तर में यही लिखना पर्याप्त है कि न तो लौंका मताऽनुयायी ३२ सूत्रों की निर्युक्ति टीका मानते हैं और न भाष्य चूर्णिका, किन्तु ३२ सूत्रों पर किए हुए गुर्जर भाषा मय टब्बा को ही ये मान्य मानते हैं और ३२ सूत्रों पर सर्व प्रथम टब्बा श्री पार्श्वचंद सूरि ने वि० सं० १५६० के आस पास किया था । एवं इस समय से पहिले ही अर्थात् वि० सं० १५३२ में लौंकाशाह का देहान्त हो चुका था, अतः

यह भी सिद्ध है कि लौंकाशाह ३२ सूत्रों को लिखना तो क्या पर एकाध सूत्र को मानता तक भी नहीं था। इसके नहीं लिखने का और नहीं मानने का एक अन्य भी कारण है कि "जैनाऽऽगम मूल तो अर्ध मागधी में और उन पर टीका संस्कृत में हैं" अतः लौंकाशाह, स्वतः, इन भाषाओं की अनभिज्ञता के कारण इन आगम सूत्रों से पराङमुख था। लौंकाशाह के लिखने मानने की बात तो दूर रही, किन्तु उस के पास अन्य लिखित भी सूत्र प्रति नहीं थी, यह बात लौंकाशाहका जीवन वि० सं० १६३६ के लेख से सिद्ध होती है। उसमें लिखा है कि लौंकाशाह ने बादशाह की नौकरी छोड़ कर तत्क्षण ही यति दीक्षा ली।

अब लौंकाशाह के अनुयायियों में ३२ सूत्रों के विषय में जो मान्यता है उसका भी कारण हम प्रदर्शित कर देते हैं। कहा जाता है कि तपागच्छवालों ने जब पार्श्वचंद्रसूरि को गच्छ से अलग कर दिया, उस समय लौंकाशाह तो विद्यमान नहीं था, पर लौंकाशाह के अनुयायियों को यह एक बड़ा भारी सुअवसर हाथ लगा। यह तो सभी जानते हैं कि दो जनों की फूट होने पर तीसरा मनुष्य स्वस्वार्थ बना लेता है" इसी प्रकार लौंकों के अनुयायियों ने श्री पार्श्वचंद्र सूरि से जाकर प्रार्थना की कि आप जैन सूत्रों का अर्थ गुर्जर भाषा में करदें तो हम लोगों पर बड़ा भारी उपकार होगा, पार्श्वचंद्र सूरि को यह पता था कि ये जैन धर्म के विरोधी हैं, अतः सूरिजी ने उन लौंकों से तीन शर्तें तय की। (१) तो यह कि जैन मन्दिर मूर्त्तियों की निंदा नहीं करना। (२) री यह कि जैन मन्दिर में जाकर जिन प्रतिमा के दर्शन हमेशा करना। (३) री यह कि पूर्वाचार्यों

के अवगुणवाद नहीं बोलना। यदि तुम इन तीनों बातों की प्रतिज्ञा लो ! तो मैं तुम्हें मूल सूत्रों पर गुजराती टब्बा (भाषान्तर) बना दूँ। लौंकाऽनुयायियों ने इसे स्वीकार किया, तब सूरिजी क्रमशः इन्हें टब्बा बना २ कर सूत्र देते गए, इस प्रकार टब्बा सहित ३२ सूत्र तो लौंकों के हाथ लग गए, परन्तु बाद में वे (लौंकाऽनुयायी) अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होगए, उन्हें अपनी प्रतिज्ञा से विचलित देख सूरिजी ने शेष सूत्र टब्बा बना के उन्हें देना बन्द कर दिया। इस प्रकार जो ३२ सूत्र लौंकों के हाथ लग गए सो लग गए और वे इन्हें ही मानने लगे। इन बत्तीस सूत्रों में मूर्त्ति विषयक पाठ है या नहीं ? यह ज्ञान लौंकों को उस समय बिलकुल नहीं था। यदि होता तो वे ३२ सूत्र भी कदापि नहीं मानते। क्योंकि जैसे ४५ सूत्रों में से ३२ सूत्रों को इन्होंने पृथक् किया, वैसे ही ३२ में से भी मूर्त्तिपूजा वाले सूत्र जुदे कर देते, परन्तु मजा तो यह रहा कि वे ३२ सूत्रों का मर्म जान नहीं सके, और जितने सूत्र सूरिजी से प्राप्त हुए उन्हें ज्यों का त्यों मानते रहे। परन्तु काल क्रमात् इनकी हठवादिता धीरे धीरे दूर होगई और लौंकाशाह के अनुयायी भी मूर्त्तिपूजा मानने लगे। तथा पंचांगी सहित सब सूत्रों को भी मान्य दृष्टि से देखने लगे। इस तरह यह सवाल तो यहीं हल हो गया।

अनन्तर धर्मसिंहजी और लवजी नामक साधुओं ने लौंकों का विरोध कर "ढूँढिया पन्थ" नाम से नया मत निकाला, और जोरों से मूर्त्ति का विरोध करना शुरु किया, जो सांप्रत में भी वर्तमान हैं। पर ३२ सूत्रों की मान्यता तो इस नये मत में भी

पूर्ववत् स्थिर ही रहीं। हाँ! इन्होंने जहां २श्री पार्श्वचंद्रसूरि कृत टव्वा में मूर्त्ति समर्थक लेख पढ़ा, उसे बदल कर नया अर्थ गढ़ दिया। क्योंकि धर्मसिंहजी और लवजी को भी तत्वतः कुछ ज्ञान नहीं था, यदि होता तो वे सूत्रों के अर्थ को न बदल कर, जैसे लौंकाऽनुयायियों ने ४५ सूत्रों में ३२ ही को मान्य रक्खा, तद्वत् ये भी ३२ में से मूर्त्ति समर्थक सूत्रों का बहिष्कार कर शेष सूत्रों को ही मान्य रखते तो इस प्रकार टव्वा को बदलना, और माया सहित मिथ्यात्व सेवन करना नहीं पड़ता।

खैर, श्री पार्श्वचंद्रसूरि ने जो टव्वा बनाया वह पूर्व टीकाओं के आधार पर ही बनाया था। जो भाव टीका में था ठीक वही सूरीजी के टव्वा में बतलाया। इस तरह टीकाऽनुपूर्वी टव्वा को कुछ काल तक तो अक्षुण्ण मान मिलता रहा, पर बाद में जब नये मत के प्रवर्तक निकले और इन्होंने मूर्तिपूजा का प्रबल विरोध करने के साथ मूर्त्तिविषयक टव्वा को भी बदल कर "कहां साधु, कहाँ ज्ञान, कहाँ छद्मस्थ तीर्थङ्करादि" इत्यादि अर्थ कर दिया। तब से लौंकाऽनुयायी तो श्री पार्श्वचंद्रसूरिकृत टव्वा को, और धर्म-सिंह-लवजीअनुयायी, तथा स्थानकमार्गी, धर्मसिंह कृत टव्वा को मानते रहे हैं। पर स्वामी अमोलखर्षिजी को तो यह भी स्वीकार नहीं हुआ, उन्होंने इस परिष्कृत टव्वा को पुनः परिष्कृत कर हाल ही में ३२ सूत्रों का भाषाऽनुवाद किया है।

जैनियों में यह मान्यता सदा से चली आई है कि जो कोई प्राचीन मूल सूत्रों में एकाध मात्रा को भी न्यूनाधिक करे, वह अनंत संसारी होता है, पर हमारे ऋषिजी ने ३२ सूत्रों का भाषा ऽनुवाद करते समय अर्थ में फेरफार किया सो तो किया ही, पर

आपने तो मूल सूत्रों के मूल पाठों को भी बदल दिया। नमूनार्थ देखिये:—

सूत्र श्री राजप्रश्नीजी और जीवाभिगम सूत्र में देवताओं ने श्री जिन प्रतिमा का पूजन किया है, वहां धूप देने के विषय में मूल पाठ है कि:—

"धूवं दाउणं जिणवराणं"

टीका:—धूपं दत्वा जिनवरेभ्यः।

पार्श्वचन्द्र सूरिकृत टब्बा:—धूप दीधुं जिनराज नें।

लौंकागच्छीयों की मान्यता, धूप दीधु जिनराजने,

इन—मूल पाठ, टीका, और टब्बा से यह स्पष्ट होता है कि जिन प्रतिमा को जिनराज समझ के तीन ज्ञान संयुक्त, सम्यग् दृष्टि देवता ने "धूप दिया है" यह बात मूर्त्तिपूजा विरोधी लौंकामतानुयायी एवं स्थानकमार्गी ४५० वर्षों से बराबर मानते चले आरहे हैं। पर यह बात वर्तमान काल के ऋषिजी को न रुची, और आपने इस मूल पाठ को बदल कर:—

"धूवं दाउण पडिमाणं"

यह पाठ बदल दिया और इसका अर्थ किया है। "धूप दिया प्रतिमा को" और प्रतिमा 'का अर्थ आपने जिनप्रतिमा न कर अन्य प्रतिमा अर्थात् कामदेव की प्रतिमा कर दिया है। आपके इस पाठ परिवर्त्तन का यह कारण हो सकता है कि "कुछ वर्षों में हमारा भी लेख जब प्राचीन हो जायगा, तब यह सर्वांश सत्य सिद्ध नहीं होगा तो नहीं सही, पर कई यज्ञजनों को शंकाशील तो जरूर करेगा। पर ऋषिजी यह अनर्थ करते समय इसे कतई भूल गए

कि भविष्य युग तो ऐतिहासिक सत्य साधनों की शोध का आएगा, उसमें यह बालू की दीवार कैसे टिक सकेगी ? औरों को जाने दो पर ऋषिजी के लेख को तो स्थानकमार्गियों के हाथ से लिखे सूत्र भी झूठा करार देने में काफी है। तथा मूल पाठ "धूवं दाऊणं जिणवराणं" को बदल अपना नया पाठ बनाना, विद्वत्समाज में हास्य का पात्र बनने ही का तो उपाय है जरा इसे भी तो सोच लीजिए।

अस्तु ! प्रसंगोपात इतना कुछ कहने के बाद हम पुनः अपने प्रकृत विषय का अन्तिम निर्णय करते हैं कि उपरि निर्दिष्ट प्रमाणों से "लौंकाशाहने न तो ३२ सूत्र लिखे और न लौंकाशाह की विद्यमानता में ३२ सूत्रों की कोई मान्यता थी ही" यह पूर्णतः परिस्फुट हो जाता है।

यदि लौंकाशाह ने कुछ लिखा हो तो सूत्रों के अतिरिक्त कोई ग्रन्थादि लिखा होगा ऐसा वीरवंशावली के उल्लेख से पाया जाता है परन्तु लौंकाशाह ने तो आरंभ में ही अपनी योग्यता का दिग्दर्शन करवा दिया। जो आचार्य विजयानन्द सूरि ने लिखा है कि लौंकाशाह ने एक पुस्तक के कई पन्ने लिखना छोड़ देने से यतियो ने उससे लिखाना वन्द करदिया।

लौंकाशाह के समकालीन वि. १५२४ में कडूआशाह नाम के एक गृहस्थ ने अपने नाम से जो नया 'कडुआमत' निकाला था उसमें उन्होंने द्वेष के कारण साधु संस्था का बहिष्कार करते हुए भी पंचांगी संयुक्त जैना ऽ गमों को सम्मत माना, और लौंकाशाह का भीषण विरोध किया, उन्होंने तो यहाँ तक लिखदिया कि लौंका-मतवालों के घर का अन्न जल भी नहीं लेना चाहिए। ऐसी

हालत में सुज्ञ पाठक स्वयं सोच सकते हैं कि उस समय के लोग लौंकाशाह को किस दृष्टि से देखते थे। आगे हम यह बतावेंगे कि लौंकाशाह के समय में जैन समाज की क्या परिस्थिति थी, वाचक वृन्द इसके लिए राह देखें।
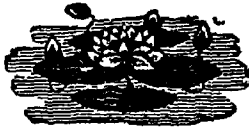
प्रकरण-दशवां

लौंकाशाह के समय जैन समाज की परिस्थिति

किसी भी इतिहास के पाठक से वह बात छुपी हुई नहीं है, कि इस कलिकाल पंचम आरा और हुण्डा सर्पिणी आदि कारणों से समग्र भारत पर, एवं विशेषतः जैन-शासन पर किन किन तरह से आपत्तियों और संकट के बादल मंडरा रहे थे, और किन किन कठिनाइयों ने आकर घेरा था, जिससे मध्योदय प्राप्त भी भारत का भाग्य भास्कर अस्त प्राय होगया था, जैसेः—लगातार कई वर्षों तक भीषण दुष्काल का पड़ना, जैन साधुओं को अपने कठिन नियमो के कारण नाना संकट सहना, पुष्पमित्र, मिहिरगुल, और सुन्दरपाण्डेय जैसे अधम नरेशों का जैन धर्म पर दारुण आक्रमण करना, शंकराचार्य और बसव जैसे अन्य मताऽवलम्बियों का तथा नीच यवनों का हमला होना, काल के कलुषित प्रभाव से साधुओं में आचार शैथिल्यता आना, एवं चैत्यवास आदि विकट समस्या में जैन धर्म का परिरक्षण करना कोई साधारण प्रश्न नहीं पर एक तरह से वड़े झमेले का प्रश्न था, फिर भी शासन की रक्षार्थ उस समय जैनाचार्यों ने अनेक लक्ष्य विन्दुओं को दृष्टि में रखकर जिस प्रकार जैन शासन का रक्षणार्थ आत्मभोग दिया उसे सुनने मात्र से ही कलेजा कांप उठता है, नेत्रों से नितरां अश्रुधारा वहने लगती है और रह २ करके हृदय से एक अन्तर्वेदना उठती है जो

चण भरके लिए आत्मा को जड़वन् बनादेती है। क्योंकि एक ओर तो गृह क्लेश, चैत्यवास, और शिथिलाचार को दूर करना, तथा दूसरी ओर विधर्मियों के होते हुए आक्रमणों को सहन कर शास्त्रार्थ में उनसे विजय माला छीनना, तीसरी ओर पूर्वाचार्यों द्वारा संस्थापित शुद्धि मिशन द्वारा नित नये जैन बनाते रहना तथा शासन की नींव दृढ़ रखने को जैन मन्दिर मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करवाना, और अनेक विषयों के अनेक ग्रन्थो का निर्माण करने में संलग्न रहना, इत्यादि उस भीषण परिस्थिति मे जो शासन सेवा उन महान् प्रभावशाली आचार्यों ने की है वह कदापि भूली नहीं जा सकती है।

आज यह बात कह देना वच्चों का खेल सा होगया है कि पूर्व समय में जैन साधु शिथिलाचारी हो जैन शासन को वड़ी हानि पहुँचाई थी। पर यदि थोड़ासा परिश्रम कर तत्कालीन इतिहास को देखा जाय तो, यह कहे बिना कदापि नहीं रहा जायगा कि उस विकट समय में चाहे उनमें से कोई आचार्य अपवाद सेवी भले ही रहे हों, पर उस समय उन्होंने हजारों आपत्तियें उठा कर भी जो काम किया है, वह उनके बाद सहस्रांश भी किसी ने किया हो ऐसा एक भी उदाहरण दृष्टि-गोचर नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि उस विकट समय में उन आचार्यों ने जैन धर्म का जीवन सुरक्षित रक्खा, तो भी कोई अतिशयोक्ति नहीं है। भगवान महावीर स्वामी से १००० वर्ष तक पूर्व-श्रुत ज्ञान का प्रभावशाली युग है, उसके बाद वीरात् ग्यारवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी का काल चैत्यवास का समय है। इन पांच सौ वर्षों में जैनाचार्यों ने जितने राजाओं को जैन

बनाया, तथा जितने अजैनों को जैन बनाया, जितने तात्विक विषयों के ग्रंथ बनाए, और जितने शास्त्रार्थ कर विजय वैजयन्ती फहराई उतने पीछे के इतिहास में नहीं मिलते हैं। और यह भी नहीं है कि उस समय सब शिथिलाचारी एवं चैत्यवासी ही थे, क्योंकि उस समय भी कई एक क्रियापात्र एवं क्रिया उद्धारक हुए हैं। और उस समय जो केवल चैत्यवासी, एवं शिथिलाचारी ही थे, उनकी नसों में भी जैन धर्म का गौरव अक्षुण्ण रखने को वह जोश भरा हुआ था, जो पीछे के साधुओं में आंशिक रूप से ही विद्यमान रहा। परन्तु आज हम आलीशान उपाश्रय, स्थानक और गृहस्थों के बंगलों में आराम करते हुए भी कुछ नहीं करते हैं, केवल गृहस्थों पर दम लगा रहे हैं, वस्तुतः शिथिलाचार और चैत्यादिमठवास तो यही है। किन्तु अपनी गलती न देख उन पूर्वज महापुरुषों को शिथिलाचारी आदि से संबोधित कर उनकी निंदा करना यह भीषण कृतघ्नता ही है और संभव है आज इसी वज्र पाप से यह समाज रसातल में जा रहा है।

ज्यों ज्यों क्रियावादी, वस्तीवासी, और उग्रविहारियों का जोर बढ़ता गया त्यों त्यों चैत्यवासियों की सत्ता हटती गई, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में तो चैत्यवासियों की सत्ता बिलकुल ही अस्त होगई, कारण उस समय कलिकाल सर्वज्ञ, भगवान हेमचन्द्र सूरि राजगुरु कक्कसूरि, मल्लधारी अभयदेवसूरि; वादीदेवसूरि, जयसिंहसूरि शतार्थी सोमप्रभसूरि, जिनचन्द्रसूरि आदि सुविहिताचार्यों का प्रभाव चारों ओर फैल गया था, और महाराज कुमारपाल जैसे जैन नरेशों की सहायता से जैन धर्म का खूब प्रचार होरहा था, इसी से चैत्यवासियों का उस समय प्रायः अंत

होगया था। अर्थात् उस समय कोई भी साधु चैत्य (मंदिर) में नहीं ठहरता था। किंतु सर्वत्र बस्तीवासियों का विजय डङ्का बजरहा था। यह समय जैनधर्म की उन्नति का था, इस समय में जैन जनता की संख्या १२ करोड़ तक पहुँच गई थी। पहिले जो पुकार वार वार की जा रही थी, कि चैत्यवास को दूर करो वह पुकार चैत्यवास दूर होने से स्वतः नष्ट होगई थी, और फिर दो शताब्दी तक शासन ठीक व्यवस्था पूर्वक चलता रहा, किसी ने यह आवाज नहीं उठाई कि इस समय क्रियोद्धार की आवश्यकता है।

इतना सब कुछ होने पर भी फिर हम लौंकाशाह के समय को जब देखते हैं तो ऐसा कोई कारण नहीं पाया जाता है कि जिससे उस समय किसी परिवर्तन की आवश्यकता हो। यदि कोई आवश्यकता होती तो उस समय अनेक गच्छों के आचार्य और हजारों साधु विहार करते थे, वे आवाज उठाये बिना नहीं रहते जैसे कि चैत्यवासियों, और शिथिला-चारियों के समय में हरिभद्रसूरि मुनिचन्द्रसूरी और जिनवल्लभसूरि आदि ने उपदेश किया था।

लौंकाशाह के समय मुख्यतः उग्र विहारी क्रिया पात्र ही थे, पर गौणता में कई शिथिलाचारी भी हों तो भी संभव है; कारण दो हजार वर्षों में कई प्रकार की उथल पुथल हुई, और इतनी बड़ी संख्या वाले समाज में यदि कोई २ शिथिलाचारी रह भी जायँ तो कोई बड़ी बात नहीं है। फिर भी वे ऐसे आचार भ्रष्ट नहीं थे, जिससे दुनियाँ उन्हें हेय समझें। उनका प्रभाव बड़े बड़े राजा महाराजाओं तक था। क्योंकि उनके पूर्वजों का जैन समाज पर बड़ा उपकार था, अतः यदि वे उनका आदर सत्कार करें,

उन्हें मान दें, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी उस समय कई लोग उपाश्रय वासी भी बन बैठे थे, जो पूर्व में चैत्यवासी थे। उनका चैत्यवास छुट जाने पर, वस्ती में रहते हुए भी उनकी कुल परम्पराऽऽगत प्रवृत्तिएँ ज्यों की त्यों विद्यमान ही रही होंगी, जो हो जहाँ विशाल समुदाय हो, वहाँ सब तरह के लोग हुआ ही करते हैं। किन्तु लौंकाशाह की प्रथम भेंट यदि उन उपाश्रय वासियों से हुई हो, और अज्ञात लौंकाशाह उनका शिथिलाचार देख भ्रमित हुआ हो, और उनके अवगुणवाद बोले हों तो उन यतियों ने उनका जरूर तिरस्कार किया होगा, और उनसे तिरस्कृत होकर ही यदि उसने अपना नया मत निकाला हो तो बहुत संभव है। कारण अन्य निमित्त तो कोई नजर नहीं आता, जिससे रुष्ट हो लौंकाशाह नया मत निकालता ?

स्थानकमार्गी साधु अमोलखर्षिजी, मणिलालजी, संतबालजी, और वाडीलाल मोतीलाल शाह ने लौंकाशाह के जीवन में स्थान स्थान पर वारंवार इस शब्द का प्रयोग किया है कि उस समय चैत्यवासियों का बड़ा भारी जोर था, और लौंकाशाह ने लाखों चैत्यवासियो को दयाधर्मी बनाया। किन्तु मेरे ख्याल से तो ये सब इतिहास ज्ञान से अभी अनभिज्ञ ही है और इनके शब्दों में समुदायकत्व का जहर भी टपक रहा है। पक्षपात के कीचड़ में फँस कर अपनी द्वेषाग्नि की ज्वाला निकाल कर आपने अपने दावानल व्यथित हृदय को शान्त किया हो, तो बात और है। अन्यथा आपके लेखों में कहीं न कहीं तो यह प्रमाण मिलता कि उस समय अमुक साधु चैत्यवास करता था। श्री हरिभद्रसूरि का समय वि० की सातवीं शताब्दी और जिनवल्लभसूरि का समय

विक्रम की बारहवीं शताब्दी का है और उस समय के तो प्रमाण मिलते हैं कि उस समय चैत्यवासी थे, और उनके विरोध में जैनाचार्यों ने पुकार भी की थी, किन्तु लौंकाशाह के समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में किसी ने भी यह पुकार नहीं की कि इस समय चैत्यवास या शिथिलाचार है, और इसके निवारणार्थ क्रिया उद्धार की जरूरत है। अतः इन पूर्वोक्त स्थानकमार्गी लेखकों के लेख का क्या अर्थ है, यह पाठक स्वय विचार करें।

शायद ! जैसे आज कई लोग स्थानक मानने वालो को "स्थानकवासी" कहते हैं, वैसे ही यदि उस समय चैत्य (मंदिर) मानने वालों को इन स्थानकवासी लेखकों ने "चैत्य वासी" समझा हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उस समय चैत्य मानने वालों की संख्या सात करोड़ की थी, और उनके धर्मोपदेशक अनेक गच्छों में बड़े बड़े विद्वान्, क्रियापात्र उग्र-विहारी और धर्म प्रभावक आचार्य विद्यमान थे, नमूना के तौर पर कतिपय विद्वान आचार्यों के नाम बतला कर इन मिथ्या-वादियों के बन्द नेत्रों को हम खोल देते हैं:—

१—तपागच्छाचार्य रत्नशेखरसूरि।
२—उपकेश गच्छाचार्य देवगुप्तसूरि।
३—आंचलगच्छाचार्य जयसिंहसूरि।
४—आगमगच्छाचार्य हेमरत्नसूरि।
५—कोरंटगच्छाचार्य सावदेवसूरि।
६—खरतर गच्छाचार्य जिनचंद्रसुरि।
७—चैत्रगच्छाचार्य मलचंद्रसूरि।
८—थारापद्रगच्छाचार्य शान्तिसरि।

९—धर्मघोषगच्छाचार्य साधुरत्नसूरि ।
१०—नागेन्द्रगच्छाचार्य गुणदेवसूरि ।
११—नाणक्यगच्छाचार्य धनेश्वरसूरि ।
१२—पीपलगच्छाचार्य अमरचंद्रसूरि ।
१३—पूर्णिमियगच्छाचार्य साधुसिंहसूरि ।
१४—ब्राह्मणगच्छाचार्य पज्जगसूरि ।
१५—भावहड़ाचार्य भावदेवसूरि ।
१६—मलधारीगच्छाचार्य गुण निर्मलसूरि ।
१७—रुद्रपाली आचार्य सोमसुन्दरसूरि ।
१८—वृद्धगच्छाचार्य सागरचंद्रसूरि ।
१९—संडेरा गच्छाचार्य शान्तिसूरि ।
२०—द्विवन्दनीगच्छाचार्य कक्कसूरि ।
२१—हर्षपुरीयगच्छाचार्य गुणसुन्दरसूरि ।
२२—निवृत्तिगच्छाचार्य माणकचंद्रसूरि ।
२३—पालीवालगच्छाचार्य यशोदेवसूरि ।
२४—विद्याधरगच्छाचार्य हेमचंद्रसूरि ।
२५—विधिपक्षआचार्य जयकेसरिसूरि ।
२६—हुंबड़गच्छाचार्य सिंह देवसूरि । (श्वेताम्बर)
२७—सिद्धान्तगच्छाचार्य सोमचन्द्रसूरि ।
२८—रत्नपुरागच्छाचार्य धर्मचंद्रसूरि ।
२९—राजगच्छगच्छाचार्य मलियाचन्द्रसूरि ।
३०—हरजीगच्छाचार्य महेश्वर सूरि ।

इत्यादि अनेक गच्छों के आचार्य उस समय विद्यमान थे। और

ये सब प्रतिष्ठित आचार्य हैं। इनका अस्तित्व, लौंकाशाह के समय के शिलालेखों और ग्रंथ निर्माण प्रमाण से सिद्ध होता है।

यदि हमारे स्थानकमार्गी भाई यह कहने की भी धृष्टता करलें कि ये सब के सब आचार्य शिथिलाचारवान् थे, इसीसे लौंकाशाह को अपना नया मत निकालना पड़ा ? तो सब से पहिले उन्हें अपने इस कथन की पुष्टि में प्रमाण देना होगा जिससे यह सिद्ध होजाय कि उस समय के सभी आचार्य आचार शिथिल थे। यदि हम थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि हाँ सभी आचार्य आचारहीन थे, पर आप यह तो नहीं कह सकेंगे कि उस समय भगवान् महावीर प्रभु के शासन का ही विच्छेद होगया था जिससे कोई भी साधु रहा ही नहीं। यदि कुछ साधुओं में शिथिलता आगई थी तो लौंकाशाह को केवल उस शिथिलता का ही विरोध करना था, पर उन्होंने तो ऐसा करने के बजाय, यति संस्था सामायिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, देव पूजा और दानादि का विरोध कर, एक दम सभी की नास्ति कर डाली। इससे तो स्पष्ट प्रमाणित होता है, कि लौंकाशाह को इस विषय मे कोई अन्य ही दर्द था, साधु-शैथिल्याचार का तो मात्र बहाना था। यदि यही कारण होता तो देवपूजा और दान आदि मोक्ष साधना की क्रिया का कदापि विरोध नहीं करता।

लौंकाशाह के ठीक समकालिन कडुआशाह नाम के जो व्यक्ति हुए, और जिन्होंने भी अपने नाम से पृथक् "कडुआपंथ" निकाला पर लौंकाशाह की तरह नितान्त अज्ञता का नाटय नहीं किया। कडुआशाह को जैन साधुओं के साथ द्वेष होने से उसने यद्यपि साधु संस्था का बहिष्कार जरूर किया, परन्तु जैन

मंदिरमूर्त्ति, जैनाऽऽगम पश्चाङ्गी सहित, तथा सामायिकादि मोक्ष साधिका जैन क्रियाओं को तो अपने मत में पूर्ण मान्य दिया।

"खल तोप" न्याय से यदि मान भी लिया जाय कि आचार शैथिल्य ही लौंकाशाह के नये मत निर्माण में हेतु भूत था, तो समझना चाहिए कि लौंकाशाह को जैन सिद्धान्त, स्याद्वाद, उत्सर्गापवाद एवं सामान्य विशेष का ज्ञान ही नहीं था। और जिस हेतु को ले कर आप अपने पूर्वजों पर लाञ्छन लगाने का दुःस्साहस कर नये मत का प्रचार किया वही हेतु इसके मत पर भी लागू होगया। पूर्ववर्त्ती जो जैनशासन करीब २००० वर्षों के दीर्घ समय में अनेक उथल पुथल, और दुष्कलादिकों के कारणी भूत होने से व्यक्तिगत शिथिलाचारी साधुओं से दूषित होगया था, पर वही दोप इसके मत को पूरे सौ वर्ष होने के पहिले ही लग गया, जैसे "लौंकामत के साधुओं के लिए पालकियें रखना, छत्र चामर, पग वन्दन आदिका करना" इत्यादि। जब लौंकामत भी दूषित होगया तो लौंकामत के यति जीवाजीको वि० सं० १६०८ में पुकार करके नया मत निकालना पड़ा, और जब जीवामत भी ढीला पड़ा तो वि० सं १७०८ में यति लवजी धर्मसिंहजी को फिर नया मत निकालना पड़ा और वह भी जब ढीला हुआ तब वि० सं० १८१५ में स्वामी भीषमजी ने पुनः नया मत निकाला। इन नव निर्मित मतों में यह खूबी थी कि लौंकाशाह ने जब सामा० पौस० प्रति० प्रत्या० दान और देवपूजा को कतई अस्वीकार किया तो यति लवजी ने इनसे भी विशेष मुँह पर डोरा डाल दिन भर मुँह पत्ती बाँधना शुरु किया। भीखमजी ने इन सब से भी बढकर दया दान को ही प्रायः निर्मूल कर दिया। परन्तु इस

विषोक्त विपरीत वातावरण में भी जैनधर्म के स्तंभरूप जैनाचार्य आज तक भी प्राणपण से अपनी पूर्व मान्यता पर डटे हुए हैं, और भविष्य में भी डटे रहेंगे।

वस्तुतः इतिहास इस बात को पुष्ट करता है कि लौंकाशाह के समय में जैन समाज की ऐसी परिस्थिति नहीं थी, जिससे किसी प्रकार के परिवर्त्तन की आवश्यकता हो। पर यह तो हमारी बदनसीबी का ही कारण था कि लौंकाशाह का यतियों द्वारा अपमान हो, और वह उससे रुष्ट होकर नये मत का बीजारोपण करे। जैन समाज को इस फूट से महान् हानि पहुँची है। जो जैन जनता लौंकाशाह के समय सात करोड़ की संख्या में थी, वही आज लौंकाशाह की फूट के कारण केवल १३ लाख की संख्या में आपहुँची है, और भविष्य में न जाने क्या होगा? यह आज लिखने का विषय नहीं है। प्रकृत विवेचन में हमने यह साफ बता दिया है कि लौंकाशाह के समय जैनियों की परिस्थिति क्या थी? अब अगले प्रकरण में इसका विवेचन करेंगे कि लौंकाशाह और भस्मग्रह का क्या सम्बन्ध है, पाठक धैर्य से उसको भी पढ़ें।

प्रकरण ग्यारहवां

लौंकाशाह और भस्मग्रह ।

श्री कल्पसूत्र में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के समय में आपकी राशि पर "भस्म" नाम के क्रूर ग्रह का आक्रमण हुआ, जिसका फल यह बताया है कि भगवान् महावीर के बाद २००० वर्षों तक "श्रमण संघ" की उदय, उदय पूजा न होगी, वे २००० वर्ष वि० सं० १५३० में पूरे होते हैं, तब वि० सं० १५०८ में लौंकाशाह और वि० सं० १५२४ में कडुआशाह ने जैन धर्म में उत्पात मचाया। और इन दोनों गृहस्थों के अनुयायी कहते हैं कि हमारे धर्म-स्थापकों ने धर्म का उद्योत किया। अब सर्व प्रथम तो यह सोचना चाहिए कि भस्म-ग्रह के कारण उदय उदय पूजा का न होना "श्रमणसंघ" के लिए लिखा है, तब कडुआशाह और लौंकाशाह तो गृहस्थ थे, इनके और भस्मग्रह के क्या सम्बन्ध है कि ये भस्मग्रह के उतरने के पूर्व ही धर्म का उद्योत कर सकें। परन्तु वास्तव में यह उद्योत नहीं था किंतु उतरते हुए भस्मग्रह की अन्तिम क्रूरता का प्रभाव था जो इन गृहस्थों पर वह डालता गया। क्योंकि जैसे दीपक अपने अंत काल में अपना चरम प्रकाश दिखा जाता है, वैसे ही भस्मग्रह भी जाता जाता एक फटकार दिखा गया। इधर तो भस्मग्रह का जाना हुआ और उधर श्रीसंघ की राशी परधूम्र केतु नामक महा विकराल

ग्रह का आना हुआ। इन दोनों अशुभ कारणों से ही इन दोनों गृहस्थों ने जैनधर्म में भयङ्कर फूट और कुसम्प डालकर जैन शासन को छिन्न भिन्न कर डाला, जिसके साथ में असंयति पूजा नामक अच्छेरा का भी प्रभाव पड़ा कि दोनों गृहस्थी असंयति होने पर भी श्रमण श्रमणीओं की उदय उदय पूजा उठाकर स्वयं को पुजवाने की कोशिश करने लगे। इसके अलावा इन दोनों गृहस्थों ने जैनधर्म का क्या उद्योत किया ? यह पाठक स्वतः सोचलें, यदि हम हमारे भाइयों को नाराज न करें और थोड़ी देर के लिए उनका कहना भी मानलें, परन्तु गृहस्थ लौंकाशाह के अनुयायी हमारे भाई क्या यह बतलाने का साहस कर सकेंगे कि लौंका-शाह ने नया मत निकाल कर जैन शासन का यह उद्योत किया जैसे कि :—

(१) क्या लौंकाशाह ने भारत के वाहर जाकर जैनधर्म का प्रचार किया था जैसे कि जैनाचार्यों के उपदेश से सम्राट् चंद्रगुप्त एवं संप्रति ने किया था।

(२) क्या लौंकाशाह ने किसी यज्ञ में बलि देते हुए जीवों को अभयदान दिलवाया ? जैसे आचार्य प्रीयग्रन्थ सूरि, आचार्य स्वयं प्रभ सूरि एवं रत्नप्रभसूरि ने लाखों प्राणियों के प्राण बचाये। इतना ही नहीं पर इन मान्य आचार्यों ने तो ऐसी घातुक प्रथा को ही निर्मूल बना दिया।

(३) क्या लौंकाशाह ने किसी जबर्दस्त राजा को प्रतिबोध कर जैन धर्म का उपासक बनाया ? जैसे आचार्य सुहस्ती सूरिने सम्राट् सम्प्रति को बनाया।

(४) क्या लौंकाशाह ने किन्हीं अजैनों को जैन बनाया ?

जैसे आचार्य रत्नप्रभसूरि आ० मुनिचंद्र सूरि धर्मघोषसूरि आदि जैनाचार्यों ने लाखों करोड़ों अजैनों को जैन बनाया।

(५) क्या लौंकाशाह ने कोई तात्विक विषय का ग्रन्थ निर्माण करवाया ? या स्वयं किया ? जैसे आचार्य सिद्धसूरि उमास्वात्याचार्य, वादी देव सूरि, आचार्य हरिभद्रसूरि हेमचंन्द्रसूरि और वाचक यशोविजयजी गणी जैसे विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की।

(६) क्या लौंकाशाह ने जैनधर्म के स्तम्भ स्वरूप जैन मंदिर, मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा कराई ? जैसे सैकड़ों जैनाचार्यों ने हजारों मंदिर मूर्तियों की प्रतिष्ठाएँ कराईं।

(७) क्या लौंकाशाह ने किसी राजसभा में जाकर अपने प्रतिवादियों के साथ शास्त्रार्थ कर कहीं विजय पताका फहराई ? जैसे वादीवैताल शान्तिसूरि, आचार्य वादीदेवसूरि, राजगुरुकक्कसूरि, आदि ने जैनधर्म का डंका बजाया था।

(८) क्या लौंकाशाह ने किसी निमित्त ज्ञान द्वारा राजा, महाराजा या प्रजा पर जैनधर्म का प्रभाव डाला ? जैसे आचार्य भद्रबाहु स्वामि ने डाला था।

(९) क्या लौंकाशाह ने किसी राजसभा में जाकर व्याख्यान दिया था ? जैसे आचार्य बप्पभट्टिसूरि, देवगुप्तसूरि हेमचन्द्र सूरि, जगद् गुरु श्री विजय हरि सूरि आदि ने दिया था।

इत्यादि सैकड़ों जैनाचार्यों ने तो भस्मग्रह की विद्यमानता में भी यथाऽवकाश बहुत कुछ प्रभावशाली कार्य कर शासन का उद्योत किया. किंतु भस्मग्रह के उतर जाने पर भी लौंकाशाह ने

धर्म का ऐसा क्या उद्योत किया कि उसके अनुयायी आज फूले नहीं समाते हैं ?

अब हम वादी प्रतिवादी रूप में कुछ प्रश्नोत्तर लिख इसका पूरा खुलासा करते हैं:—

प्रश्नः—जिस समय जैनों में हिंसा की मात्रा बहुत बढ़ीहुई थी, उस समय बढ़ती हुई हिंसा को रोक लौंकाशाह ने दया धर्म का प्रचार किया।

उत्तरः—दया धर्म का प्रचार तो तीर्थङ्कर महावीर ने किया और उनके बाद जैनाचार्यों ने उसका पोषण किया, फिर लौंकाशाह ने कौनसा दया धर्म नया फैलाया ? और किस जगह जीव दया पलाई ?

प्रश्नः—लौंकाशाह के समय मंदिरों के नाम पर घोरे हिंसा होती थी, उसे बन्द करवा के ही लौंकाशाह ने दयाधर्म का प्रचार किया।

उत्तरः—लौंकाशाह ने मंदिरों का विरोध करके तो मंदिरों को कम नहीं किया, पर सोते हुए समाज को जागृत कर उल्टी मंदिर मूर्त्तियाँ की तो खूब वृद्धि ही की। जरा शिलालेखों की ओर दृष्टि डालकर देखिये तो सही कि लौंकाशाह के पूर्व के जितने मंदिर मूर्त्तियों के शिलालेख मिलते हैं उनसे करीबन बीस गुने ज्यादा शिला लेख लौंकाशाह के उत्पात करने के बाद के मिलते हैं। इससे यह मालूम पड़ता है कि लौंकाशाह के विरुद्ध उपदेश से जनता की श्रद्धा मंदिर मूर्तियों से न्यून होने के बजाय उनमें खूब बढ़ी। लौंकाशाह तो उस समय अपने अपमान के कारण बेभान था, उसे क्या मालूम था कि मंदिरों में कौन हिंसा

होती है, उसने तो शैयद के बहकाने में आकर केवल हिंसा २ की पुकार उठाली होगी ? नहीं तो क्या मंदिरों के नाम पर भैंसे बकरे काटे जाते थे ? या मनुष्य बलि दी जाती थी ? क्या किया जाता था ? कि लौंकाशाह ने उसे बन्द करवाया।

प्रश्नः—नहीं जी ! ऐसा कौन कहते हैं, हमतो यह कहते हैं कि उस समय मंदिर के लिए पत्थर, पानी, चूना, तथा मूर्त्ति पूजा के लिए जल, चन्दन, फल, फूल, धूप आदि की प्रक्रिया में जो जीव हिंसा होती थी उसी को ही लौंकाशाह ने बन्द कराया।

उत्तरः—यह तो खूब हुआ, भगवान् महावीर के समवसरण के समय लौंकाशाह विद्यमान ही नहीं था, यदि होता तो, समवसरण की रचना देख वह छाती फाड़ कर मरजाता और शायद जीवित रह जाता तो भी गोशाला के समान यह पुकारे विना तो नहीं रहता कि अरे ! त्यागी, वीतराग पुरुषों को इतने आरंभ और आडम्बर की आवश्यकता क्यों ? यदि उपदेश-व्याख्यान देना ही इष्ट है तो महारंभ पूर्वक समवसरण की क्या आवश्यकता है हायरे हाय ! इतना पानी छिड़काना, अरे इतने गाडों के गाडे भरे हुए जल थल में उत्पन्न हुए फूलों का विछवाना यह क्यों किया जाता है इसके अतिरिक्त एक योजन ऊँचे से पुष्प बरसाने से अनेक वायु काय के जीवों की विराधना होती है। अरे ! प्रभो ! अग्निकाय का आरम्भ ये धूप वत्तिएँ व्याख्यान में क्यों ? हाय ! पाप, हाय ! हिंसा, अरे ! भगवन् ! ये आपके भक्त इन्द्रादि देव तीन ज्ञान संयुक्त सम्यग् दृष्टि अल्प-परिमित संसारी महाविवेकी, धर्म के नाम पर आपके सामने घोर हिंसा करते हैं, और आप बैठे २ देखते हो, पर इनको कुछ कहते नहीं हो ? इतना ही नहीं पर

आप तो इनके रचे हुए समवसरण में जाकर विराजमान होगये हो ? अतः आप स्वयं इस आरम्भ का अनुमोदन करते हो। तथा धर्म के नाम पर इतनी भीषण हिंसा करने वालो का, आप स्वयं होंसला बढ़ाते हो। प्रभो ! क्या-आप यह भूलगये हैं कि भविष्य में कलियुगी लोग इसी का अनुकरण कर, आपका उदाहरण दे बिचारे हम जैसे केवल दयाधर्मियों (ढोंगियों) को बोलने नहीं देंगे।

अरे ! दयासिन्धो ! आपके प्रत्यक्ष में ये इन्द्रादि देव भक्ति में बेसुध होकर चारों ओर चँवरों के फटकार लगा रहे हैं, जिन से असंख्य वायुकाय के जीवों की विराधना होती है, फिर भी आप इन्हें कुछ नहीं कहते हैं, यह बड़े आश्चर्य्य की बात है। हाय ! यह कौनसा धर्म ? यह कैसी भक्ति ? कि जिसमें जीवों की अपरिमित हिंसा हो।

हे प्रभो ! आपको इन लोगों ने मेरु पर ले जाकर एक दम कच्चे पानी से आपका स्नात्र कराया, पर उसे तो हम आपके जन्म-गृहस्थापना से संबोधित कर अपना बचाव कर सकते हैं। पर आपकी कैवल्याऽवस्था और निर्वाण दशा में भी ये लोग भक्ति और धर्म का नाम ले लेकर इतनी हिंसा करते हैं, उसे आप भले ही सहलें पर हम से तो यह अत्याचार देखा नहीं जाता। यद्यपि ये लोग चाहे प्रवृत्ति अपच्चरखानी हो, पर आप तो साक्षात् अहिंसा धर्म के अवतार हो, आपकी मौजूदगी में यह इतना अन्याय क्यों ? ये लोग आपके लिये ही बाजा गाजा (दुँदुभी) बजाते हैं। आपके अवाज की साथ में भी बाजा के सुर देते हैं पर भी आप बड़ीशान से मालकोश वगेरह राग-

रागनियों को ललकारते रहते हैं इसमें वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है उसका दोष किसके शिर पर है ? क्या आप उन्हें मना नहीं कर सकते ? । तथा आप स्वयं भी, घंटे तक खुले मुँह व्याख्यान दे रहे हैं, तो इसमें क्या वायुकाय के जीव मरते नहीं होंगे ? जब कि एक बार खुले मुँह बोलने में भी असंख्य जीव मरते हैं तो फिर घंटे तक में तो कहना ही क्या ? । यदि आप खुद ही खुले मुँह बोलोगे तो पंचमआरा के पामर प्राणी तो निःशंकतया खुले मुँह ही बोलेंगे । और कोई कहेगा तो आपका उदाहरण देके अपना बचाव कर लेंगे, फिर दयाधर्मियों की तो सुनेगा ही कौन ? । यदि आपके पास वस्त्र का अभाव हो तो, लीजिए मैं सेवा में वस्त्र लादूं पर आप खुले मुँह तो कृपया व्याख्यान मत दो । यदि आप इतना कुछ कहने सुनने पर भी मुँहपत्ती न बान्धोगे तो अच्छे आप तीर्थङ्कर हो पर मैं तो आपका व्याख्यान कभी नहीं सुनूंगा । कारण मेरी यह प्रतिज्ञा है कि जहाँ एक शब्द भी खुले मुँह बोला जाय वहाँ ठहरना भी अच्छा नहीं । आपको अपनी प्रतिमा बनाना भी पसंद है अतएव समवसरन में दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के सिंहासन पर आपकी ही ३ प्रतिमा बनवा कर बैठाई जाती है । आप वहाँ मना तक नहीं करते हैं इसके विपरीत आप उन मूर्त्तियों की सेवा पूजा और दर्शन करने में भी धर्म बताते हैं । क्या आपको अपनी प्रतिमाएँ इष्ट हैं ? ऊफ् वीतराग होने पर भी आप संवेगी के पक्षमें जा बैठे ? अब हमारी दया की पुकार कौन सुने ?

इत्यादि अनेक तर्कनाएँ लौंकाशाह के दिल में होती, पर खुशी इसी बात की है कि लौंकाशाह महावीर प्रभु के समय

पैदा ही नहीं हुए। नहीं तो प्रभु महावीर को एक गोशाल के बजायदो गोसालों का अनुभव करना पड़ता। अस्तु! लौंकाशाह के अनुयायियों को चाहिए कि अब भी किसी जैन विद्वान् द्वारा भस्मग्रह का पूरा मतलब ठीक तौर से समझ लें।

भस्मग्रह के कारण २००० वर्ष तक "श्रमण संघ" की उदय उदय पूजा न होगी," इसका अर्थ यह नहीं कि २००० वर्षों में श्रमण संघ की पूजा कतई होगी ही नहीं। पर इसका तो यह मतलब है कि, लगातार उदय २ पूजा न होकर बीच २ में कुछ काल यों ही बिना पूजा के चला जायगा, फिर पूर्ववत् पूजा होती रहेगी। देखिये भस्मग्रह के होते हुए भी २००० वर्षों के अन्दर जैनाचार्यों ने भारत के बाहर भी जैनधर्म का प्रचार करवाया। करीब १०० राजाओं को और लाखों करोड़ों जैनेतरों को जैनधर्म में दीक्षित किया, अनेक विषयों पर अपरिमित ग्रन्थों की रचना की, कई राजसभाओं में शास्त्रार्थ कर जैनधर्म की विजयपताका फहराई, हजारों लाखों मन्दिर मूर्त्तियों से मेदनी मण्डित करवा के जैनधर्म का उद्योत किया इत्यादि यह भी तो एक तरह से श्रमणपूजा ही थी। यह तो आप निश्चय समझ लीजिए कि जैनशासन का उद्योत श्रमण संघ ने ही किया है, और भविष्य में भी फिर करेगा। परन्तु आज पर्यन्त भी किसी गृहस्थ ने न तो कभी शासन का उदय किया है, और न भविष्य में भी करने की आशा है। हाँ! श्रमण संघ का साथ देकर कुछ शासनोन्नति कार्य करेतो कर सकता है।

प्रधान में—लौंकाशाह न तो कुछ ज्ञानी था, और न कुछ उन्नति करने के काबिल ही था। उसने तो जो कुछ कार्य किया

वह आज आपके सामने प्रत्यक्ष रूप विद्यमान हैं। जैनधर्म में दारुण फूट और विद्वेष फैला कर, संगठन को छिन्नभिन्न कर श्रेयार्थीजन समाज को स्वेष्ट से भ्रष्ट कर, स्व, पर के पूर्ण अहित करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह केवल लौंकाशाह को है। क्योंकि ऐसा घृणित कार्य करना सो तो ऐसे महात्माओं (।) को ही फबता है, विशेष में अज्ञात लौंकाशाह उन्नति का कार्य तो कर ही कैसे सकता था। जो हो! जाते हुए भस्मग्रह ने अपने पूरे कुयश का सेहरा लौंकाशाह आदि के कंठ में डाल गया।

लौंकाशाह ने यह नये मत का बखेड़ा क्यों खड़ा किया? इसका संक्षिप्त वर्णन यद्यपि हमने आगे के प्रकरणों में प्रसंगोपात्त कुछ किया है। किन्तु इसका मार्मिक विवेचन अब अगले प्रकरण में देखें कि, क्यों उसने अपनी डेढ चांवल की खिचड़ी अलग पकाई थी।

प्रकरण—बारहवाँ

लौंकाशाह के नया मत निकालने का कारण।

जब एक धारा प्रवाही मीठे और साफ जल की नदी वह रही है तब उसके किनारे अलग उकेरी (कुँआ) खोदना कुछ न कुछ कारण जरूर रखता है। या तो यह कारण हो कि नदी के जल से उकेरी का जल स्वाद में अधिक मीठा और ठंडा है या उसे खोद उसकी धूल से नदी के कुछ हिस्से को पाटने की जरूरत है। पर यह सब मनोदशा के विकार ही हैं। क्योंकि उकेरी में जो पानी आता है वह भी तो नदी ही से आता है ऐसी हालत में नदी का पानी खराब, और उकेरी का पानी उससे अच्छा हो यह असंभव है। तथा उकेरी खोद कर नदी को पाटने की (नाबुद करने को) इच्छा है यह भी निज के पतन का ही कारण है क्योंकि उकेरी के खोदने से जब नदी पट जायगी तो उकेरी तो स्वयं पटी हुई है। अब यदि यह कहा जाय कि नदी का पानी गँदला हो खराब होजाय इस हालत में उकेरी खोदना लाभप्रद हो सकता है, यह भी कहना न्यायतः ठीक नहीं, क्योंकि नयी उकेरी खोदने की बजाय तो नदी का पानी ही स्वच्छ करना विशेष लाभकारी है। क्योंकि नदी का हृदय विशाल होता है और उकेरियों का हृदय संकीर्ण रहता है। नदी सर्व साधारण एवं चराचर प्राणियों का आधार एवं उपकार तथा विश्वास का पात्र है। और उकेरियों चन्द व्यक्तियों की सम्पत्ति

है। न तो उसपर किसी का आधार और विश्वास रहता है, और न वह इतना उपकार ही कर सकती है। नदी का पानी हमेशा के लिये रहता है, तब उकेरियो का पानी स्वल्प समय में ही सूख जाता है। बाद में धूल, मिट्टी, कचरा; पड़कर वह नष्ट हो जाती है। नदी में कूड़ा कचरा भी सब बह जाता है और उसका पानी सदा स्वच्छ रहता है। नदी के लिए सभ्य समाज को किसी प्रकार की घृणा या शंका नहीं रहती है। किन्तु उकेरियों के लिए वह खोदने वाले व्यक्ति का लक्ष्य कर सदा शंकाशील रहता है और विचार करने लगता है कि अमुक व्यक्ति मेरे समानधर्मी नहीं है। नदी एक भी अनेकों का सुख पूर्वक निर्वाह कर सकती है। किन्तु उकेरियों अनेक होकर भी सब को सन्तोष शील नहीं कर सकतीं। उकेरिएँ खोदने वाले सब अपनी उकेरी के पानी को श्रेष्ठ और अन्य के पानी को हेय बताते हैं, इसी से संसार में राग, द्वेष और फूट का विष-वृक्ष-वपन होता है, और वह संसार को अवनति के गहरे गर्त्त में पहुँचा देता है। पर नदी के लिए कभी कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा। क्योंकि नदी का पानी सर्वत्र सरस और स्वच्छ ही होता है। फिर भी यदि दुराग्रह वश नदी के किनारे यदि उकेरियें खोदी जायँ तो इन से नदी को न तो विशेष हानि है और न उसकी महिमा में ही कोई कमी आती है, किन्तु भद्रार्थी जनता को भ्रम में डाल कर अपने साथ उनका भी अहित किया जा सकता है। अतएव धारा प्रवाही नदी के किनारे प्रथम तो उकेरियें न खोदना ही अच्छा है, यदि खोदे ही तो फिर पूर्वोक्त दो कारणों में से एकाध कारण का होना जरूरी है।

अस्तु, जिनशासन रूपी जो धारा प्रवाही नदी बहरही है

उसके किनारे नये मत मतान्तर रूपी नयी उकेरियों की आवश्यकता नहीं है। यदि कभी उसमें समय के प्रभाव और आपत्तियों के कारण कोई विकार भी होगया हो तो उस विकार को सुधारने की जरूरत है। जैसे पूर्ववर्त्ती जमाने में अनेक धर्म धुरंधर शासन रक्षक आचार्यों ने अपनी बुलंद आवाज द्वारा पुकारें की और शासन को पुनः संस्कार द्वारा स्वच्छ स्फटिक के समान चमकीला बना दिया। परन्तु अगले किन्हीं आचार्यों ने भी यह दुःसाहस नहीं किया कि शासन में भेद डाल नये मत निकालें। जैसे लौंकाशाह ने अपना लौंका मत नया निकाला। इसी प्रकार अन्यों ने भी जैसे:—कडुआशाह, बीजाशाह, गुलाबशाह, और भीखमजी ने विना सोचे समझे नये नये मत निकाल, शासन को छिन्न भिन्न कर दिया। कोई भाई यदि यह भी सवाल करें कि जब लौंकाशाह के पूर्व भी ८४ गच्छ हुए तो क्या ये उकेरिएँ नहीं थी?—इसके उत्तर में यह लिखा जाता है कि ८४ गच्छ स्थापकों ने नई उकेरियो नहीं खोदी थी, किन्तु वे तो विशाल नदी की शाखा प्रशाखारूप नहरें ही थी, जिनसे करके नदी भरी हुई और तूफान मचाती हुई मन्थर चाल से बहती हैं। और सर्व तो सुखी उपकारक होती है क्योंकि इन शाखाओं के अधिष्ठाताओं ने कहीं पर भी ऐसे शब्द का उच्चारण नहीं किया कि नदी का पानी खराब और हमारी शाखा का पानी अच्छा है। जैसा कि लौंकाशाह अपनी नन्हीं सी उकेरी खोद चट से कह उठे कि हम साधुओं को नहीं मानते, हम सूत्रों को नहीं मानते, यही नहीं किन्तु यहाँ तक कह दिया कि हम तो सामायिक पौषद, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, और मूर्तिपूजा जो

जैन शासन के खास अंग हैं इन्हें भी नहीं मानते। ऐसी २ घृणित और गन्दी उकेरियों खोदने वालों में, या तो स्वयं पूजवाने की प्रबल आकांक्षा है, या उत्पादकों के अभिमान की अभिभावना है। यदि ऐसा न होता तो ऐसा दुःसाहस कभी नहीं किया जाता। यहाँ पर तो लौंकाशाह के विषय में ही हम कुछ लिखेंगे कि लौंकाशाह के नये मत निकालने में क्या कारण पैदा हुआ था।

लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्रजी वि० सं० १५७८ में लिखत ह किः—

"धर्म सुणवा जावई पोसाल, पूजा सामायिक करई त्रिकाल।
सांभलई साधु तणुं आचार, पण नवि पेखइ यति हिं लगार।
कहे लंको तमें पभणो खरउ, वीर आणा चालो परउं।
कहइ यति अम्हथी रहे धरम, तमेकिम जाणो तेहनो मर्म।
पांच आश्रव सेवता तम्हे, सिखामण देवी सहीगमें॥
सा लुंको कहई दयाई धर्म, तमे तो वाहिओ हिंसा अधर्म।
फट्भूंडा किहा हिंसा जोय, यति सम दया न पालई कोय।
सामुं लुंको मान ई अपमान, पौसालई जावा पच्चखांण।
ठाम ठाम दयाई धर्म कह्यो, साचो भेद आज अम्हि लह्यो॥
हाट बेठो दे उपदेश, सांभला यति गण करई कलेस।

"दयाधर्म चौपाई"

× × ×

"लुंका, यतियों के उपासरे पुस्तक लिखता था, उसके

दिल में बेईमानी आने से एक पुस्तक के ७ पन्ने लिखने छोड़ दिए। जब यतिजी ने पुस्तक अधूरी देखी तो लौंका को उपालंभ दिया। और उपासरा से निकाल दिया, और दूसरे यतियों को भी लौंका से पुस्तक लिखवाना बन्द कर देने को कहा। इसी कारण लौंका ने यतियों से विरोध कर अपना नया मत निकाला × × × ''

अज्ञान तिमिरभास्कर पृष्ठ २०२

इसी बात को प्रकारान्तर से स्वामी मणिलालजी अपनी प्रभुवीर पटावली में लिखते हैं वह यह है:— (सारांश)

वि० सं० १५०६ में लौंकाशाह ने पाटण में यति सुमति विजयजी के पास जाकर दीक्षा ली, बाद में घूमते घूमते अहमदाबाद झवेरीवाड़ में आकर चौमासा किया और लोगों को उपदेश देना शुरू किया कि मूर्तिपूजा का शास्त्रों में उल्लेख नहीं है, इत्यादि। बाद की बात स्वामीजी के शब्दों में कही जाय तो:—

× × ×

"संघ ना श्रद्धालु तत्काल झवेरीवाड़ा ना उपाश्रय (ज्यां लौंकाशाह उपदेश आपता हता) आव्या अने लौंकाशाह ने संघ नी मालकीनो मकान खाली करवा धमकी आपी। लौंकाशाहे आवेल श्रावकों ने समझावानी कोशिश करी, पण यतियोंनी सज्जड़ उश्केरणी ने कारणे यति भक्तोंए कांई दाद न दीधी। अेटलुंज नहीं पण तेमांना केटलाक स्वच्छन्दी

श्रावकों आगल आवी श्रीमान् ने बल जबरी थी उपासरानी बहार कहडवानो प्रयत्न करवा लाग्या, श्रेटले लौंकाशाह स्वयं (पोत) तरतज उपाश्रयनी बहार निकली गया × ×

प्रभुवीर पटावली पृष्ठ १७०

स्वामी मणिलालजी अपने धर्म स्थापक गुरु लौंकाशाह के लिए यदि कुछ सफाई से लिखे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं, पर यह बात छिपी नहीं रह सकती है कि अहमदाबाद श्री संघ की ओर से लौंकाशाह का अपमान अवश्य हुआ था। अर्थात् लौंकाशाह को बल जबरी से उपाश्रय के बाहिर निकाल दिया था। बस यही कारण था कि लौंकाशाह नया मत निकालता।

× × ×

× × × *लौंकाशाह यतियों के उपाश्रय, लिखाई का काम करता था, उसकी मजदूरी के पैसे श्रावक लोग ज्ञान खातों में से दिया करते थे। एक बार एक पुस्तक की लिखाई दे देने पर केवल साढे सत्तर दोकड़े[1] देने शेप रह गए, और इसीलिए लौंकाशाह और श्रावकों के बीच आपस में तकरार हो गई। लौंकाशाह यतियों के पास आया। यतियों ने कहा-लुंका ! हम तो पैसे रखते नहीं हैं, तुम श्रावकों से अपना हिसाब ले लो। यह सुन लौंका को गुस्सा आया और यह साधुओं की निन्दा करता हुआ बाजार में एक हाट पर आकर बैठ गया। इधर एक मुसलमान लिखारा जो मुसलमानों की पुस्तकें लिखता था और लौंकाशाह का मित्र था, वह*

आ निकला, लौंकाशाह को पूछा क्या साह लौंका तेरी कपाल पर क्या है ? लौंकाशाह ने कहा मन्दिर का स्तम्भा (तिलक) इस पर शैयद ने लौंकाशाह को नास्तिकता का उपदेश दिया और लौंकाशाह की बुद्धि में विकार हुआ। बाद उसने शैयद की संगति से जैन-धर्म की सब क्रियाओं का नास्तिपना (लोप) कर अपना नया मत निकाला।

वीर वंशावली गुजराती का सार जैन० सा० सं० वर्ष ३-३-४९

× × ×

उ० कमल संयमजी (वि० सं० १५४४)

"अहवई हूउ पीरोज्जिखान, तेहनई पातशाह दई मान।
पाडई देहरा अने पोसाल, जिनमत पीडेई दुःखम काल।
लुंका नई ते मिलियु संयोग, ताव माहि जिम सीसक रोग।

उ० कमल संयम चौपाई वि० सं० १५४४

× × ×

उपर्युक्त घटनायें यद्यपि भिन्न भिन्न प्रकार से लिखी गई हैं तथापि, इन सबका निष्कर्ष यही निकल सकता है कि लौंकाशाह का यतियो द्वारा अपमान हुआ, और यवन का संयोग मिलने से तथा अनार्य संस्कृति के दूषित प्रभाव से प्रभावित हो जैन धर्म के विरुद्ध उसने अपना नया मत अलग खड़ा किया। लौंकाशाह के इस कुकृत्य की अपूर्ण सफलता में हमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। कारण साधारण मनुष्य किसी आवेश में आकर कर्त्तव्या ऽ कर्त्तव्य के विषय में अन्धा बन जाता है, उस समय

उसे निज तथा परके हिताहित का जरा भी विचार नहीं रहता है। फिर इनको तो उस समय ऐसे अनेक कारण भी उपलब्ध होगये थे जैसे:—भस्मग्रह की अन्तिम फटकार, उधर श्रीसंघ की राशि पर धूम्रकेतु नामक ग्रह का आना और इधर असंयति पूजा नामक अच्छेरा का बुरा प्रभाव पड़ना, एक तरफ लौंकाशाह का आकस्मिक अपमान होना, दूसरी तरफ उसे तत्काल ही सैयद का संयोग मिलना। इन सब कारणों के एक जगह मिल जाने पर ही लौंकाशाह ने यह उत्पात मचाया और उसमें आंशिक सफलता हासिल की। जैन शासन मे असंयमी गृहस्थ का निकाला हुआ यही सबसे पहिला मत है, और यही "असंयति पूजा अच्छेरा" नाम से कहा जाता है। इस प्रकार यह विवेचन अब यहीं समाप्त होजाता है, तथा इसके अगले प्रकरण मे "लौंकाशाह का सिद्धान्त क्या था?" इस पर लिखा जायगा पाठक उसे भी ध्यान से पढ़ने की कृपा करें।

प्रकरण—तेरहवां

लौंकाशाह का सिद्धान्त

कोई भी नया मत जब सर्व प्रथम शुरू होता है, तब उसके मूल सिद्धान्त भी साथ ही में निश्चित हो जाते हैं। जैसे दिगम्बर सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त है कि साधु नग्न रहें, कडुआमत का सिद्धान्त है कि इस समय कोई सच्चा साधु हो नहीं है। गुलाबपंथ का सिद्धान्त है कि स्त्रियों को सामायिक, पोषह न हो सके। भीखमजी का सिद्धान्त है कि मरते जीव को बचाने में अट्ठारह पाप लगते हैं, इत्यादि। पर लौंकाशाह ने जिस समय अपना अलग मत निकाला उस समय उनका क्या सिद्धान्त था? यह मालूम नहीं होता। क्योंकि न तो लौंकाशाह के हाथ का कोई उल्लेख मिलता है और न लौंकाशाह के समकालीन या आस पास के समय वर्ती उनके अनुयायियों का लिखा ही कोई प्रमाण मिलता है। फिर भी लौंकाशाह के नाम पर आज दो समुदाय विद्यमान हैं। (१) तो लौंकागच्छ (२) रा स्थानकमार्गी. इन दोनों दलों में इस समय इतना विरोध है कि, लौंकागच्छीय यति न तो मुंह पर मुँहपत्ती बाँधते हैं, और न मूर्त्ति पूजन को इन्कार करते हैं, किंतु इससे विरुद्ध स्थानक मार्गी दिन भर मुँह पर डोरा डाल मुँह पत्ती बाँधते हैं और मूर्ति पूजन का भीषण विरोध करते हैं। इस हालत में लौंकाशाह के सच्चे अनुयायी कौन हैं? यह निर्णय करना कठिन

होगया है तथा लौंकाशाह का सच्चा सिद्धान्त क्या था ? यह भी हम साफ तौर से (जो इस विषम परिस्थिति को देख) नहीं कह सकते हैं ।

फिर भी लौंकाशाह के समकालीन कई एक विद्वानों ने लौंकाशाह के सिद्धान्तों की उस समय समालोचना की थी, इसका उल्लेख प्राचीन पुस्तक भण्डारों में मिलता है । तदनुसार यह पता चलता है कि लौंकाशाह का सिद्धान्त था, सामायिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान एवं देव पूजा को नहीं मानना, यही नहीं किंतु उनसे यह भी ज्ञात हुआ है कि लौंकाशाह साधु और जैनागमों को भी नहीं मानता था इस विषय के कतिपय उदाहरण यहां दिये जाते हैं ।

तद्यथाः—पं० लावण्य समयजी वि० सं० १५४३

"मति थोड़ी नई थोडु ज्ञान, महियल वडु न माने दान ।
पोसह पडिकमण पचखाण, नहीं माने ए इस्यो अजांण ।
जिन पूजा करवा मति टली, अष्टापद बहु तीर्थ वली ।
नवि माने प्रतिमा प्रासाद, ते कुमति सिऊ केहु वाद ।
लुंटक मत नु किसोउ विचार, जे पुण न करई शौचाचार ॥
शौच विहुणाउ श्री सिद्धान्त, पढतां गुणतां दोष अनन्त ॥

सिद्धान्त चौपाई जैन-युग वर्ष ५ अंक १०

× × ×

उपाध्याय कमल संयम वि० सं० १५४४

"संवत् पनर अठोतर जांणि, लुंको लहीऊ मूल नी खांणि ।
साधु निन्दा अह निशि-करई, धर्म धड़ा बंध ढिलाऊ धरई ॥

तेहनई शिष्य मलीयो लखमसी, जेह नी बुद्धि हियोथी खसी ।
टालई जिन प्रतिमा नई मान, दया दया करी टालई दान ।
टालई विनय विवेक विचार, टालई सामायिक उच्चार ।
पडिक्कमणानेऊ टालई नाम, भ्रमे पड़िया घणा तेई ग्राम ।
सिद्धान्त सार चौपाई जैन युग वर्ष ५ अं० १०

× × ×

मुनि वीका कृत असूत्र निराकरण बत्तीसी

"घर खूणई ते करई वखांण, छांडई पडिक्कमण पचखांण ।
छांडी पूजा छांडिउ दान, जिण पडिमा किधऊ अपमान ॥
पांचमी आठमी पाखी नथी, मा छांडीनई माही इच्छी ।
विनय विवेकतिजिऊ आचार, चारित्रीयां नइ कहइ खाधार ॥
जैन युग मासिक वर्ष ५ अंक १-२-३

ये तीनों लेखक बड़े भारी विद्वान् और शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। लौंकाशाह का देहान्त श्री संतबालजी के मताऽनुसार वि० सं० १५३२ और मुनि मणिलाल जी के कथनाऽनुसार वि० सं० १५४१ का है। और पं० लावण्य समयजी ने वि० सं० १५४३ में तथा उपाध्यायजी ने सं० १५४४ में उक्त चौपाईयों का निर्माण किया है। इस दशा में ये तीनों उद्धरण लौंकाशाह के सम कालिन और ऐतिहासिक सत्य संयुक्त सिद्ध होते हैं। इन से लौंकाशाह की मान्यता तथा उनके सिद्धान्त का निर्णय हो जाता है। लौंकाशाह सामा. पौषद प्रति० प्रत्या० दान और देवपूजा को ही इन्कार नहीं करता था किन्तु वह तो शौचाचार के भी

विरुद्ध था। इस विषय में एक दिगम्बरीय शास्त्र का भी प्रमाण मिल सकता है।

दि० आ० रत्ननन्दी वि० सं० १५२७ के बाद

"सुरेन्द्रार्षो जिनेन्द्रार्चो, तत्पूजांदातु मुत्तमम्।
समुत्थाप्य स पापात्मा, प्रतीपोजिन सूत्रतः ॥१६

भद्रबाहु चरित्र पृ० ९०

उस समय के दिगम्बरी भी यही कह रहे है कि वि० सं० १५२७ में श्वेताम्बरों में एक लुंक नाम पापात्मा ने जिनेन्द्र की पूजा और दान को उत्थापा, अर्थात् वह इन्हें नहीं मानता था।

इस प्रकार श्वे० दि० अनेक लेखको ने अपने २ ग्रन्थ में लौंकाशाह के विषय में उल्लेख किया है किन्तु मैं खास लौंकाशाह के अनुयायी यति केशवजी 'जो लौंकामत में एक विद्वानों की पक्ति में समझा जाता था' ने अपने ग्रन्थ में लौंकाशाह के सिद्धान्त के बारे में लिखा है कि:—

"आगम लखइ मनमा शंकई, आगम सांखि दान न दिसइं।
प्रतिमा पूजा न पडिक्कमणुं सामायिक पोसहपिण कमणुं ।१३।
श्रेणिक कुणिक राय प्रदेशी, तुगिया श्रावक तत्वगवेषी।
किणइ पडिकमणुं नवि किधु, किणइ परने दान न दिधु ।१४।
सामायिक पूजा छइ ढोल, यति चलावइ इणविध पोल।
प्रतिमा पूजा वहुं संताप, तो अम्हि करइं धर्मनो थाप ।१५।

लौ०—यति केशवजी० चतुर्विशति सिलोगो।

(ता० १८ जुलाई ३६ ईस्वी का मुम्बई समाचार से)

इस लेख से पाया जाता है कि लौंकाशाह सामायिकादि क्रियाओं को नहीं मानता था जभी तो खास लौंकाशाह के अनुयायी ने ऐसा लिखा है।

इस से आगे चल कर लौंकाशाह के पश्चात् करीब ३०-४० वर्षों में ही लौंकागच्छीय भानुचंद्र नाम का यति हुआ, उसके समय में लौंकाशाह के मूल सिद्धान्तों में कुछ कुछ परिवर्त्तन अवश्य हुआ। फिर भी लौंका के प्रतिपक्षी लोग तो उन्हीं मूल सिद्धान्तों को आगे रख कर कहते थे कि लौंकाशाह सामा० पो० प्रति० प्रत्या० दान० और देव पूजा को नहीं मानता था। इनके उत्तर में भानुचंद्र ने अपने समय के लौंकामत के सिद्धान्तों को निम्नप्रकार से अपने हाथों लिखा है:—

"सामायिक टालई वो वार, पर्व परे पोसह परिहार।
पडिकमणुं विण वरतन करइ, पच्चरकाणई किम आगार धरई॥
टालई असंयती नइं दान, भाव पूजा भी रुडउ ज्ञान॥
सूत्र बत्तीस सांचा सदह्या, समता भावे साधु लह्या।
सिरि लौंका नुं साचो धरम, भ्रमे पड़ीया न लहइ मर्म॥
निंदइ कुमति करइ हठवाद, वींछी करडयो कपि उन्माद।

दयाधरम चौपाई वि० सं० १५७८

इन चौपाइयों से यह ध्वनि निकलती है कि लौंकाशाह सामा. पौषह. प्रति. प्रत्या. दान और देव पूजा, साधु तथा जैनागम आदि कुछ भी नहीं मानता था। पर ये तो जिन शासन की मूल क्रियाएँ हैं, इनके बिना मत या पन्थ नहीं चल सकता, इसी कारण यदि लौंकाशाह ने अपने अन्तिम समय

में अपने दूषित विचारों को बदल दिया हो और बाद उनके अनुयायी वर्ग भी इसी सिद्धान्त पर आए हों कि, सामायिक दिन में नियमित समय पर एक बार, पौषह पर्वदिन में, प्रतिक्रमण व्रतधारी श्रावक को, प्रत्याख्यान विना आगार, दान असंयमी को नहीं पर संयमीको देना, द्रव्य पूजा नहीं पर भाव पूजा करना, आगमों में ३२ सूत्रों को मानना, और समता भाव वाला हो वही साधु हो सके, इत्यादि मान्यताएँ बाद में घड़ निकाली हों तो आश्चर्य नहीं।

यहाँ पर एक यह सवाल भी उठता है कि लौंकाशाह ने सामा. पौस. जैसी उत्तम प्रक्रियाओं का एकदम कैसे निषेध किया होगा? यह प्रश्न प्रधानतया विचारणीय है। मनुष्य जब किसी आवेश में आजाता है तब उसे अपने हिताऽहित का जरा भी विचार नहीं रहता। कोइ राजा किसी पर जब प्रसन्न हो जाता है तो हर्ष के आवेश में आकर उसे राज तक देने को तैयार हो जाता है। बहादुर आदमी जब युद्ध में जाते हैं तब उन्हें वीरता का आवेश चढाया जाता है। वीरता के आवेश में आया हुआ वीर हँसते २ अपने अमूल्य प्राणों को अपने स्वामी के काज युद्ध में बलिवेदी पर चढा देता है। इसी प्रकार क्रोध के आवेश में आया हुआ व्यक्ति अनेक बुरे कामों को कर बैठता है। इसी से तो शास्त्रकारों ने क्रोध को जीतना महात्मा का मुख्य लक्षण माना है। लौंकाशाह ने जब नया मत निकाला तब उस पर भी क्रोध का आवेश चढा हुआ था क्योंकि उपाश्रय में उसका श्रीसंघ द्वारा अपमान हुआ था, और इस अपमान, और अपमानजन्य क्रोधावेश के कारण उसकी कर्त्तव्य बुद्धि

भ्रष्ट होगई जैसे गोसाला को, लीजिए, क्या वह सर्वज्ञ तीर्थङ्कर था ? परन्तु आवेश मे उसने स्वयं को सर्वज्ञ तीर्थङ्कर घोषित किया । क्या जमाली केवली होगया था ? नहीं, पर वह अपने को केवली कहलाने लगा । इसी प्रकार जब लौंकाशाह उपाश्रय में गया और वहाँ उसका अपमान हुआ तो वह क्रुद्ध हो बाहिर आ के बैठगया बैठते ही तत्क्षण "मर्कस्य सुरामानं मध्ये वृश्चिक दंशनम् तन्मध्येभूत सञ्चारः यद्वातद्वा भविष्यति" इस न्याय के अनुसार उसे सैयद का संयोग मिल गया उसने सीधी उल्टी पट्टी पढ़ा उसे जैन धर्म के खिलाफ कर दिया, इधर भस्मग्रह की अंतिम फटकार, श्री संघ की राशि पर धूम्रकेतु का आक्रमण, असंयति पूजा अच्छेरा का प्रभाव, इत्यादि निमित्त कारणो ने लौंकाशाह को आग बबूला बना दिया और यह अनर्थ करा दिया हो तो विस्मय की बात नहीं । अथवा जिस समय लौंकाशाह क्रोध में था, और सैयद के दुरूपदेश का असर उस पर चढ़ा हुआ था, उस समय शायद किसी ने लौंकाशाह को कहा होगा कि:—

चलो लौंकाशाह ! सामायिक करें । जाओ हम नहीं मानते सामायिक ।

चलो लौंकाशाह ! पौसह करें । जाओ हम नहीं मानते पौसह को ।

चलो लौंकाशाह ! पडिक्कमण करें ? जाओ हम नहीं मानते पडिक्कमणि को ।

लौंकाशाह ! कुछ पच्चक्खांण तो करो ? जाओ हम नहीं मानते पच्चक्खाण को ।

लौंकाशाह ! यतियों को दान दो ! जाओ हम नहीं मानते दान को ।

चलो लौंकाशाह ! पूजा तो करो । जाओ हम नहीं मानते पूजा को ।

चलो लौंकाशाह ! यतिवन्दन तो करो ? जाओ हम नहीं मानते यतियों को ।

लौंकाशाह ! ये सब बातें सूत्रों में लिखी है ? जाओ हम नहीं मानते सूत्रों को ।

इस तरह से या प्रकारा ऽ न्तर से लौंकाशाह ने पूर्वोक्त धर्म क्रियाओं का इन्कार तो अवश्य किया होगा, जभी तो आपके समकालीन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख किया है । यदि लौंकाशाह के बाद १०० या २०० वर्षों में ये ग्रन्थ लिखे गए होते तो, उन पर इतना विश्वास नहीं होता जैसे स्वामी भीषमजी ने दया दान की उत्थापना की वैसे ही उस समय के ग्रन्थों में भी दया दान के विषय का उल्लेख मिलता है । पर यह कहीं नहीं कहा गया कि भीषम जी ने भगवान् महावीर को भी "चूका" कहा था कारण यह बात उनके बाद की है । इसी भाँति लौंकाशाह के समय भी पूर्वोक्त बातों का ही निषेध हुआ था, और उन्हीं का उल्लेख तात्कालीन ग्रन्थों में मिलता है नकि डोरा डाल मुँह पर मुँहपत्ती बांधने की विधि का प्रयोग लौंकाशाह के समवर्ती समय का मिलता है । क्योंकि लौंकाशाह तो मुंहपत्ती बाँधते नहीं थे, मुँहपत्ती तो उनके प्रायः दो सौ

वर्षों बाद यति लवजी ने बाँधो थी, और उसी का उल्लेख लिखा हुआ यत्र तत्र मिलता है।

लौंकाशाह पर तो अनार्य यवन का ही प्रभाव पड़ा, और फल रूप लौंकाशाह ने जैन धर्म के अंग रूप समग्र धर्म क्रियाओं का निषेध कर दिया तो मुँहपत्ती मुँह पर बांधने की आफत लौंकाशाह क्यों मोल खरीद करे वह तो धर्म क्रियाओं से भी पृथक था इस अस्मदुक्त बात को परिपुष्ट करने वाला एक और सबल प्रमाण लौंकाशाह के समकालीन कडुआशाह नामक गृहस्थ का मिलता है। इसने भी अपने नाम से नया कडुआमत निकाला था जैसे लौंकाशाह ने अपने नाम से लौंकामत निकाला।

लौंकाशाह	कडुआशाह
जन्म वि० सं० १४८२	जन्म वि० सं० १४९५
मत वि० सं० १५०८	मत वि० सं० १५२४
देहान्त वि० सं० १५३२	देहान्त वि० सं० १५६४
अथवा मु० म० १५४१	

इस वर्षावली से यह स्पष्ट पाया जाता है कि लौंकाशाह और कडुआशाह ये दोनों समकालीन गृहस्थ थे, और जैन यतियों से अपमानित हो अपने नाम से नये मत निकालने वाले थे, जब लौंकाशाह ने सामायिकादि सभी क्रियाओं का निषेध किया तब कडुआशाह ने अपने नियमों में यह भी एक नियम रक्खा कि सामायिक बहुधा, एक दिन में बहुत बार करना, पौषह पर्व के अलावा प्रत्येक दिन करना, इत्यादि।

यदि कडुआशाह के समय सामायिकादि के खिलाफ किसी की मान्यता नहीं होती तो फिर यह नियम बनाने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। परन्तु जब यह नियम बनाया है तो यह मानना पड़ेगा कि कडुआशाह के समय सामायिकादि क्रियाओं का विरोध जरूर हुआ था। और यही लौंकाशाह का मूल सिद्धान्त था। लौंकाशाह के अनन्तर लौंका० के अनुयायी ३२ सूत्र मानने लगे, परन्तु ३२ सूत्रों में तो किसी भी स्थान पर श्रावक के सामायिक, पौसहादि की विशेष विधि नहीं है। इन ३२ सूत्र में १ आवश्यक सूत्र हैं। पर इनमें श्रावक के प्रतिक्रमण का नाम निशान तक भी नहीं है। ऐसी दशा में स्वयं लौंकाशाह ने और उसके बाद कुछ वर्षों तक उसके अनुयायी वर्ग ने यदि इन क्रियाओं को न किया हो तो संभव है। परन्तु जब लवजी ने आगे चल कर अपना सिद्धान्त बदल दिया, तब लौंकाशाह को मान्यता और स्थानकमार्गियों की मान्यता में आकाश पृथ्वी का अन्तर आगया, फिर समझ में नहीं आता है कि सिद्धान्तों के अन्दर वैषम्य होने पर भी स्थानकमार्गी समाज अपने को लौंकाशाह का अनुयायी क्योंकर मानता है।

वस्तुतः लौंकाशाह ने अपने अपमान के कारण क्रुद्ध हो, सब क्रिया साधु, तथा जैनागमों को अस्वीकार किया, परन्तु उस दशा में उसने अपना अलग पक्ष स्थिर नहीं किया। अपितु जब उसका क्रोध शान्त हुआ होगा, तब यह विचारा होगा कि मैंने यह क्या बुरा काम किया। तथा भाणादि तीनों मनुष्यों ने भी उसे समझाया होगा कि आपने यह क्या बुरा काम किया, क्या सामायिकादि धर्म क्रियाओं के किए बिना

अपना काम चल सकेगा ? सामायिक-प्रतिक्रमण न हो तो आपके मत में हम साधु कैसे होसके ? बिना साधु धर्म चीरं-जीव बनता नहीं, इत्यादि समझौते से और कुछ निजके शान्त विचारों से लौंकाशाह ने अपनी पिछली टाइम में अपने संकुचित विचारों को बदल कुछ उदात्त विचार धारण किए, तत्पश्चात् भाण आदि लौंका के अनुयायियों ने भी धीरे धीरे समग्र क्रियाओं को मान देना शुरू किया।

और भानुचन्द्र के समय तक तो, जो क्रियाएँ लौंकाशाह के समय में नहीं मानी जाती थीं वे सब भी मानी जाने लगीं, ऐसा उनकी दया धर्म चौपाई से विदित होता है। भानुचंद्र के अनन्तर तो लौंकाऽनुयायी मूर्ति को भी मानने लग गए थे। इसी से तो स्वामी मणिलालजी ने अपनी "प्रभुवीर पटावली" पृष्ठ १८१ में लिखा है कि—"वि० सं० १६०८ में लौंकामत में गोटाला (अव्यवस्था) होने लगा। बस इस गोटाले से संकेत मूर्त्ति पूजा-प्रतिष्ठा की ओर ही है। अनन्तर लौंकाशाह का मूल मत टूटने लग गया, और वे अपने उपाश्रयों मे मूर्त्तियो की यथा-वत् स्थापना, और सामायिकादि क्रियाएँ करने लग गए, तथा क्रिया-काल में स्थापनाजी आदि भी रखने लग गए जो अद्या-वधि विद्यमान है। इसका पूरा विवेचन चौदहवें प्रकरण में हैं, पाठक उसे वहां देखने का कष्ट करें।

प्रकरण चौदहवां

लौंकाशाह और मूर्तिपूजा

लौंकाशाह जिस समय अहमदाबाद के श्रीसंघ द्वारा अपमानित हुआ था उस समय गुस्सा-आवेश में आकर जैन श्रमण, जैनागम, सामायिक पौसद प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और दान का निषेध किया था, इसी भांति मूर्ति पूजा का भी इन्कार कर दिया था। बात भी ठीक है, क्रोध में मनुष्य बेभान एवं अन्धा बन जाता है। आवेश में इन्सान हिताहित एवं कृत्याकृत्य का खयाल भूल जाता है। जैसे जमाली गोसालादि ने स्वयं अल्पज्ञ होने पर भी सर्वज्ञता का नाद फूंका। इतना ही नहीं पर भगवान् पर भी उन्होंने अपना रोष प्रगट किया। ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, इसी प्रकार लौंकाशाह जैन यतियों, जैन मंदिर उपाश्रय और जैन श्रीसंघ से खिलाफ हो पूर्वोक्त बातों का विरोध किया हो तो यह असंभव नहीं है, लौंकाशाह के समकालीन लेखकों के लेखों से भी यह बात परिपुष्ट होती है।

जब मनुष्य को क्रोध से थोडी बहुत शान्ति मिलती है, तब वह विचार करता है कि मैंने आवेश में आकर अमुक कार्य किया वह अच्छा किया, या बुरा? इतना भान होने पर बुरा काम का पश्चाताप अवश्य होता है। इसी भांति श्रीमान् लौंका- शाह जब थोड़ा बहुत शान्त हुआ तो उन्होंने अपने अकृत्य पर

पश्चाताप अवश्य किया परन्तु पकड़ी हुई बात एक दम छुट नहीं सकती हैं, तथापि उन विरोध किये हुवे विधानों पर इतना जोर नहीं दिया गया इसी का ही फल है कि जिस क्रियाओं का लौंकाशाह ने प्रारंभ में विरोध किया उसी क्रियाओं को आपके अनुयायी धीरे धीरे अपने मत में स्थान देने लगे जैसे लौंकाशाह ने किसी जैनागम को नहीं माना था पर बाद आपके अनुयायियों को श्री पार्श्वचन्द्रसूरि द्वारा गुर्जर भाषानुवाद किये हुए बत्तीस सूत्र हाथ लगे, उनको मानने लगे और बत्तीस सूत्रों में श्रावक के सामायिक पौसह प्रतिक्रमणादि का विशिष्ट विधान न होने पर भी लोगों की बहुलता के कारण इन सब क्रियाओं को मान देकर स्वीकार करनी पड़ी, लौंकाशाह ने यतियों के साथ द्वेष के कारण दान देना भी निषेध किया परन्तु बाद में आपके मत में साधु होजाने से दान देने को भी छुटी दे दी, लौंकाशाह ने मूर्त्ति पूजा का भी विरोध किया था, पर आपके अनुयायियों ने तो अपने मत में मूर्त्ति पूजा को भी स्थान देदिया। इतना ही नहीं पर लौंकागच्छ के पूज्य मेघजीस्वामी तथा श्रीपालजी और पूज्य आनंदजी, सैंकड़ों साधुओं के साथ जैनाचार्यों के पास पुनः दीक्षा ग्रहण कर मूर्त्ति पूजा के कट्टर उपदेशक एवं प्रचारक बन गये और शेष रहे हुए लौंकाशाह के अनुयायी और साधुवर्ग ने मूर्त्ति पूजा को शास्त्र सहमत समझ के स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं बल्कि उन्होंने तो अपने उपाश्रयों में देरासर बनवा

१ पं० लावण्यसमय उ० कमल संयम, मुनि बीका, लौंकागच्छीय यति भानु चन्द्रादि के लेख हम इसी ग्रन्थ के परिशिष्ट में देदेते हैं देखो विस्तार से।

कर वीतराग की मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करवा के द्रव्य भाव से पूजा तक करने लग गये। इतना ही क्यों लौंकागच्छ के आचार्यों ने कई मन्दिर मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा भी करवाई वे मन्दिरमूर्त्तियों और उन पर अंकित * शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। जहां जहां लुंकागच्छ के उपाश्रय हैं, वहां जैन देरासर मूर्त्तियों साम्प्रत समय भी विद्यमान हैं। जिन जिन गामों में लौंकागच्छ के साधु नहीं रहे वहां के उपाश्रय की मूर्त्तियों नगर के मन्दिरों में पधराई गई हैं फिर भी बीकानेर जोधपुर फलोदी सादड़ी मजल मेवाड़ मालवा गुजरात काठियावाड़ पंजाब सी. पी. वरारादि प्रदेश में लौंकागच्छ के उपाश्रयों में तीर्थङ्करों की मूर्त्तियां आज भी पूजी जारही है, और उन लौंकागच्छीय पुजारों की संख्या भी हजारों घरों की हैं। वे लौंकागच्छ के कहलाते हुए भी मूर्त्ति-पूजक हैं। उनकी गणना भी मूर्त्तिपूजकों में की जाती है। अत-एव दोनों समुदायों में फिर से शान्ति हुई जो मूर्त्तिपूजा मानना और नहीं मानने का भेद भाव मिट कर उभय समाज मूर्त्ति के उपासक बन गये। जब मूर्त्ति विषय दोनों समुदाय की मान्यता एक होगई तो जैनागम और निर्युक्ति टीकादि पांचांगी मानने में भी किसी प्रकारका मतभेद नहीं रहा इसी कारण लौंकागच्छीय कई विद्वानों ने छोटे बड़े † ग्रन्थों का भी निर्माण किया उसमें

---

* बाबू पूर्णचंद्रजी नाहर संपादित शिलालेख प्रथम खण्ड लेखांक लौंकागच्छ के आचार्यों ने मन्दिरों की प्रतिष्ठा करवाई के लेख है।

† विजयगच्छीय यति केशवरायजी कृत रामायण तथा लौंकागच्छीय गणि रामचंद्र तथा आपके शिष्य नानकचन्द कृत ग्रन्थों को देखो।

भी मूर्त्तिपूजा का यथार्थ, प्रतिपादन किया, हुआ साहित्य आज भी विद्यमान है।

परन्तु कलिकाल के क्रूर प्रभाव के कारण यह बात कुदरत को पसंद नहीं हुई उसने पुनः शान्त हुई जैन समाज में एक ऐसा उत्पात मचाया कि विक्रम की अठारवीं शताब्दी के प्रारंभ में लौंकागच्छ के यति धर्मसिंहजी और लवजी को प्रेरणा की और उन्होंने फिर मूर्त्ति पूजा का विरोध उठाया। शायद् लौंकागच्छ के श्रीपूज्यों ने इसी कारण इन दोनों व्यक्तियों को गच्छ बाहर करना घोषीत कर दिया हो परन्तु कुदरत को इतने से ही संतोष नहीं हुआ फिर इन दोनों व्यक्तियों में भी ऐसा भेद डाला कि वे आपस में एक दूसरे को उत्सूत्र प्ररूपक निन्हव और मिथ्यात्वी बतलाने लगे—कारण धर्मसिंहजी ने श्रावक के सामायिक का पच्चखांण आठ कोटि से होने की मिथ्या कल्पना की तब स्वामि लवजी ने डोरा डाल दिन भर मुहपत्ती मुँहपर बान्धने की नयी कल्पना कर डाली जो जैन शास्त्र और प्रवृत्ति से बिलकुल विरुद्ध थी।

इन दोनों व्यक्तियों का चलाया हुआ नूतन मत का नाम ही ढूंढिया मत है। वह भी दो विभागों में विभाजित हो गया (१) आठ कोटि (२) छ कोटि इस के भी अनेक शाखा प्रतिशाखाऐ रूप टुकड़े हो गये उनमे से कई आज भी विद्यमान हैं और आपस में इतना ही विरोध है कि जो शरुआत में था। जब ढूंढिया नाम इन लोगों को खराब लगा तब वे लोग आप अपने को साधु मार्गी के नाम से ओलखाने लगे क्योंकि जैनियों का मार्ग तो तीर्थंकरों का चलाया हुआ हैं पर ढूंढिया का मार्ग

साधुओं ने ही निकाला। वे तीर्थंकरों का नाम क्यों रखे जब फासुक धर्म शाल उपाश्रय से लौंका मत वालों ने इन लोगों को निकाल दिया तब वे लोग अपने भक्तों को उपदेश देकर साधुओं के रहने के लिये स्थानक (मकान) बनाया और उसमें रहने के कारण वे स्थानक वासी कहलाये! और जो लोग स्थानक को आधाकर्मी—दोषित बतलाकर उसमें ठहरने में महा पाप समझने वाले आज भी साधुमार्गी कहलाते हैं परन्तु स्थानक में ठैरने वालों की बाहुलता होने के कारण इस समाज का नाम प्रायः स्थानकवासी (वास्तव में स्थानक मार्गी कहना चाहिये) पड़ गया है इतना परिचय करवा देने के पश्चात् यह बतला देना चाहता हूँ कि इन स्थानकमार्गीयों की मूर्त्तिपूजा विषय प्राचीन एवं अर्वाचीन क्या मान्यता हैं। जिसका संक्षेप से यहाँ परिचय करवा देना ठीक होगा।

(१) आज से करीबन पचास वर्ष पूर्व स्थानकवासी समाज कीमान्यता थी कि भगवान् महावीर के बाद २७ पाट तक तो सुविहित आचार्य हुए (श्रीनन्दीसूत्र की स्थविरावली में सत्ताईस पाट अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक की नामावली हैं और नन्दीसूत्र ३२ सूत्रों में से एक है)। उन लोगों के कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर से १००० वर्ष तक तो शुद्धचारी पूर्वधर आचार्य हुए बाद शिथलाचारी आचार्यों ने अपने स्वार्थ के लिये मूर्त्तियों की स्थापना कर मूर्ति पूजा चलाई।

(२) स्थानकवासी साधु हर्षचन्दजी ने अपनी "श्रीमद्-रायचन्द्र विचार निरिक्षण" नामक पुस्तक के पृष्ठ २२ में, पं० बेचरदास, रचित "जैन साहित्यमों विकार थवा थी हानि" नामक

पुस्तक के अधार पर लिखा है कि भगवान् महावीर के बाद ८२२ वर्ष में जैन मूर्तियों की स्थापना हुई। इस समय के पूर्व जैनों में मूर्तिपूजा नहीं थी।

(३) श्रीमान् वाडीलाल, मोतीलाल शाह अहमदावाद वालों ने अपनी "ऐतिहासिक नोंध" नामक पुस्तक के पृष्ठ १८ पर लिखा है कि आचार्य वज्र स्वामी का शिष्य आचार्य वज्रसेनसूरि के समय पाँच, सात एवं बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा और उस समय शिथलाचारी आचार्यों ने मूर्ति पूजा प्रचलित की। यह समय महावीर के बाद छट्टी शताब्दी का था।

(४) स्थानकवासी मुनि सोभाग्यचन्द्रजी (संतबालजी) ने "जैन प्रकाश" अखबार में धर्मप्राण लौंकाशाह की लेखमाला लिखते हुए बतलाया है कि सम्राट् अशोक के समय जैन मूत्तियाँ प्रचलित हुई। सम्राट् अशोक का समय महावीर प्रभु के बाद तीसरी शताब्दी का है। पश्चात् में दूसरे शताब्दी पर आये और अब बड़ली वाले शिलालेख से भगवान् महावीर के बाद ८४ वें वर्ष मूर्ति पूजा शुरु हुई इसको मानने लगे।

(५) स्थानकवासी मुनि मणिलालजी अपनी "जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली" नामक पुस्तक के पृष्ठ १०९ तथा १३१ में इस प्रकार उल्लेख करते हैं कि "मूर्त्तिपूजानी शरूआत जैनोंमाँ श्री वीरनिर्वाणना बीजा सैंकाना अन्तमां थई होय श्रेम केटलाक प्रमाणों पर थी समजी शकाय छे × × × सुविहित आचार्यों श्री जिनेश्वरदेवनी प्रतिमानुं अवलंबन बताव्युं तेनुं जे परिणाम मेलववा आचार्यों श्रे धार्युं हतुं ते परिणाम केटलेक अंशे आव्युं पण खरूँ अर्थात् श्री

जिनेश्वरदेवनी प्रतिमानी स्थापना अने तेनी प्रवृति थी घणा जैनों जैनेत्तर थता अटक्या ; अने तेम करवामाँ ओ आचार्यों ओ जैन समाज पर महान् उपकार कर्यों छे ओम करवामां जरा ओ अतिशय युक्ति नथी" ।

इस पर निर्पक्ष मुमुक्षुओं को विचार करना चाहिये कि भगवान् महावीर के बाद ९८० वर्ष में श्री देवर्द्धगणि क्षमाश्रमणजी ने जैन सूत्रों को पुस्तकारूढ़ किया । इस समय तक सुविहित आचार्यों का होना स्वीकार कर लिया । क्योंकि वे सूत्र श्वेताम्बर समुदाय के तीनों फिरके मान रहे हैं अर्थात् इन सूत्रों पर आज शासन ही चल रहा है । इस समय के बाद शिथलाचार और मूर्त्तियों का प्रचलित होना स्थानकवासी समाज स्वीकार करता है । पर ज्ञान के प्रकाश में स्था० साधु हर्षचन्दजी करीबन २५८ वर्ष और बढ़कर महावीर से ८२२ वर्ष में शिथिलाचार और मूर्त्तियों के दर्शन कर रहे हैं । तब भाई वाडीलालशाह की शोधखोल ४०० वर्ष आगे बढ़कर भगवान् महावीर के बाद ६०० वर्ष में शिथलाचारी आचार्यों द्वारा मूर्त्तियों की स्थापना का स्वप्ना देख रहा हैं । पर यह लिखते समय आप अपने पूर्वजों की कल्पना को बिलकुल भूल ही गये कि भगवान् महावीर के ६०० वर्षों में शिथलाचार समझा जायगा तो ३२ सूत्र भी शिथलाचारियों के लिखे हुए समझे जायँगे ? फिर भी ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई ।

इधर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों की शोधखोल ने प्राचीनता के इतने साधन उपस्थित कर दिये कि हमारे स्थानकवासी मुनियों को अपने पूर्वजों की मान्यताओं में परिवर्तन करना

पड़ा। साथ ही अपना यह मत भी प्रकट करना पड़ा कि—जैन मूर्त्तियों की स्थापना भगवान् महावीर के बाद दूसरी शताब्दी में सुविहित आचार्यों ने की। और उसका परिणाम भी अच्छा आया अर्थात् जैनमूर्त्तियों की स्थापना कर जैनाचार्यों ने जैन-समाज पर उपकार किया। यदि स्वामीजी एक कदम और आगे बढ़ जाते तो करीबन् ४५० वर्षों का मतभेद स्वयं नष्ट हो जाता और दोनों समुदायें एक होकर शासन सेवा करने में भाग्य-शाली बन जाती। खैर! इस सत्य प्रियता के लिये आपका स्वागत करना हम हमारा कर्त्तव्य समझते हैं।

परन्तु इसमें एक प्रश्न पैदा होता है कि आपने यह किस आधार पर लिखा है कि जैनों में मूर्त्ति का मानना महावीर निर्वाण के बाद दूसरी शताब्दी से प्रारम्भ हुआ और सुविहित आचार्यों ने इस प्रवृति से जैन समाज पर महान् उपकार किया इत्यादि।

आपने इसके लिए न तो कोई प्रमाण बतलाया है और न यह बात किसी प्राचीन ग्रन्थ व शिलालेख में मिलती भी है। यदि महाराज खारवेल के शिलालेख या, हस्तीगुफा की प्राचीन मूर्तियां, मथुरा के कंकाली टीलों की प्राचीन जैन मूर्तियों के शिलालेखों, अमेरिका के सिद्धचक्र यंत्र आस्ट्रेलिया की महावीर मूर्त्ति, मंगोलिया प्रान्त के जैन मन्दिर के ध्वंश विशेषादि प्राचीन इतिहास साधनों पर ही कल्पना की हो तो अभी तक आप का अभ्यास अपर्याप्त है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रमाणों से तो भगवान् महावीर के पूर्व भी जैनों में मूर्त्तिपूजा प्रचलित होना सिद्ध होता हो। और इस बात को मानने में आप

को किसी प्रकार की आपत्ती भी नहीं है। क्योंकि महावीर के बाद दूसरी शताब्दी में सुविहिताचार्यों के समय मूर्त्तिपूजा प्रचलित तो आप स्वीकार कर ही चुके हैं। और वीरात् दूसरी शताब्दी के सुविहिताचार्यों के निर्माण किये आगमों को (व्यवहारसूत्रादि) आप प्रमाण मानते हो जब उनके बनाये आगम प्रमाण है तो उनकी चलाई मूर्त्तिपूजा भी प्रमाणिक मानना तो स्वयं सिद्ध है और मूर्त्ति बिना आप का भी तो काम नहीं चलता हैं किसी भी रूप से मानो पर मूर्त्ति तो आपने भी मानी है। खैर पब्लिक में आज नहीं तो कल पर मूर्त्तिपूजा माने बिनो छुटकारा नहीं है आप नहीं तो आपके होने वाले मानेंगें जैसे आपके पूर्वजों कि अपेक्षा आप को आगे कदम बढाना पड़ा है इसी तरह आपके पीछे होने वालों को आप से

---

* १ मारवाड़ गोरी ग्राम में स्थानकवासी साधु हर्षचन्दजी की पाषणमय मूर्त्ति उपाश्रय के द्वार पर विराजमान है। आपके भक्त लोग नलयेरादि से पूजा करते हैं मारवाड़ सादड़ी ग्राम में ताराचंदजीकी पाषाण मय मूर्त्ति है और अष्टद्रव से हमेशा पूजा होती है। और स्थानकवासी साधु साध्वियों दर्शन करने को जाते है। और भी जेतपुर रायपुर-बडोत-अंबालादि बहुत स्थानों में स्थानकवासी साधुओं की समाधी पादुका और मूर्त्तियों है और उनकी सेवा पूजा भक्ति स्थानकवासी समाज पूज्य भाव से करते है। स्थानकवासी साधुओं के फोटु तो प्राय: घर घर में और अनेक पुस्तकों में पाये जाते हैं। यह सब मूर्त्तिपूजा नहीं तो और क्या है ? जिसकी गति का ठिकाना नहीं उन को तो पूजना और तीर्थंकर देव जिन्होंने निश्चय मोक्ष प्राप्त किया उनकी प्रतिष्ठित मूर्त्ति का अनादर करना इससे बढ़ के अज्ञानता ही क्या हो सकती है जरा पक्षपात का चश्मा उतार कर विचार करो कि न्याय क्या कहता है।

आगे कदम बढाना ही पड़ेगा। अस्तु मूर्त्तिपूजा के विषय में मैंने एक अलग ग्रन्थ लिखा हैं उसमें मूर्त्तिपूजा का इतिहास, लौंकाशाह पर किन अनार्यों का प्रभाव पड़ा और उन्होंने मूर्त्तिपूजा का विरोध क्यों किया, फिर लौंकाशाह के अनुयायियों ने मूर्त्ति-पूजा क्यों स्वीकार की, आगमों की प्रमाणिकता, जैनागमों में अनादि काल से शाश्वति मूर्त्तियों धर्म की आदि काल में कृत्रिम मूर्त्तियों और ऐतिहासिक क्षेत्र में मूर्त्तिपूजा का आग्रह स्थानादि अनेक विषयों पर विस्तृत प्रकाश डाला है। इसी कारण यहाँ मूर्त्ति विषय केवल लौंकाशाह का सम्बन्ध संक्षिप्त से लिख कर इस प्रकरण को समाप्त कर देता हूँ। अब आगे के प्रकरण में लौंका-शाह डोरा डाल मुंह पर मुहपत्ती बान्धी थी या नहीं इसका निर्णय किया जायगा पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ें।

प्रकरण—पन्द्रहवां

लौंकाशाह और मुंहपत्ती का डोरा ।

मेरी शोध एवं खोज से आज पर्यन्त श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन विषय जितने लेखकों* के लेख मिले हैं उनमें केवल एक स्वामि अमोलखर्षिजी के लेखको को अलग रख दिया जाय तो सबके सब लेखकों का एक ही मत है कि लौंकाशाह किसी और किसी भी अवस्था में डोरा डाल मुंह पर मुंहपत्ती नहीं बान्धी थी और यह बात भी यथार्थ है । क्योंकि जब लौंकाशाह जैन यतियों, जैनमन्दिर उपाश्रय के साथ द्वेष के कारण जैनश्रमण, जैनागम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमणादि किन्हीं भी धर्म क्रियाओं को ही नहीं मानता था इस हालत में डोराडाल मुंहपर मुंहपत्ती बांधना तो दूर किनारे रहा पर हाथ में भी मुंहपत्ती रखने की भी आपको जरूरत नहीं थी, और यह बात एक साधारण बुद्धिवाले के समझ में भी आ सकती है कि सामायिकादि क्रिया ही नहीं करे उस मनुष्य को मुंहपत्ती की क्या आवश्यकता है ?

कुछ देर के लिये हम ऋषिजी का कहना मान भी लें कि लौंकाशाह डोराडाल के मुंहपर मुंहपत्ती बान्धी थी, तो सबसे पहले दो प्रश्न पैदा होंगे (१) सब से प्रथम लौंकाशाह ने ही मुंहपत्ती बान्धी थी तो लौंकाशाह के पूर्व जैन साधुश्रावक धर्म क्रिया

---

* देखो प्रकरण चौथा ।

करते समय मुंहपत्ती हाथ में ही रखते थे, और लौंकाशाह ने ये नयी प्रवृति करी यह सिद्ध होता है। (२) दूसरा लौंकाशाह ने मुंहपर मुंहपत्ती बान्धी थी तो लौंकाशाह के अनुयायी लौंकागच्छ के श्री पूज्य–यति और श्रावक हाथ में मुंहपत्ती क्यों रखते हैं ? और यह कब से शुरू हुई अर्थात् लौंकाशाह के बाद किस किस आचार्य ने किस समय मुंहपत्ती का डोरा तोड़ मुंहपत्ती हाथ में रखनी शुरू की जो आज पर्यन्त लौंकागच्छ के श्री पूज्य–यति और श्रावक मुंहपत्ती हाथ में रखते हैं और लौंकाशाह की मुंहपर मुंहपत्ती बान्धने की प्रवृति को लौंकागच्छ के श्री पूज्यों, यतियों और श्रावकों ने तोड़ कर हाथ में रखने की प्रवृति क्यों की ? क्या ऋषिजी के पास इन दो प्रश्नों का उत्तर देने का कुछ प्रमाण है ? कुछ नहीं।

वास्तव में लौंकाशाह ने डोराडाल मुंहपर मुंहपत्ती नहीं बान्धी थी। यदि लौंकाशाह ने मुँहपर मुँहपत्ती बान्धी होती तो लौंकाशाह के समसामायिक पं० लावण्यसमय, उ० कमलसयम, मुनिजी बीका तथा लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्र अपने ग्रन्थों में लौंकाशाह की मान्यता के विषय में जैन साधु, जैनागम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रामाणादि की चर्चा और खण्डन मण्डन किया है वे मुंहपत्ती का भी उल्लेख अवश्य करते परन्तु उन्होंने मुंहपत्ती विषय एक शब्द तक भी उच्चारण नहीं किया इससे स्पष्ट पाया जाता है कि न तो लौंकाशाह ने मुंहपर मुंहपत्ती बान्धी थी और न उस समय इस बात की चर्चा भी हुई थी इतना ही क्यों पर विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लौंकामत में यति केशवजी, लौंकामतानुसार बड़े ही विद्वान् और प्रभाविक

हुए उन्होंने लौंकाशाह की जीवन घटनाओं को मंथित कर एक सिलोका बनाया जिसमे लौंकाशाह, देवपूजा और दान नहीं मानने का उल्लेख किया पर मुँहपत्ती डोराडाल मुँहपर दिन भर बन्धी रखने का जिक्र तक भी नहीं है। इन लौंकागच्छीय विद्वान् यतीजी के प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक तो जैनों में किसी भी समुदाय वाले डोराडाल दिन भर मुँहपर मुँहपत्ती नहीं बान्धते थे अर्थात् क्रिया करते समय हाथ में मुँहपत्ती रखते थे और बोलते समय मुँह आगे मुँहपत्ती रख यत्ना पूर्वक निर्वद्य भाषा बोलते थे।

लौंकागच्छीय श्री पूज्यों यत्तियों का स्पष्ट कहना है कि विक्रम की अट्ठारवीं शताब्दी में यति लवजी को आयोग्य समझ कर श्री पूज्य बजरंगजी ने उसको गच्छ बहार कर दिया था बस उस लवजी ने मुँहपर मुँहपत्ती बाध कर अपना ढूंढिया नामक नया मत निकाला और इनका कुलिंग देख कर इतर लोग भी कहने लगे कि—

"धोवा धावा का पाणी पीवे, वात वणावे काली।
मुहपत्ती वाधियो धर्म हुवे तो, वान्धो ढूंढियो राली"।

आगे चल कर वि० सं १८६५ में मुँहपर मुंहपत्ती बान्धने वाला स्वामी जेठमलजी हुए। आपने समकितसार नामक ग्रंथ में लौंकाशाह के विषय में प्राचीन चौपाइयों तथा कुछ आपकी ओर से भी लिखा है पर लौंकाशाह मुँहपत्ती मुँहपर बान्धने के विषय में जिक्र तक भी नहीं किया। आपके समय तो यही धारणा थी कि शास्त्रों में तो मुँहपत्ती बान्धनी नहीं कही है पर हमेशां उपयोग नहीं रहे और खुले मुँह बोला जाय इसलिये स्वामि-

लवजी ने डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बान्धली और हम उनकी परम्परा में होने से मुँहपत्ती मुँहपर बान्धते हैं।

इस बीसवीं शताब्दी के लेखक श्रीमान् वाड़ीलाल मोतीलाल-शाह ने अपनी ऐतिहासिक नोंध में लौंकाशाह का लम्बा चौड़ा अतिशय युक्ति पूर्ण जीवन लिखा है पर आपने लौंकाशाह को मुँहपर दिन भर मुँहपत्ती बान्धने वाला नहीं बतलाया है और स्वामि मणिलालजी ने जैन धर्मनो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास नाम की किताब में भी लौंकाशाह ने मुँहपर मुँहपत्ती बान्धी हो ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं किया है इतना ही क्यों आपने तो लौंकाशाह को तपागच्छीय यति सुमति विजय के पास यति दीक्षा लेना भी लिखा है इससे भी निश्चित होता है कि लौंकाशाह मुहपत्ती हाथ में ही रखता था।

अब आगे चल कर नये विद्वान् श्रीमान् संतबालजी इस विषय में क्या फरमाते हैं। आपने हाल ही में "धर्मप्राण लौंका-शाह" नाम की लम्बी चौड़ी लेखमाला 'जैनप्रकाश' नामक पत्र में प्रकाशित करवाई। उस लेखमाला में कहीं पर भी लौंकाशाह मुँह पर मुँहपत्ती बान्धने का थोड़ा भी उल्लेख नहीं किया इतना ही नहीं बल्कि आपने तो बड़ा ही जोर देकर सिद्ध किया है कि लौंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली पर गृहस्थावस्था में ही देहान्त हुआ। मुँहपती में डोरा डाल कर दिन भर मुँह पर बान्धने के बारे में आपने निडर होकर फरमाया कि:—

' मुख बन्धन श्री लाकाशाह ना समय थी सरू थयेल नथी परन्तु त्यार बाद थयेला स्वामिलवजी ना समय थी सरू

थयेल छे अने ए जरूरीपणु नथी"

जैन ज्योति ता० १८-७-३१ पृष्ट १७२ राजपाल मगनलाल वोहरानो लेख।"

इत्यादि लौंकागच्छीय और स्थानकमार्गी विद्वानों का एक ही मत है कि डोरा डाल दिन भर मुँह पर मुँहपत्ती बान्धने की प्रवृति लौंकाशाह से नहीं पर स्वामि लवजी (वि० सं० १७०८) से प्रचलित हुई है और लौंकागच्छीय श्रीपूज्य यति वर्ग और आप के उपासक गृहस्थ मुँह बान्धने का सख्त विरोध करते हैं इतना होने पर भी समझ में नहीं आता है कि स्वामी अमोलर्षिजी ने क्यों घसीठ मारा है कि लौंकाशाह ने मुँह पर मुँहपत्ती बान्ध कर दीक्षा ली थी ? लौंकाशाह की दीक्षा के विषय में आगे चल कर हम प्रकरण अठारवाँ में विस्तृत प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर बतलावेंगे कि लौंकाशाह की यति दीक्षा बतलाना बिलकुल मिथ्या कल्पना ही है। जब लौंकाशाह की दीक्षा ही कल्पित है तो मुँह बान्धना तो स्वतः मिथ्या ठहरता है। यदि भामएय लोगों को भ्रम में डाल अपनी जाल में फंसाने के लिये ही ऋषीजी ने यह प्रपंच जाल बना रखी हो तो यह बड़ी भारी भूल है। कारण अब ज्ञान भानूं की किरणों का प्रकाश गामडों की भद्रिक जनता पर भी पड़ने लग गया है दिन भर मुँह बान्धने से वे लोग नफरत भी करने लग गये हैं यही कारण है कि इस मुँह बान्धी समाज से सैकड़ों विद्वान् साधु मिथ्या डोरा का त्याग कर सनातन जैन धर्म का शरण लिया है वे भी साधारण नहीं पर स्वामी बुढेरायजी मूलचन्दजी, वृद्धिचंदजी, आत्मारामजी, बिशनचंदजी, रत्नचंदजी, और हाल ही में कानजी स्वामी, त्रिलोकचंदजी, गुलाबचन्दजी वगैरह विद्वान् स्थानक

वासी साधुओं का उदाहरण आपके सामने विद्यमान हैं कि इन महानुभावों ने धोले दिन और आम मैदान में मुँह बान्धना मिथ्या सिद्ध कर डोरा को स्वयं तोड़ा और हजारों को तोड़ा के शुद्ध मार्ग में लाये इस किताब का लेखक भी इसी पंक्तिका है।

लौंकागच्छीय और स्थानकवासी विद्वानों का मत हम ऊपर लिख आये हैं कि डोरा डाल मुँहपर मुँहपत्ती स्वामी लवजी ने सबसे पहले बान्धी थी। आगे हमारे स्वामी अमोलखर्षिजी की कल्पना लौंकाशाह तक की है पर स्था० पूज्य हुकमीचन्दजी की समुदाय वाले जो कि वे लोग कहते थे कि डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर दिन रात बान्धना सूत्रों में तो नहीं लिखा है पर हमारा उपभोग नहीं रहता है इसीलिये डोराडाल मुँहपत्ती मुँहपर बान्धी है। आज उनके ही अनुयायी भगवान् ऋषभदेव और तीर्थंकर महावीर के मुँहपर डोराडाल मुँहपती बान्धने के कल्पित चित्र बना के अपनी पुस्तकों में मुद्रित करवाने में भी नहीं चूके हैं। वे भी इतना भद्दा चित्र की तीर्थंकरों का शरीर एक स्कन्धा पर वस्त्र के सिवाय नग्न बनाके मुँहपर डोरावाली मुँहपती बन्धवादी है शायद आपका इरादा ऐसा होगा कि श्वेताम्बरों के अलावा दिगम्बरों को भी मुँह बन्धवादें कारण तीर्थंकर डोराडाल मुँहपती मुँहपर बान्धते थे तो श्वे० और दिगम्बर सब को मुँहपर डोराडाल दिन रात मुँहपत्ती बान्धनी चाहिये ? पर दुःख इस बात का है कि श्वे० दि० तो क्या पर इस कुकृत्य और मिथ्या प्ररूपना का स्थानकवासी समाज ने भी जोरों के साथ विरोध किया है। क्योंकि वस्त्रमात्र नहीं रखने वाले दिगम्बर हाथ में मुँहपत्ती रखने वाले श्वेताम्बर, तथा लौंकागच्छीय, और मुँहपर मुँहपत्ती

बान्धने वाले स्थानकमार्गी एवं तेरहपन्थी अर्थात् अखिल जैन समाज की अटल मान्यता है कि भगवान् ऋषभदेव से तीर्थंकर महावीर सर्वज्ञावस्था में वस्त्र रहित ही रहते थे मुँहपत्ती और डोरा तो क्या पर सूत का एक तार तक भी नहीं रखते थे फिर समझ में नहीं आता है कि ऐसे मनचले, निरंकुश स्वच्छन्दी और जैन शास्त्रों के अनभिज्ञ लोग अपनी अज्ञानता का कलंक तीर्थंकर जैसे वीतरागदेवों पर लगाने को क्यों उतारू हुए हैं ? क्या कोई व्यक्ति यह बतलाने का साहस कर सकता है कि किसी शास्त्रीय या ऐतिहासिक प्रमाणों में स्वामि लवजी के पूर्व किसी जैन तीर्थंकर व श्रमण तथा श्रावक डोराडाल मुँह पर दिनभर मुँहपती बान्धी थी ? हाँ, सोमल नामक ब्राह्मण ने काष्ट की मुँह पत्ती से मुँह बांधा पर उसको शास्त्रकारों ने मिथ्यात्वी कहा है और देवता के समझाने पर वह समझ भी गया और उस काष्ठ मुँहपत्ती का त्याग भी कर दिया दूसरा जमाली क्षत्रीकुमार के दीक्षा समय नाई (हजाम) ने आठ पुड वाला कपड़ा से मुँह बांध कर जमाली की हजामत बनाई थी पर उसके पास नाई की रचानी थी, इसके सिवाय किसी में भी स्व व परमत में मुँहपर मुँहपती बांधने का अधिकार व रिवाज नहीं था।

अब इनके खिलाफ धर्म क्रिया करते समय हाथ में मुँहपत्ती रखने का और बोलते समय मुँह के आगे मुँहपत्ती रखने के सैकड़ों प्रमाण मिल सकते हैं। जैसे ओसियों कुंभारियाजी आबू राणकपुर और कापरडाजी के मन्दिरों में जैनाचार्यों की मूर्त्तियों जो व्याख्यान देते हुए की बनी हुई हैं। जिन्होंके सन्मुख स्थापन जी और हाथ में मुँह वस्त्रिका है। इसी भाँति उन आचार्यों के

उपासक साधु सध्वियों श्रावक और श्राविकाओं की मूर्त्तियों जो हाथ में मुख वस्त्रिका की बनी हुई है इन मूर्त्तियों का स्थापित समय वीर निर्वाण ७० वर्षों से विक्रम की सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी का है। इसी प्रकार प्राचीन कल्पसूत्रादि की हस्तलिखित प्रतियों में भी जैनाचार्यों के हाथ में मुखवस्त्रिका वाले चित्र संख्याबन्ध मिल सक्ते हैं। पूर्वोक्त प्रमाण इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि स्वामि लवजी के पूर्व जैनाचार्य-साधु और श्रावक मुँहपत्ती हाथ में रखते थे और बोलते समय मुँह आगे रख यत्ना पूर्वक निर्वद्य भाषा बोलते थे। पर मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती बांधने का एक भी प्राचीन प्रमाण नहीं मिलता है। फिर तीर्थंकरों के और प्राचीन समय के महान् मुनिवरों के मुँहपर डोराडाल मुँहपत्ती वाले कल्पित चित्र बना के दुनियाँ में अपनी अज्ञता का परिचय करवा के हंसी के पात्र बनने के सिवाय और क्या अर्थ होसकता है ? यदि उन महानुभावों से पूछा जाय कि आपने भगवान् ऋषभदेव बाहुबली ब्राह्मी, सुन्दरी, पांचपांडव, प्रश्नचन्द्रराजर्षि, आदि के मुँहपर डोरावाली मुँहपत्ती के चित्र करवाये यह किस आधार से करवाये हैं ? यदि कोई प्राचीन आधार नहीं तो इन कल्पित कलेवर की सभ्य समाज में कितनी क़ीमत हो सकती है ? कुछ भी नही।

अन्त में इतना कहकर इस प्रकरण को समाप्त कर दूंगा कि मुँहपत्ती चर्चा के विषय में मैंने एक अलग पुस्तक लिखी है जिसमें स्वशास्त्र और पर धर्म के शास्त्रों के अलावा ऐतिहासिक प्रमाण द्वारा युक्ति पुरःसर मुँहपत्ती हाथ में रखना प्रमाणित कर बतलाया है इसलिये यहाँ विशेष विस्तार नहीं किया है यहाँ तो

केवल लौंकाशाह का सम्बन्ध होने से मैंने खास लौंकागच्छीय और विशेष स्थानकवासी विद्वानों की सम्मति देकर यह सिद्ध कर दिया है कि लौंकाशाह और लौंकाशाह के अनुयायी विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी तक तो किसी ने भी डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती नहीं बान्धी थी प्रत्युत सब लोग हाथ में ही मुँहपत्ती रखते थे। मुँहपत्ती तो स्वामिलवजी ने वि० सं० १७०८ के आस पास मुँहपर बांधी थी जिसको खास लौंकागच्छीय विद्वान् कुलिंग और मिथ्या-प्रवृति घोषित करदी थी और आज भी कर रहे हैं आगे के प्रकरण में लौंकाशाह की विद्वता को भी पढ़ लीजिये।

प्रकरण-सोलहवां

लौंकाशाह की विद्वत्ता।

किसी भी व्यक्ति की विद्वता, उसके खुद के निर्माण किए हुए साहित्य पर निर्भर है, या उसके समकालीन किसी अन्य विद्वान् ने अपने ग्रंथ में इसका प्रतिपादन किया हो कि हमारे समय में अमुक व्यक्ति विद्वान् था, तो हम उसे विद्वान् मान सकते हैं। परन्तु जो व्यक्ति आज से चार पांच शताब्दी पूर्व हो गुजरा है, और उसके विषय में साहित्य के अन्दर उसकी विद्वत्ता का वर्णन तो दर किनार रहा, उसका नामोल्लेख तक भी न मिले और उसे फिर सभ्य समाज सामान्य व्यक्ति ही नहीं किन्तु एक दम से विद्वान् मानले यह असंभव है। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में समग्र जैनसमाज, विशेष कर गुर्जर प्रान्तीय जैन समाज में अनेकाऽनेक विद्वान् हो चुके हैं, और उनके बनाए हुए सैकड़ों ग्रंथ आज विद्यमान हैं। प्रमाण के लिए देखो गुर्जर काव्य संग्रह भाग १-२ जैन ग्रन्थावली, जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास आदि। परन्तु १६ वीं शताब्दी के एक बड़े भारी, धर्म सुधारक, क्रान्तिकारक, विद्वान् की विद्वत्ता की प्राचीन साहित्य में गंध तक न मिले यह कितने आश्चर्य की बात है।

खास बात यह है कि वि० की उन्नीसवीं सदी तक तो क्या जैन और क्या लौंका तथा स्थानकमार्गी सब की एक यही

धारणा थी कि लौंकाशाह एक साधारण गृहस्थ और लिखाई का काम कर अपनी आजीविका चलाता था। इतना ही नहीं पर खास स्था० साधु जेठमलजी ने भी वि० सं० १८६५ में समकित सार नामक ग्रन्थ में (जो खास मूर्त्ति के खंडन में बनाया है) पृष्ठ ७ पर साफ तौर से लिखा है कि लौंकाशाह पहिले नाणावटी का धंधा करता था, बाद में पुस्तक लिखने का काम करने लगा, फिर समझ में नहीं आता है कि इन जेठमलजी के अनुयायी अपने आचार्य के शब्दों को मिथ्या ठहराने को क्यों उतारू हुए हैं? क्या आज के लिखे पढ़े नये विद्वान् स्थानकमार्गी अपने धर्मस्थापक गुरु लौंकाशाह को सामन्य व्यक्ति मानने में शरमाते हैं। क्योंकि इसीसे तो वाड़ी० मोताशाह ने अपनी ऐतिहासिक नोंध में, साधु मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली में, साधु संतबालजी ने अपनी "धर्म प्राण लौंकाशाह" नामक लेखमाला में, घसीट मारा है कि लौंकाशाह बड़ा भारी विद्वान् था, यही नहीं किन्तु संतबालजी ने तो यहां तक लिख दिया है, कि लौंकाशाह उस समय भारत की सब भाषाओं का जानकार था, अब संस्कृत और प्राकृत भाषा का तो वह सर्व श्रेष्ठ विद्वान् हो इसमें कहना ही शेष क्या है। पर वास्तव में लौंकाशाह को साधारण गुर्जर भाषा का भी ज्ञान था या नहीं, इस बात की पुष्टि में भी स्वामीजी के पास कोई प्रमाण नहीं है। क्योंकि लौंकाशाह की खुद की बनाई हुई एकाध ढाल या चौपाई भी आज तक नहीं मिली है। फिर ये लोग किस आधार पर यह हवाई इमारत खड़ी करते हैं। इस बीसवीं सदी में ऐसे प्रमाण शून्य लेखों की विद्वद् समाज क्या कीमत करता है? या तो यह

इन पक्षपाती पुरुषों को नजर नहीं आता है—अथवा ये जान बूझ के दृष्टि राग के कारण भूलकर धोखा खा रहे हैं।

लौंकाशाह ने जिस समय अपना नया मत निकाला होगा उस समय खण्डन मण्डनाऽऽत्मक चर्चा जरूर हुई होगी, क्योंकि प्रमाण स्वरूप लौंकाशाह के प्रतिपक्षियों द्वारा उस समय का लिखा हुआ साहित्य आज हमें उपलब्ध हो रहा है। तब लौंका शाह विद्वान् होने पर भी चुप चाप कैसे बैठ गया ? यह बात आश्चर्य की है। यदि कोई यह कहे कि लौंकाशाह खंडन मँडन की प्रवृत्ति को पसन्द नहीं करता था, इससे प्रत्युत्तर में उसने कुछ नहीं लिखा। सोच लो थोड़ी देर के लिए कि उसने इसी से कुछ नहीं लिखा, परन्तु इस खण्डन मण्डन के अलावा भी तो साहित्य क्षेत्र विस्तृत पड़ा था, तात्विक और दार्शनिक विषय तो लौंकाशाह को अरुचिकर नहीं प्रतीत हुए होंगे, इन पर ही कुछ लिखना था। परन्तु उसने तो इन पर भी कुछ नहीं लिखा। यही क्यों लौंकाशाह ने तो अपना सिद्धान्त बताने को भी दो कागज काले नहीं किए, और इसी से आज उनके अनुयायी पग २ पर ठोकरें खाते हैं। लौंकाशाह या लवजी थोड़े भी लिखे पढ़े होते तो उनके अनुयायी इतने अज्ञानी नहीं रहते कि वे अपनी धर्म क्रिया के पाठ को भी शुद्ध उच्चारण न कर सके। तथा ४५० वर्षों में एक भी ऐसा विद्वान् न हो कि वह संस्कृत या प्राकृत भाषा में एकाध ग्रंथ रच कर साहित्य सेवा का सौभाग्य प्राप्त कर सके। एक विद्वान् का मत है कि "इस ढूँढिया पन्थ में आज तक भी कोई ऐसा विद्वान् नहीं हुआ, जिसने न्याय, काव्य, छन्द या अलङ्कारादि के विषय में कोई ग्रंथ रचा हो।"

लौंकाशाह की विद्यमानता में ही कडुआशाह हुआ, वह चाहे धुरन्धर विद्वान् हो या न हो, पर अपने मत के नियम और सिद्धांत तो वह भी बना गया, जो आज उपलब्ध हैं। फिर लौंकाशाह ने ही ऐसी चुपकी क्यों साधी थी ? खैर! जाने दीजिए। लौंकाशाह के जीवन वृत्त का मुख्याऽऽधार वाड़ी मोती शाह कृत ऐतिहासिक नोंध है, और उसमें लिखा है कि लौंका-शाह के विषय मे हम कुछ नहीं जानते हैं, तथा यही बात स्वामी मणिलालजी भी दुहराते हैं, फिर न मालूम, संतबालजी किस आधार से यह लिखते हैं कि लौंकाशाह बड़ा भारी विद्वान् था। क्या संतबालजी अपने दूसरे महाव्रत को इस प्रकार बचा सकेंगे ?

जमाना सत्यवाद एवं प्रमाणवाद का है। लेख लिखने के पूर्व लेख की सत्यता के लिए प्रमाण ढूंढने की जरूरत है। केवल कागजी घोड़े दौड़ाने से कोई सफलता नहीं मिल सकती। हम तो आज भी चाहते हैं कि हमारे स्थानकमार्गी भाई इस विषय के प्रमाण जनता के सामने रख अपने लेख की सत्यता सिद्ध करें।

लौंकाशाह केवल स्थानकमार्गियों की ही सम्पत्ति नहीं पर वे जैनाचार्य द्वारा बनाया हुआ एक जैन श्रावक थे। अतः लौंका-शाह विद्वान् हो तो जैन समाज को अप्रसन्नता नहीं किन्तु गौरव है। परन्तु प्रमाण शून्य कल्पित लेखों द्वारा हम लौंका-शाह की हँसी उड़ाना नहीं चाहते हैं।

श्रीमान् लौंकाशाह के समकालीन तथा सम सिद्धान्ती महात्मा कबीर, नानक शाह, रामचरण, कडुआशाह, तारण स्वामी आदि बहुत हुए, इनका साहित्य आज विद्यमान हैं, इतना

ही नहीं पर विदुषी मीरांबाई के भी सैकड़ों पद गाये जाते हैं, फिर एक लौंकाशाह की विद्वत्ता का ही परिचय कराने वाला थोड़ा सा भी साहित्य न मिले, इस हालत में यह कहना कोई अनुचित नहीं कि लौंकाशाह को साधारण गुर्जर भाषा का भी पूरा ज्ञान नहीं था। यदि लौंकाशाह थोड़ा भी बुद्धिमान् होता तो अनार्य संस्कृति का अनुकरण कर जैन धर्म के अंग भूत सामायिकादि क्रियाओं का विरोध नहीं करता।

यदि अब कोई यह सवाल करे कि जब लौंकाशाह जरा भी विद्वान् नहीं था तो तब उनका मत कैसे चल गया, और लाखों मनुष्य उनके अनुयायी कैसे बन गए ?। उत्तर में यह लिखना है कि मत चल पड़ना कोई विद्वत्ता की बात नहीं, आप "भारतीय मतोत्पत्ति का इतिहास", उठा कर देखिये ! आपको ऐसे २ अनेक मत मिलेंगे जो नितान्त अनपढ़ों के तथा मूर्खाऽ-अगण्य शूद्रों तक के निकले हुए हैं। और जिन्हें लाखों मनुष्य मानते हैं। आप दूर क्यों जाते हैं ? आपके ही अंदर से देखिये। वि० सं० १८१५ में स्वामी भीखमजी ने तेरह पन्थ नामक मत निकाला। आप भीखमजी को कैसे विद्वान् समझते हैं। जैसे भीषमजी हैं वैसे ही लौंकाशाह होंगे। फिर मत चलाने में विद्वत्ता को कारण क्यों मानते हो। छः कोटि, आठ कोटि, जीव पंथी, अजीव पंथी लोगों का भी यही हाल है। आगे चल कर हम लौंकाशाह के अनुयायियों के बारे में भी लिखेंगे कि लौंकाशाह के लाखों तो क्या पर हजारों भी अनुयायी उनकी मौजूदगी में नहीं थे। बाद में जब लौंकागच्छके यतियों ने मूर्त्ति पूजा को मान लिया तब उनकी संख्या बढी। अथवा यह भी

मानलो कि जब किसी गाँव में किसी भी गच्छ के आचार्यों का परिभ्रमण बहुत अर्से तक न हुआ हो और वहाँ की जैन जनता यदि अज्ञानवश इनके परिभ्रमण को देख इनके चंगुल में फंस गई हो तो इससे क्या मत की सत्यता सिद्ध होती है ? । कदापि नहीं । यदि ऐसा हो, जब तो एक समय संसार का बड़ा भाग वाममार्ग का उपासक था तो क्या आप इसे भी सत्य समझेंगे ? यदि नहीं तो फिर सत्यता की सिद्धि में जन संख्या बताना केवल भ्रम है ।

यदि आप मत चलाने के कारण ही यह कल्पना करते हो तो मिथ्या है । कारण मत तो साधारण आदमी भी चला सकता है । फिर बिचारे लौंकाशाह की मृत आत्मा पर यह मिथ्या आक्षेप क्यो कर लाद रहे हो । एक जगह तो संतबालजी के मुँह से लौंका-शाह खुद फरमाते हैं कि:—अरे "हूँ उपदेशक नथी पण एक साधारण लहीयो छुं. अरे ! मारे जेवा गरीब वाणिया नी शक्ति पण शुं ?" लौंकाशाह के इन वचनों पर जरा ध्यान लगा कर विचार करें कि लौंकाशाह क्या कह रहा है ? और आप क्या लिख रहे हैं ? इन दोनों उदाहरणों में सत्यांश किसमें है ? अस्तु इसे ज्यादा नहीं बढ़ाकर अब हम लौंकाशाह ने अपने जीवन में किन्हीं को धर्मोपदेश दिया वा नहीं, इसे सत्रहवें प्रकरण में लिखेंगे, इसका खुलासा पाठक वहाँ देखें ।

प्रकरण—सत्रहवां

क्या लौंकाशाहने किसी को धर्मोपदेश दिया था ?

लौंकाशाह की विद्वत्ता का परिचय तो हम पिछले प्रकरण में दे आए हैं। अब यह बताते हैं कि लौंकाशाह ने भी कभी किसी को उपदेश दिया था वा नहीं। इसके विषय में खुलासा यह है कि लौंकाशाह के समय में जैन आगामों का न तो गुर्जरगिरा में अनुवाद हुआ था और न उन पर भाषा टीका हुई थी। मूल जैनाऽऽगम अर्धमागधी में थे और उनकी टीका देववाणी (संस्कृत) में थी। लौंकाशाह को इन दोनों भाषाओं का तनिक भी ज्ञान नहीं था। तथापि कई एक सज्जन मतदुराग्रह के वश हो यह प्रायः कहा करते हैं कि लौंका-शाह ने लाखों मनुष्यों को उपदेश किया था। ऐसा लिखने वालों में सर्व प्रथम नंबर वा० मो० शाह का है। आप अपनी ऐतिहा-सिक नोंध के पृष्ठ ६५ पर लिखते हैं कि लौंकाशाह ने अपनी बुलन्द आवाज को भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँचा दिया था। पृष्ठ ६८ पर आप लिखते हैं कि एकदा पाटण निवासी लखमसी लौंकाशाह के पास आया, लौंकाशाह ने उसको ऐसा मार्मिक उपदेश दिया कि वह तत्क्षण लौंकाशाह का पक्का अनु-यायी बन गया। इसके आगे आप अपनी नोंध के पृष्ठ ६९ में लिखते हैं कि सूरत, पाटण, अरहटवाड़ा इत्यादि चार गाँवों के संघ अहमदाबाद में आए। संघ के लोग लौंकाशाह का उपदेश

सुनने को आते थे। यह बात यतियों को मालूम हुई और यति लोगों ने संघपतियों को कहा कि संघ खर्चे से तंग होगया है। वास्ते संघ को रवाना करना चाहिए, इस पर संघपतियोंने कहा कि अभी वर्षा बहुत हुई है, अतः जीवोत्पत्ति भी प्रचुर परिमाण में हुई है, तदर्थ यहाँ से संघ जा नहीं सकते, इत्यादि। तब यतियों ने कहा कि ऐसा धर्म तुम को किसने बताया, धर्म के कार्य में कुछ हिंसा नहीं गिनी जाती है, इत्यादि। आगे आप लिखते हैं कि—

लौंकाशाह ने अहमदाबाद में जो उपदेश किया था, उसके अन्तर्गत लौंकाशाह ने कई सूत्रों को भी बताया था कि श्री भगवतीसूत्र, आचारांगसूत्र प्रश्नव्याकरणादि किन्हीं सूत्रों मे मूर्त्ति पूजा का उल्लेख नहीं है। आनंद कामदेव आदि बहुत से श्रावक हुए पर किसी ने भी मूर्ति पूजा नहीं की। इस प्रकार वा० मो० शाह ने जो कल्पित उद्धरण अपनी नोंध में रक्खा है उसी का अनुकरण स्वामी सन्तबालजी ने अपनी धर्मप्राण लौंका-शाह नामक लेखमाला में कुछ विशेषो के साथ किया है। परन्तु इन बातों में सिवाय मनः कल्पना के और विशेष तथ्य न होने से, किसी ने इन पर विशेष लक्ष्य ही नहीं दिया, तथाच अन्त तो गत्वा हमारे स्था० साधु मणिलालजी ने "प्रभुवीर पटावली" लिख पूर्वोक्त दोनों लेखकों के लेख को मिथ्या ठहरा दिया, वह भी केवल इनकी तरह कल्पना मात्र से ही नहीं अपितु वि० सं० १६३६ के लिखे लौंकाशाह के जीवन के आधार पर, उससे पाया जाता है कि "लौंकाशाह ने न तो गृहस्थाऽवस्था में किसी के पास विद्याऽभ्यास किया और न शास्त्रों का पठन पाठन तथा उपदेश कर्म ही किया। उनके पास न तो पाटण का लखमसी आया

और न लौंकाशाह ने उसे उपदेश दिया। पाटण सूरत आदि के संघ न तो अहमदाबाद गए और न उपदेशार्थ लौंकाशाह की सेवा में सम्मिलित हुए। जब ३५० वर्ष पहले के लिखित इतिहास में जिन बातों की गन्ध तक नहीं फिर समझ में नहीं आता कि इन विख्यात विद्वानों (!) ने ऐसा षड्यन्त्र रच विचारे भोले भाले स्थानकमार्गियों को यह धोखा क्यों दिया है ?

अब आप यह भी देख लीजिये कि स्वयं लौंकाशाह के अनुयायी इस विषय में क्या कहते हैं:—उदाहरणार्थ,

यति भानुचन्द्र लौंकागच्छीय वि० सं० १५७८।

"हाटउ बइठो दे उपदेश, सांभली यति गएू करई कलेस।
संघनो लोक पण पखियो थयो, सा लुंको तव लींबडीई गयो॥
लखमसी हिव तिहां छइ कारभारी, सा लुंकानो थयो सहचारी।
अमारा राज्यि में उपदेश करो, दया धरम छे सहु थी खरो॥

"दया धर्म चौपाई"

यह सं० १५७८ अर्थात् लौंकाशाह के बाद ४० वर्ष का लेख जो खास लौंकाशाह के मताऽनुयायी का है, इसमें न तो अहमदाबाद में पाटण के किसी लखमसी का आना लिखा है, और न सूरत आदि के चारों संघ आए हैं। इस हालत में हम वा० मो० शाह या संतबालजी के कहने पर कैसे विश्वास करें कि लौंकाशाह ने किन्हीं संघपतियों को उपदेश दिया था ?। -जरा सोचिये।

(१) वि० सं० १५७८ की चौपाई में इस बात की गंध तक भी नहीं है कि लौंकाशाह के पास चार संघ या लखमसी आया था ।

(२) वि० सं०१६३६ के लौंकाशाह के जीवन वृत्त में इस बात का जिक्र तक भी नहीं है ।

(३) वि० सं १८६५ के स्था० साधु जेठमलजी ने समकितसार में लौंकाशाह की जीवन संबन्धी चौपाइयें लिखी हैं । उनमें इन बातों का इशारा तक भी नहीं किया है ।

(४) वि० सं० १९७७ में स्था० साधु अमोलखर्षिजी ने शास्त्रोद्धारा मीमांसा नामक पुस्तक में इस बात का उल्लेख तक भी नहीं किया ।

(५) वि० सं० १९९२ में स्था० साधु मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली में भी कहीं पर ऐसा नहीं लिखा है कि लौंकाशाह ने गृहस्थावस्था में किसी को उपदेश दिया था । स्वामीजी ने लौंकाशाह को यति दीक्षा दिलवा कर लखमसी और संघों की घटना यति लौंकाशाह के साथ जोड़ दी क्योंकि ऐसी महत्व की बात को स्वामीजी क्यों जाने दे पर जब लौंकाशाह की दीक्षा की मूल बात ही कल्पनीक सिद्ध हो चुकी है दीक्षा लेकर उपदेश करना तो स्वतः कल्पनीक सिद्ध होता है ।

अब सोचना चाहिए कि विक्रम की सोलहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक के ग्रन्थों में जिन बातों का जिक्र भी नहीं है उन्हीं बातों को एकाऽध व्यक्ति पक्षपात ग्रस्त हो, बिलकुल निरा-

धार लिखदे, यह उनकी भक्ति कही जायगी, या उनके द्वारा की हुई स्वर्गकृत आत्मा की हाँसी कही जायगी ?

खास बात तो यह है कि लौंकाशाह न तो विद्वान् था और न उसने किन्हीं को उपदेश दिया था, तथा न अहमदाबाद में चार संघ ही आए थे। स्वामी मणिलालजी प्रभुवीर पटावली में लिखते हैं कि लौंकाशाह ने यतिदीक्षा लेकर अहमदाबाद में चतुर्मास किया। वहाँ ४ संघ आए। अब सोचना यह कि प्रथम तो चतुर्मास में जैनों का संघ निकलता ही नहीं। दूसरा अहमदाबाद कोई तीर्थ स्थान नहीं कि वहाँ चौमासा में चार संघ इकट्ठे हों। तीसरा पाटण सुरत आदि से सिद्धाचल गिरनार आदि जाने के मार्ग में अहमदाबाद आता ही नहीं है। फिर चौमासा में चारों संघों का अहमदाबाद में सम्मिलित होना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

वाडी० मोती० शाह तथा संतबालजी को तो येन केन प्रकारेण जैन यतियों की निंदा करनी है, इसीलिए झट यह कल्पना कर डाली कि यतियों ने कहा-धर्म कार्य में हिंसा नहीं गिनी जाती है, पर यह कहाँ तक सत्य है कारण सोलहवीं शताब्दी के तो यति लोग बड़े ही विद्वान् क्रिया पात्र एवं धर्मिष्ठ थे। वे ऐसे निर्दय वचन कह ही नहीं सकते हैं। यह तो चल चित्त स्थानकमार्गियों को स्थिर करने के लिए जैनियों की मात्र निंदा की गई है। यदि उपर्युक्त बात सत्य है तो वे प्रबल प्रमाण पेश करें। अन्यथा इन झूठी गप्पों में कोई सार तत्व नहीं है, यह बात तो हमारे स्थानकमार्गी विद्वान् स्वयं सोच सकते हैं कि हम इस विषय में जहाँ तक गहरे पहुँच सके वहाँ तक जाकर तो

यही निष्कर्ष निकाल पाये हैं कि लौंकाशाह ने किसी को उपदेश नहीं दिया, विशेष ! विज्ञ विद्वान् फिर इस पर विचार करें। हम तो इसे यहीं छोड़ते हैं तथा इसके अगले प्रकरण में "लौंकाशाह ने यति दीक्षा ली वा नहीं ?" के विवेचन की सूचना दे लेखनी को विराम देते हैं।

प्रकरण–अट्ठारहवाँ

क्या लौंकाशाह ने यति दीक्षा ली थी ?

लौंकाशाह के जीवन संबंधी यत्किञ्चित् वर्णन जिन जिन लेखकों ने लिखा है उन सब के लेखों से एक मात्र यही ध्वनि निकलती है कि लौंकाशाह गृहस्थ था और गृहस्थदशा में ही उसने अपनी इह लीला संवरण की। आज स्था० समाज का विशेष विश्वास वा० मो० शाह की ऐतिहासिक नोंध पर है। इसलिए पहिले उसी का प्रमाण देना उचित है कि उसमें इस विषय में क्या लिखा है। वाड़ी० मो० स्वयं लौंकाशाह के मुख से कहलाते हैं कि:—

"मैं इस समय बिलकुल बूढा और अपंग हूँ, ऐसे शरीर से साधु की कठिन क्रियाओं का साधन होना अशक्य है। मेरे जैसा मनुष्य दीक्षा लेकर जितना उपकार कर सके उससे ज्यादा उपकार संसार में रहकर कर सकता है।"

ऐतिहा० नोंध पृ० ७४–५।

× × ×

श्रीमान् साधु संतबालजी स्था०

"लौंकाशाह खुद गृहस्थ पणां मां रह्या अने ४५ मनुष्यों ने दीक्षा लेवानी अनुमति आपी × × × इसके आगे आप फुटनोट में लिखते हैं कि:—

"कई कई स्थले अेवो पण उल्लेख मले छै के लौंका-

शाह पोते पण दीक्षित थया हता. अने तेथीज तेमनो अनु-यायी वर्ग लौंकामत तरीके पाछलथी ओलखायो ? परन्तु आ वात बहु प्रतिष्ठा पात्र जणाती नथी। आ वखते लौंकाशाहनी वय खूबज वृद्ध थई गई हती। अने आ ४५ दीक्षा थया पछी टुंकज वखत मां तेमनो देहान्त थयो छे। अेटले तेओनी त्याग दशा उत्कृष्ट होवा छतां, गृहस्थ छतां पण सन्यास अेवा रह्या, दीक्षा लई सक्या नथी ×××"।

धर्म० प्रा० लौं० ले० जैन प्र० ता० १८-८-३५ पृष्ट ४७५

× × ×

स्था० साध विनयर्षिजी

"श्रीमान् धर्मप्राण लौंकाशाहनी उमर अे समये मोटी हती, तेओ गृहस्थ वासमां साधु जीवन गालता हता×× ।

"बंबई समाचार ४-४-३६ के लेख से।"

× × ×

इनके अलावा आचार्य विजयानन्द सूरि, दि० रत्नानन्दी, सुमतिकीर्ति, तारण स्वामी, लौंकायति, भानुचन्दजी स्था० साधु जेठमलजी आदि लेखकों का भी यहीमत है कि श्रीमान् लौंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली, पर वे अपनी तमाम जिन्दगी भर गृहस्था-ऽवस्था में ही रहे। पं० मुनि लावण्यसमय और उपा० कमल संयम तथा मुनि वीकाका और ऋषिकेशवजी का भी यही मत है कि लौंकाशाह गृहस्थ ही रहा था।

जब वि० सं० १५४३ से आज पर्यन्त के लेखकों का एक

ही मत है कि लौंकाशाह गृहस्थ था, और उसके चलाये हुए मत को ही आज लौंकामत कहते हैं तथा स्थानकमार्गी भी अपना मत लौंकाशाह का चलाया हुआ मानते हैं। अब जब कभी स्थानक मार्गी कहीं वाद विवाद में खड़े होते हैं, तब प्रतिपक्षियों की ओर से हमेशा यही कहा जाता है कि तुम्हारा मत तो गृहस्थ से चलाया हुआ है, तुम्हारे गुरु गृहस्थ लौंकाशाह हैं, इत्यादि। परन्तु यह बात आजकल के नवशिक्षित दीक्षित स्थानकमार्गी साधुओं को खटकने लगी है, और वे इसका बचाव करने के लिए अनेकों युक्तियें लगा आखिर एक कल्पना कर पाये हैं— जैसे स्वामी मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली नामक पुस्तक के १७० पृष्ट पर लिखा है कि "लौंकाशाह अकेले पाटण यति सुमति विजयजी के पास गए और उनसे दीक्षा ग्रहण कर अपना नाम लक्ष्मी विजय रक्खा। यह दीक्षा भी चातुर्मास में अर्थात् वि० सं० १५०९ श्रावण सुदि ११ को ली थी।"

परन्तु यह बात हमारे स्था० साधु अमोलखऋषिजी को नहीं रुची, क्योंकि इतने बड़े समुदाय का स्वामी अकेला दीक्षा ले यह ऋषिजी को कैसे अच्छी लगे। इसी गरज से आपने अपनी शास्त्रोद्धार मीमांसा पृष्ठ ५९ में लिख दिया कि लौंकाशाह ने १५२ मनुष्यों के साथ दीक्षा ली थी।

किन्तु दीक्षा के उमेदवार जो ४५ मनुष्य थे उनके लिये क्या हुआ ? कारण वा० मो० शाह तथा स्वामी संतबालजी तो लौंकाशाह को दीक्षित नहीं पर गृहस्थ मानते हैं और उन ४५ मनुष्यों को लौंकाशाह की सम्मति से यति ज्ञानजी (आचार्य ज्ञानसागर सूरि) के पास दीक्षा

दिलाना लिखते हैं परन्तु स्वामि मणिलालजी ने लौंकाशाह को पाटण में यति दीक्षा दिलादी फिर भी ४५ दीक्षाको वे क्यों जाने दें। आपने प्रभुवीर पटावली पुस्तक के पृष्ठ १७५ पर लिख दिया कि लौंकाशाह यति दीक्षा लेने के बाद उन ४५ मनुष्यों ने लौंकाशाह के पास दीक्षा लेली परन्तु अमोलखऋषिजी ने तो ४५ क्या पर १५२ मनुष्यों के साथ लौंकाशाह दीक्षा ली लिखा दिया, बाद लौंकाशाह का काल होने पर फिर ऋषिजी को ४५ मनुष्यों की स्मृति हो आई तो वे भी ४५ दीक्षाको क्यों कब जाने दें लौंकाशाह का काल हो गया तो क्या हुआ आंपने अपनी शास्त्रो- द्धार मीमांसा नामक पुस्तक के पृष्ठ ६६ के ऊपर लिख दिया कि वे ४५ वैरागी पुरुष भाणाजी के पास दीक्षित हुए। क्योंकि इस अपठित समाज में प्रमाण की तो जरूरत ही नहीं है जिसके जी में आया वह लिख मारा। परस्पर विरुद्धता की भी इनको परवाह नहीं है क्योंकि उन ४५ मनुष्यों के लिये संतवालजी तो ज्ञानजी यतिजी के पास दीक्षा ली लिखते हैं, मणिलालजी यति लौंकाशाह के पास और अमोलखऋषिजी लौंकाशाह का देहान्त के बाद भाणाजी के पास दीक्षा लेना लिखते हैं इन तीनों के तीन मत हैं इसमें झूठा कौन ? यों तो तीनों झूठे मिथ्यावादी हैं क्योंकि किसी स्थान पर ४५ मनुष्यों को दीक्षा लेने का उल्लेख नहीं है। सबसे पहली यह कल्पना वा० मो० शाह ने की है शेष लेखकों ने बिना सोचे समझे विना प्रमाण अपने अपने लेखों में घसीट मारा है यदि कोई स्थानकमार्गी समाज का समझदार इन तीनों लेखकों को पूछे कि आपने उन ४५ मनुष्यों के दीक्षा लेने की बात भिन्न भिन्न रूप से लिखदी है, इसमें झूठा कौन-? और यह बात आप

लोग किस आधार पर लिखते हैं ? इस हालत में इन लेखकों की सत्यता का परिचय मिल सकता है पर "अन्धा उदर थोथा धान, जैसे गुरु वैसे यजमान" पूछे कौन ? तभी तो यह पोलमपोल चल रही है।

अब रहा लौंकाशाह के मुंह पर मुंहपत्ती बांधने का विवाद, सो इसमें वा० मो० शाह, और संतबालजी ने तो लौंकाशाह को गृहस्थ करार दे सहज ही में अपना पिण्ड छुड़ा लिया, और इन दोनों महानुभावों ने तो अपने २ ग्रन्थों में मुख वस्त्रिका की चर्चा तक भी नहीं की है। परन्तु स्वामी मणिलालजी ने लौंकाशाह को यति सुमति विजयजी के पास दीक्षा दिलादी इसमें लौंकाशाह का मुँहपत्ती हाथ में रखना स्वयं सिद्ध हो गया, पर यह बात अमोलखर्षिजी को कब पसन्द आती, उन्होंने लिख दिया कि लौंकाशाह ने मुँह पर मुंहपत्ती बांध के दीक्षा ली थी। पर इस विषय में स्वामी मणिलालजी यदि यह प्रश्न करें कि लौंकाशाह ने किस स्थान, किस काल, और किस के पास दीक्षा ली जब लौंकाशाह मुखपत्ती बांध के ही दीक्षा ली थी तो यह बतलाना चाहिये कि लौंकाशाह के अनुयायी साधु यति श्रीपूज्य और गृहस्थ लोग सब के सब मुँहपत्ती हाथ में रखते हैं तो यह हाथ में रखने की प्रवृत्ति लौंकाशाह के अनुयायियों में कब से प्रचलित हुई और लौंकाशाह के अनुयायी यह क्यों कहते हैं कि यति लवजी धर्मसिंह ने मुँह पर मुँहपत्ती बांध कर तीर्थङ्करों और लौंकाशाह की आज्ञा का भंग किया अर्थात् कुलिंग धारण कर उत्सूत्र की प्ररूपना करी, क्या ऋषिजी इसका उत्तर दे सकेंगे ? क्योंकि इसके प्रत्युत्तर में श्रीअमोलखर्षिजी के पास कोई प्रमाण नहीं है।

हो सकता है अब वे इसके लिए भी कोई नई कल्पना कर लें। क्योंकि झूठ हांकने वाले तथा भूमि पर सोनेवाले के लिए कहीं भी संकुचित स्थल नहीं है। परन्तु स्वामीजी को यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि साधु संतवालजी भी आपकी तरह नई रोशनी के विद्वान् हैं, वे आपकी इन थोथी दलीलों को क्या मानेंगे ? कदापि नहीं वे तो इन्हें एक क्षण में नष्ट कर देंगे।

निष्कर्ष स्वरूप लौंकाशाह ने न तो दीक्षा ली, और न उस समय आपका शरीर ही दीक्षा के योग्य था। वे स्वयं संतवाल जी के शरीर में प्रवेश कर फरमाते हैं कि मैं बिलकुल बूढ़ा और अपंग हूँ; इस हालत में वे कैसे दीक्षा ले सकते थे ? अन्यत् लौंकाशाह दीक्षा के काबिल ही नहीं थे, यह तो केवल नई रोशनी के स्थानकमार्गी अपने पर गृहस्थ गुरु का आक्षेप न हो या इसे दूर करने के लिए ही यह सब मिथ्या प्रपंच रचते हैं, परन्तु आजकल की जनता इतनी ज्ञान शून्य नहीं है कि प्रमाणशून्य कोरी कल्पनाओं को भी "बाबा वाक्यम् प्रमाणम्" के अनुसार सच्ची समझ लें।

कुछ देर के लिए स्था० साधु मणिलालजी का कहना, स्था० समाज सत्य भी मान लें तो इस मान्यता से संतवालजी और वा० मो० शाह का लिखा हुआ इतिहास मिट्टी में मिल जायगा, क्योंकि इन दोनों विद्वानों की कल्पना लौंकाशाह की दीक्षा के नितान्त विरोध में हैं। मणिलालजी ने जो कल्पना यति रूपधारी लौंकाशाह के सम्बन्ध में की है वही कल्पना संतवालजी और वा० मो० शाह ने गृहस्थ रूप लौंकाशाह के साथ की है। इन विरुद्ध कल्पनाओं से दोनों प्रकार के लेखकों का पारस्परिक विरोध

प्रकट होता है। संभव है संतबालजी तो इस विभिन्नता को मिटाने के लिए अपने पूर्वेतिहास को बदल कर नये सांचे में भी ढाल दें, परन्तु स्वर्गीय शाहजी के इतिहास की क्या दुर्दशा होगी ? यह विचारणीय है। हमारे खयाल में तो इनकी भी वही हालत हुई है जो इस कविता से प्रकट होती है:—

"उधर कों कुआ इधर को खाई।
जावें जिधर कों है मौत आई" ॥

सारांश—यदि वे मणिलालजी को मानें तो शाह और संत-बालजी ठुकराये जाते हैं और इन युगल महात्माओं को मानें तो "मणि माल" से बिछुड़ पड़ती है। क्या करें इन झूठी कल्पनाओं ने गजब ढा दिया। ये जगत में कुछ कर तो सकी नहीं किन्तु स्वयं भी विश्वास योग्य नहीं रही। जैसे लौंकाशाह के विषय की पूर्वोक्त सब कल्पनाएँ खोज से मिथ्या ठहरती हैं वैसे ही इनका परिभ्रमण भी धर्म प्रचारार्थ कहीं हुआ हो यह भी मिथ्या है इसका खुलासा, प्रकरण उन्नीसवें में, दृष्टिगोचर करें।

प्रकरण उन्नीसवां

क्या लौंकाशाह ने कहीं भ्रमण किया था ?

लौंकाशाह के जीवनवृत्त पर से इतना तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि लौंकाशाह ने अपने हृदय की आवाज सब से पहिले अहमदाबाद में व्यक्त की थी। परन्तु जब वहां आपके उस पैगम्बरी हुक्म को किसी ने सुना नहीं, किन्तु श्रीसंघ ने उल्टा आपका तिरस्कार कर आपको मकान से बाहिर कर दिया, तब आप वहाँ से अपने जन्म स्थान लींबड़ी को गए, और वहाँ आपके सम्बन्धी श्रीमान् लखमसी भाई जो राजकारभारी थे उनकी सहायता से लींबड़ी में आपने अपने परिष्कृत विचारों का प्रचार किया अर्थात् अपने नये मत की नींव डाली। जिस समय आपने अपने नये मत का शिलान्यास किया, उस समय आप अतिवृद्ध और अपङ्ग थे। नये मत को स्थापित करने के कुछ काल बाद ही आपका वहीं लींबड़ी में देहान्त होगया। इस हालत में आपका परिभ्रमण करना पंगु द्वारा हिमालय लाँघना ही है। हमारी इस बात से हमारे स्थानकमार्गी साधु एवं विद्वान् भी सहमत हैं। देखिये:—

श्रीमान् संतबालजी—

"वि० सं० १५३१ में लौंकाशाह धर्म प्राण हुआ

× × × वि० सं० १५३२ में लौंकाशाह का देहान्त हुआ × × × ।"

धर्मप्राण लौंका० लेख जैन प्र० ता० ८-४-३६ पृष्ट ४७५ ।

× × ×

श्रीमान् वा० मो० शाह—

× × × परन्तु इस समय (वि० सं० १५३१) में लौंकाशाह ने स्वसंपादित ज्ञान को चारों ओर प्रसार करने की योजना तक भी नहीं की थी × × × ।

ऐति० नोंध पृष्ट ७४ ।

वि० सं० १५३१ तक लौंकाशाह का भारत भ्रमण करना तो दूर रहा उनका वाचिक सन्देश भी कहीं नहीं पहुँचा था। बाद में वा० मो० शाह की लेखनी द्वारा लौंकाशाह स्वयं बोल रहे हैं कि "इस समय तो मैं बिलकुल बूढ़ा और अपङ्ग हूँ", और फिर वि० सं० १५३२ के नजदीक समय में ही लौंकाशाह का नश्वर शरीर इस संसार से विदा हो चुका था। अब समझ में नहीं आता कि लौंकाशाह ने फिर भारत भ्रमण कैसे किया था ?

स्वामी मणिलालजी अपनी "प्रभुवीर पटावली" के पृष्ट १७८ में लिखते हैं कि "लौंकाशाह, यति दीक्षा लेने के बाद घूमते २ एक दिन जयपुर (राजपूताना) पहुँचे वहाँ आपका जहर के प्रयोग से अकस्मात देहान्त हो गया। इत्यादि"—

परन्तु जब लौंकाशाह का दीक्षा लेना भी प्रमाणों से कल्पित ठहरता है तब, दीक्षोपरान्त धर्म प्रचारार्थ लौंकाशाह का परि-

भ्रमण करना तो स्वतः कल्पित सिद्ध है। तथा लौंकाशाह जिस समय विद्यमान थे, उस समय बसे हुए जयपुर की कथा तो दूर रही, किन्तु जयपुर बसाने की सामग्री का भी कहीं पता नहीं था। क्योंकि लौंकाशाह का समय तो विक्रम की सोलहवीं शताब्दी है और जयपुर को महाराज सवाई जयसिंह ने विक्रम की अठारवीं शताब्दी में आबाद किया था। फिर समझ में नहीं आता है कि जब लौंकाशाह के दो सौ २०० वर्ष बाद जयपुर बसा, तो वहाँ आकर लौंकाशाह का देहान्त कैसे हुआ। बस ! आपकी ऐसी "तत्वभरी (!) या निःसार" कल्पनाओं से शिक्षित समुदाय क्या समझता होगा ? स्वयं सोच लें।

वास्तव में सत्य बात यह है कि लौंकाशाह ने अपना नया मत लींबड़ी काठियावाड़ में स्थापित किया, और उस वक्त आप खूब वृद्ध और अपंग थे। अतः कहीं भी भ्रमण नहीं कर सके। अन्तिम समय में शा० भाणादि ३ मनुष्य आपको आकर मिले, वे गुरु बिना स्वयं वेश धारण कर साधु बन गये थे। लौंकाशाह का देहान्त हो जाने के बाद भी ३०-४० वर्ष तक उन्होंने काठियावाड़ को नहीं छोड़ा। बाद गुजरात में मूर्ति पूजकों का बड़ा जोर था, अतः वहाँ तो भ्रमण कर वे इसका (मूर्ति पूजा का) विरोध कर नहीं सकते थे। तदर्थं लाचार हो जहाँ जैन यतियों का विशेष आना जाना नहीं था ऐसे शुष्क एवं धर्मोपदेश रहित मारवाड़ादि देशों में उन्होंने अपना विषैला प्रचार प्रारम्भ किया, और भोली-भाली भद्रिक जनता को स्वचंगुल मे फंसाना शुरू किया। इस क्रम से वि० सं० १५७५ में तो लौंकाऽनुयायी वे साधु मारवाड़ में आए, और वि० सं० १५८० में नागोर के

शाह रूपचन्द सुराणा को दीक्षा दी। वि० सं० १६३२ में लौंका साधु भावचन्दजी गोड़वाड़ में आए, और ताराचन्द कावड़िया की सहायता से, उन्होंने गोड़वाड़ में अपना प्रचार कार्य शुरू किया। अनन्तर मालवा, मेवाड़ आदि की ओर आगे बढ़े वहाँ भी जैन यतियों का विहार कार्य बहुत कम था। जैसे थली आदि निर्जल प्रदेशों में, जैन यतियों तथा स्थानकमार्गियों का भ्रमण कम होने से स्वामी भीखमजी ने अपना प्रचार किया, और आज भी कर रहे हैं। वैसे ही इन लौंका० साधुओं ने भी किया। क्योंकि भद्रिक जनता का मन हमेशा श्रेयार्थी हुआ करता है, उसको भलाई का भुलौवा देकर झुकाने वाला जिधर चाहे उधर को ही झुका देता है—

"झुक तो जाती है जहां, कोई झुकाने वाला हो।"

यही भाव प्रसिद्ध नीति विद् विष्णु शर्मा कहते हैं:—

"यत् पार्श्व तो वसति तद् परिवेष्टयन्ति"

अर्थात्—जिस प्रकार वेलें, स्त्रियें तथा राजा लोग, गुणी निर्गुणी का खयाल छोड उनके पास जो आता है उसे ही अपना सर्वस्व सौंप देते हैं तद्वत् प्रजा जन भी अपने विशेष परिचय वाले को अङ्गीकार करते हैं। इत्यादि

खैर! प्रकृत विवेचन का सारांश यही है कि लौंकाशाह ने लींबड़ी और अहमदाबाद के अलावा अन्यत्र कहीं भी भ्रमण नहीं किया। क्योंकि इसके अन्यत्र भ्रमण करने के प्रमाणों का आज तक नितान्त अभाव ही हाथ लगा है। हाँ! यह हो सकता है कि हमारे स्थानकमार्गी भाई यदि "कूपे मण्डूक वृत्या"

अहमदाबाद और लींबड़ी को ही भारत समझ के लौंकाशाह का भ्रमण मानते हों तो उनकी बात सत्य सिद्ध हो सकती है। अन्यथा सुज्ञ समाज इन लीचर, दलीलें, और कल्पित प्रमाणों की कितनी भर कीमत करता है, यह विज्ञ विचारक जानते ही हैं।

जिस प्रकार उक्त निबन्ध से लौंकाशाह का परिभ्रमण मिथ्या ठहरता है उस प्रकार लौंका के अनुयायी वर्ग का लक्षाऽधिक संख्या में बताना भी मिथ्या है, इसका विस्तृत विवेचन बीसवें प्रकरण में देखने की कृपा करें।

प्रकरण बीसवाँ

लौंकाशाह के अनुयायियों की संख्या

किसी भी धर्म का प्रचार, उस धर्म की सत्यता तथा प्रधानतः धर्म प्रचार के साधनों पर अवलम्बित है, और इन प्रचार के साधनों में प्रधान साधन उपदेशक, और तद्रचित सुन्दर साहित्य हैं। हमारे लौंकाशाह के पास उनकी विद्यमानता में इन दोनों साधनों का पूर्णतया अभाव था। श्रीमान् संतबालजी और वाड़ीलाल मोतीलाल शाह के मता-ऽनुसार वि० सं० १५३१ में तो लौंकाशाह धर्म-प्राण हुए, और तब आप अतिवृद्ध तथा पादहीन थे फिर वि० सं० १५३२ में ही आपका देहान्त हो गया। इस हालत में तब तक तो उनके अनु-यायियों की संख्या नहीं के बराबर ही थी, यदि कुछ होगी भी तो सौ पचास से ज्यादा नहीं; किन्तु आधुनिक स्थानकमार्गियों के सिवाय न तो किसी प्राचीन लेखक ने लौंकाशाह के अनुयायी संख्या की बात लिखी है और न इस विषय का कोई अन्य प्रमाण ही मिलता है। लौंकाशाह की मौजूदगी में तो सिवाय काठियावाड़ विशेष लींबड़ी के इन्हें कोई जानता तक भी नहीं था। लौंकाशाह के जीतेजी कडुआशाह नामक एक अन्य व्यक्ति ने अपने नाम से कडुआमत निकाला था, उसने वि० सं० १५२४ से १५६४ तक लगातार अनेक स्थानों में घूम कर अपने मत को बढ़ाया, जिसके प्रमाण तो मिलते हैं। पर लौंकाशाह सम्बन्धी कोई भी

प्रमाण नहीं मिलता है। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि कडुआशाह ने तो केवल जैन यतियों से ही विरोध किया था क्योंकि वह जैनाऽगम पञ्चाङ्गी और मन्दिर मूर्ति तथा जैन धर्म की सामायिकादि सब क्रियाएँ यथा विधि विधान मानता था। परन्तु लौंकाशाह ने तो अनार्य संस्कृति के असर के कारण जैन यतियों के साथ २ इन सब को भी मानने से कतई इन्कार कर दिया, इसी कारण अहमदाबाद के श्रीसंघ द्वारा लौंकाशाह का तिरस्कार हुआ, और उसे उपाश्रय से भी निकाल दिया गया, ऐसी दशा में लौंकाशाह के धर्म का पूर्ण प्रचार होना असंभव ही है और प्रमाणाऽभाव से यह बात सत्य भी विदित नहीं होती है। क्योंकि जब उसने धर्म के सभी अंग काट दिए तो, सर्वाङ्गहीन धर्म, हस्तपादादि रहित पिण्डाऽवशेष शरीर के समान किस को प्रिय हो सकता है, अतः उसके नये मत का प्रचार सर्वथा रुक सा ही गया।

वर्तमान समय में कई एक लोग व्यापारार्थ भारत के अन्यान्य प्रान्तों में जा बसते हैं तो उनमें मूर्तिपूजक, स्थानकमार्गी, तेरहपंथी आदि सब तरह के लोग रहते हैं। शायद इन्हीं बिखरी हुई प्रजा को भिन्न २ प्रान्तों में देखकर ही नई रोशनी के स्थानकमार्गी यह कल्पना करते हैं कि हमारे लौंकाशाह के अनुयायियों की संख्या लाखों तक पहुँच गई थी और वे भारत के चारों ओर ही बसते होंगे। परन्तु यह तो ऐतिहासिक ज्ञान की अनभिज्ञता का ही प्रदर्शन है। अन्यथा बुद्धिबल से भी तो कुछ विचारना चाहिये कि वास्तव में रहस्य क्या है। किन्तु जिन्हें सच, झूठ की कोई परवाह नहीं केवल अपनी झूठ मूठ

उन्नति की डींगें मारना ही आता है वे क्या नहीं कर सकते हैं। नमूनार्थ देखिये:—

श्रीमान् वा० मो० शाह—

× × × एक पुरुष थोड़े ही समय में हुआ, जिसने रेल तार डाक आदि के बिना ही भारत के एक भाग से दूसरे भाग तक जैन धर्म का उपदेश फैला दिया × ×।

ऐति० नौंध पृष्ट ६५

और आगे चल कर आप यों लिखते हैं कि:—

"और ४०० वर्ष के भीतर ही भीतर चैत्यवासियों में से ५००००० पांच लाख से ज्यादा मनुष्यों को अपने में मिला लिया।"

ऐतिहा० नौंध पृष्ट ७७।

जब ४०० वर्षों में पांच लाख मनुष्यों को अपने में मिला लिया माना जाय तब यह लिखना तो बिलकुल मिथ्या ही सिद्ध हुआ कि लौंकाशाह अपनी जिन्दगी में बिना तार डाक भारत के पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक धर्म प्रचार किया।

एक ओर तो आप लिखते हैं कि बिना रेल तारादि के अपना धर्म भारत के एक भाग से दूसरे भाग तक फैला दिया, और दूसरी ओर लिखते हैं कि ४०० वर्षों में पांच लाख (वास्तव में दो लाख) चैत्यवासियों को अपने अन्दर मिला लिया परन्तु विक्रम की १३ वीं शताब्दि के बाद कोई चैत्यवासी था ही नहीं तो फिर वा० मो० शाह ने ५ लाख चैत्यवासी कहाँ से निकाले? हाँ!

वा० मो० शाह ने श्वेताम्बर जैनियों को चैत्यवासी या देरावासी के लिए ऐसा लिखा हो तो वह उनकी ईर्षा भाव का ही फल है कि श्वे० संघ को देरावासी लिखकर चैत्यवासियों की कोटि में स्थापित कर घृणित बनवाना। अस्तुः आगे देखिये—

× × × *परन्तु इस समय (वि० सं० १५३१ में) लौंकाशाह ने अपने सम्पादित ज्ञान को चारों ओर फैलाने के लिए एक खास योजना नहीं की थी* × × ×।

ऐतिहा० नोंध पृष्ट ७४।

वा० मो० शाह को यह लिखते समय जरा तो विचार करना था कि वि० सं० १५३१ तक तो लौंकाशाह ने कुछ योजना ही नहीं की थी। और उस समय आप बिल्कुल बूढ़े तथा अपंग भी हो गए थे, और वि० सं० १५३२ में आपका देहान्त हो गया, फिर उस वृद्ध और अपङ्गाऽवस्था में बिना तार डाक आदि के एक ही वर्ष में भारत के चारों ओर लौंकाशाह ने अपने धर्म को कैसे फैला दिया था ? * क्या शाह की मान्यता का भारत, लींबड़ी या अहमदाबाद की एकाध गली या मुहल्ला तो नहीं था ? कि उसमें चारों ओर लौंकाशाह ने सत्वर ही अपने उपदेश को

---

* स्था० मतानुसार लौंकाशाह का धर्मप्राण तथा देहान्त का समय १ वर्ष के बीच का है पर यह कोई खास प्रमाण नहीं कि यह वर्ष बराबर १२ मास ही का था। क्योंकि इन्होंने तो मात्र संवत् लिखा है मास तिथि नहीं। इस हिसाब से तो सं० १५३१ चैत्र कृ० ३० और सं० १५३२ चैत्र शु० १ ये एक दिन की अवधि में हैं परन्तु केवल संवत् से वर्ष के द्योतक जान पड़ते हैं अतः विचारणीय है।

आवाज फैला दी। जैन आगम साहित्य में ऐसे अन्य भी दृष्टान्त मिल सकते हैं।

"श्री भगवती सूत्र के १५ वें शतक में गोसाला ने भगवान् महावीर से विरोध कर स्वयं तीर्थङ्कर हो बैठा था। परन्तु उसने अपनी अन्तिमाऽवस्था में अपने अनुयायियों को बुला कर सबके आगे सत्य प्रकट कर दिया था कि मैं वस्तुतः तीर्थङ्कर नहीं किन्तु एक श्रमण घाती हूँ। मेरे मरने के बाद मेरे शरीर एवं पैरों को मजबूत मूँज के रस्से से बाँध इस स्वस्तिका नगरी के मुख्य मुख्य रास्तों में मुझको घुमाना और कहना कि यह गोसाला तीर्थङ्कर नहीं पर श्रमण घाती छद्मस्थ है इत्यादि। गोसाला के काल करने पर उनके अनुयायियों ने सोचा कि वास्तव में वो गोसाला मिथ्यात्वी है, पर अपन लोगों ने तो इन्हे तीर्थङ्कर मान लिया था। अतः अब इनके मृत शरीर की बेइज्जती करना, अपने लिए लज्जा की बात है। इस कारण उन्होंने उस मकान का (जिसमें गोसाला था) दरवाजा बन्द कर एक लकड़ी से स्वस्तिका का अवलोकन कर उस मकान के अन्दर गोसाला के कहने के अनुकूल पैर के रस्सा बाँध घुमाया। और धीरे धीरे शब्दों में वही पूर्व गोसाला कथित वाक्य कहा। इस प्रकार जैसे गोसाला के भक्तों ने एक मकान में स्वस्तिका नगरी मान ली थी, वैसे ही लौंकाशाह के भक्तों ने भी एक ही गली को भारत मान लिया हो तो यह बात कोई असंभव नहीं।

इसी प्रकार श्री० वा० मो० शाह का अनुकरण संतबालजी, मणिलालजी, अमोलखऋषिजी और विनयर्षिजी ने भी किया,

और इन लोगों ने लिख दिया कि लौंकाशाह ने तो अपना धर्म भारत के चारों ओर फैला दिया।

बस ! गुरु भक्ति इसी का ही नाम है, चाहे प्रमाण हो या न हो, लोग चाहें इसे मानें या इसकी मजाक उड़ाएँ पर भक्त लोगों ने तो अपना कर्त्तव्य अदा कर ही दिया। खैर ! जाने दो, इन भक्तों के तो तमाम लेखों से यही ध्वनि निकलती है कि लौंकाशाह ने लाखों चैत्यवासियों को दयाधर्मी बनाया। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि लौंकाशाह ने चैत्यवासी स्वधर्मी जैनों को तो जरूर स्वधर्मच्युत किया, परन्तु जैनेतर, अन्य धर्मी २-४ मनुष्यों को जैनधर्म का उपदेश दे अपना अनुयायी नहीं बनाया। कारण लौंकाशाह में यह योग्यता थी ही नहीं, जो पूर्वाचार्यों में सामूहिक रूप से विद्यमान थी। क्योंकि उन्होंने तो उपदेश दे देकर लाखों करोड़ों अजैनों को नया जैन बनाया था। और लौंकाशाह ने जो कुछ सदसत् कार्य किया वह यह कि निज के रक्षित घर में एक विशाल सुरंग रूपी फूट डाल अपना एक नया फिरका अलग खड़ा किया। यह कुप्रवृत्ति तब से आज तक भी पूर्ववत् विद्यमान है। उदाहरणार्थः- लौंकाशाह के समकालीन कडुआशाह ने भी लौंका की भांति कुछ लोगों को फाँट कर कह दिया कि भस्मग्रह के उतरने पर कडुआशाह ने धर्म का उद्योत किया। इसके अनन्तर लौंकाऽनु-यायी यति धर्मसिंहजी और लवजी ने लौंकामत में भी फूट डाल कुछ लोगों को अपने उपासक बना दिये, और साथ ही घोषणा की कि लवजी ने हजारों लाखों अपने अनुयायी बना लिए। तत्पश्चात् स्वामी भीखमजी ने भी इसी प्रकार भेद डाल कर धर्म

का उद्योत (!) किया। और सैकड़ों, हजारों जैन तथा स्थानकमार्गियों को अपना अनुयायी बनाकर अपना मत जारी किया। बाद में देशी स्थानकमार्गियों ने परदेश में जाकर अपने धर्म का उद्योत कर देशी साधुओं के श्रावकों में फूट डाल अपना श्रावक बनाना शुरू किया। और आज पर्यन्त भी एक टोले का साधु दूसरे टोले के समकित वाले को बहका कर अपना अनुयायी बनाने की कोशिश कर रहा है। इस प्रकार यह नाशक, धर्म का उद्योत रूपी यन्त्र यथा क्रम आज भी चालू है, और यथाऽवसर दो चार भ्रान्त श्रावकों को मिथ्या प्रपञ्च से फुसला कर अपना श्रावक बना लेने में ही धर्म का उद्योत और जैन समाज की उन्नति समझ रहा है। लौंकाशाह ने भी जैन धर्म का इससे बढ़कर कोई भी वास्तविक उद्योत नहीं किया, यह मानना नितान्त युक्तियुक्त और प्रमाण संगत ही है।

अब जरा फिर इतिहास की ओर दृष्टि पात कीजिये, और विचारिये कि सोलहवीं शताब्दी का तो इतिहास एकान्त अंधेरे में नहीं है, और इसी कारण लौंकाशाह की भी एक जबर्दस्त घटना अंधेरे में नहीं रह सकती, फिर भी शायद रह गई होतो, इसके सिवाय हतभाग्य और बदनसीब कोई हो ही नहीं सकता।

तत्वतः लौंकाशाह तो एक सामान्य वणिक् बनिया था, और वह भी बिलकुल बूढ़ा और अपंग, उस समय न तो उसमें साहस था और न थी योग्यता, और न कोई उसका सच्चा सहायक ही था। लौंकाशाह के समय जैन जनता की संख्या सात करोड़ थी, उनमें से यदि लौंकाशाह ने सौ पचास आदमियों को अपनी तरफ फाँट दिया हो तो, इसमें बहादुरी की कौन बात

है ? परन्तु एक दम से यह कहना कि उसने भारत के चारों ओर अपना धर्म फैला दिया था, यह तो बिना सिर पैरों की केवल एक गप्प ही है। लौंकाशाह ने न तो कुछ उल्लेखनीय कार्य स्वयं किया और न किन्हीं अन्य उपदेशकों के द्वारा करवाया वह तो साधन रहित साधारण मनुष्य मात्र था।

लौंकाशाह ने असाधन होकर भी वर्ष मास के क्षीण समय में भारत के चारों ओर अपना धर्म फैला दिया, यह बात वही मनुष्य सच मानेगा जिसने अपनी बुद्धि को बाजार में बेच डाली है। नहीं तो सोचना चाहिए कि जब सर्व साधन सम्पन्न धर्मान्ध मुसलमान बादशाहों ने अपनी सैनिक शक्ति तथा राज सत्ता द्वारा हजारों मन्दिर मूर्तिएँ तोड़ डालीं, सैकड़ों पुस्तक-भण्डार जला, हमाम गरम किए, अनेकों आर्यों को अनार्य बनाया, फिर भी वे एक वर्ष भर में यह दुष्कार्य पूरा नहीं कर सके, और इस पशुत्व के प्रयोग में उन्हें एक नहीं अनेकों वर्ष बीत गए, तब कैसे मान लें कि लौंकाशाह ने असाधनावस्था में भी एक वर्ष में सब कुछ कर दिया। अंग्रेजों के पास इतनी जोरदार वैज्ञानिक शक्ति, प्रभुसत्ता तथा संगठन बल होने पर भी एक वर्ष में ये भी कुछ नहीं कर सके। स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे मूर्त्ति का कट्टर विरोधी साहसी वीर भी एक वर्ष में अपना मत नहीं फैला सके। तो फिर बिचारे लौंकाशाह की दुर्बल मृत आत्मा पर इतना बोझा क्यों लादते हो। यदि लौंकाशाह ने जैन धर्म में फूट का बीजाऽऽरोपण किया, उसी के उपलक्ष्य में यदि सब लिखा जाता है तब तो स्वामी भीखमजी को भी कुछ न कुछ बढाना चाहिए, क्योंकि यह विषवल्लि तो उन्होंने भी बोई थी।

लौंकाशाह अपनी जीवितावस्था में तो लींबड़ी से बाहिर कहीं नहीं गए, और न उन्होंने अपनी विशेष अनुयायी संख्या भी बढ़ाई। किन्तु जब वे मर गए तब उनके नाम से अन्याऽन्य प्रान्तों में कुछ २ प्रचार हुआ। परन्तु इसमें लौंकाशाह के मत की उत्तमता का कोई खास कारण नहीं था, अपितु यह भी जैन यतियों का ही प्रताप है कि वे अपना विहार एकाध प्रांत छोड़ के नहीं करते थे जैसा कि आज भी कर रहे हैं, और जहाँ इन्होंने कोई प्रांत छोड़ा कि चट वहाँ लौंकाशाह वाले मनुष्य पहुँच जाते थे और उन्हें अपनी तरफ गाँठ लेते थे। लौंका मत, और तेरह-पन्थियों की आज जो कुछ भी संख्या बढ़ी हुई नजर आती है, उसका कारण इनके मत की उपादेयता, वा इनका कोई उपदेश प्रचार आदि नहीं किन्तु जैन यतियों के विहार का अभाव ही है। और आज भी संवेग पक्षी आचार्य आदि एक ही प्रान्त में रह कर इन लौंका आदिकों के अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में सहायक हो रहे हैं।

आधुनिक स्थानकमार्गियों ने एक नई मर्दुमशुमारी कर अपनी संख्या, पाँच लाख की गिनती कर अखबारों और लेखादिकों में प्रकाशित कराई है। झूठ बोलना, गप्पें हाँकना आदि इनके मत का आदि से ही अटल सिद्धान्त रहा है। सरकारी मर्दुमशुमारी से जैनों की संख्या १३००००० की बताई जाती है, जिनमें ६००००० तो दिगम्बरी, अपने को बताते हैं २००००० तेरह पन्थी, और अब आपके कथनाऽनुसार ५००००० स्थानकमार्गी, इस प्रकार १३००००० लाख की संख्या तो पूरी हो चुकी, जब श्वेताम्बरीय

मूर्त्तिपूजकों का तो मानों भारत में नितान्त अभाव ही है ? (क्यों न ?) अपने जैनभाइयों का अस्तित्व मिटाने में ही स्थानकमार्गी भाई अपनी उन्नति समझ बैठे हैं पर यह इनकी भूल है। अब जरा स्थानकमार्गियों के और मूर्तिपूजकों के वसति पत्रकों की ओर तो देखिये।

अहमदाबाद में ४०००० जैन, बम्बई में ३०००० जैन, और गोड़वाड़ प्रान्त में तथा सिरोही स्टेट में १००००० जैन हैं। गुजरात प्रान्त में तो प्रायः मूर्त्तिपूजक जैन ही विशेष हैं। मूर्त्तिपूजक जैनों के लिए तो ऐसे बहुत से नगर हैं कि जहाँ मुख्य वस्ती जैनियों की है, पर स्थानकमार्गियों के लिए तो ऐसे थोड़े ही शहर होंगे, कि जहाँ मूर्तिपूजकों की वस्ती न हो। जैन श्वेताम्बरों के आज ४०००० मन्दिर हैं, यदि प्रत्येक मन्दिर के कम से कम १५ उपासक भी माने जायँ, तो भी ६००००० छः लाख की संख्या तो सहज ही में मानी जा सकती है। यदि हिसाब लगाया जाय तो चार लाख दिगम्बर, तीन लाख स्थानकमार्गी और तेरह-पन्थी तथा शेष छः लाख श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक समझे जा सकते हैं। इनमें भी स्थानकमार्गी सौ में नव्वे मनुष्य मन्दिर मूर्त्ति को मानने वाले, शत्रुञ्जय, केशरियाजी की यात्रा करने वाले हैं, तथा पूर्वाचार्य और उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों का सत्कार करनेवाले हैं। पर मूर्त्तिपूजकों में सौ में ५ पाँच आदमी भी ऐसे नहीं मिलेंगे जो ढूँढियों के मार्ग को अच्छा समझते हों।

स्थानकमार्गी या तेरहपंथी लोगों ने अपने उपासकों की जो संख्या बताई है, वह सब की सब मूर्त्तिपूजकाऽऽचार्यों के बनाए

हुए जैनों की है। इनमें स्थानकमार्गी या तेरहपंथी समाज की क्या बहादुरी है। वे चाहे मंदिर को मानें चाहे स्थानक को। इसमें स्थानकवासियों को फूलने की क्या बात है। यदि स्थानक-वासियों में जरा भी हिम्मत है तो वे किसी विधर्मी अजैनों को जैन बना के अपनी योग्यता दिखावें।

· जैसे किसी साहूकार से खिलाफ होकर गुमास्ता जुदा होगया और, सेठ की बेपरवाही से उसका माल वह दबा ले और उससे वह अपने को बहादुर और व्यवसायी कहे तो, नहीं कहाजा सकता; क्योंकि वह तो सेठ की कमाई हुई संपत्ति है। उसकी बहादुरी तो तब जानी जा सकती है कि जब वह स्वयं पुरुषार्थ से पैसा पैदा करे। यही बात यहाँ है। मूर्त्तिपूजकों की बेपरवाही से और उनके प्रचार नहीं करने से, स्थानकमार्गियों ने तत्तत् प्रान्तों की भद्रिक जैन जनता को ही अपने मत में घुसेड़ दी है, न कि, अजैनों को जैन बना अपना उपासक बनाया है। यह जनता तो पूर्वाचार्यों से प्रतिबोधित थी ही इसमें विशेषता की कुछ बात नहीं है। हाँ! तेरहपन्थी और स्थानकमार्गियों की यह विशेषता तो जरूर हुई है कि उन भद्रिक जनता को कृतज्ञ के बदले कृतघ्नी बना, जिन आचार्यों का और आगमों का महान् उपकार मानना था उल्टो उनकी निंदा करना सिखाया है।

शेष में अब हम यही कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार लौंकाऽनुयायियों ने अन्यान्य विषयों में मत भेद खड़ा कर ल काशाह के जीवन चरित्र में झमेला खड़ा किया है तद्वत् इनके देहान्त का भी अभी तक कोई स्थिर मत नहीं हुआ है, उसी का निदर्शन हम अगले प्रकरण में करायेंगे। पाठक प्रेम पूर्वक उसे पढ़ें।

प्रकरण–इकवीसवां

लौंकाशाह का देहान्त।

यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि कोई भी व्यक्ति जब संसार में जन्म लेता है तो मरता भी अवश्य है। लिखा भी है:—

"यज्जायते तत् म्रियते अवश्यम्"

इसी सिद्धान्ताऽनुसार श्रीमान् लौंकाशाह भी जन्मे और मरे, परन्तु उनके अनुयायियों की उपेक्षा से आज उनके जन्म मरण की तिथि का कोई भी पता नहीं है। इसके विषय में अर्वाचीन विद्वानों ने यत् किञ्चित् कल्पनाएँ अवश्य की हैं, परन्तु वे अविश्वासनीय तथा इतिहास की कसौटी पर कसने लायक नहीं हैं। क्योंकि भिन्न २ लेखकों ने जो भिन्न २ कल्पनाएँ इस बारे में की हैं उनसे स्वतः सन्देह प्रकट होता है। तथापि यहां निर्णयार्थ कुछ विवेचन किया जाता है।

श्रीमान् संतबालजी—

"आप लौंकाशाह के देहान्त का समय वि० सं० १५३२ का लिखते हैं।

ध. प्रा. लौ. हे जैन. प्र ता० १८–८–३५ पृष्ठ ४७५।

× × ×

लौं० यति भानुचन्द्रजी वि० सं० १५७८

"पनरा सो बत्तीस प्रमाण, सा लुंको पाम्यो निर्वाण ।"

दया धर्म चौपाई ।

लौंकागच्छ के यति केशवजी—

"शत पन्नर तेत्रीश सालई, छप्पन वरसिं सुरघर महालइं ।"

लौंकाशाह का जन्म वि० सं० १४७७ में हुआ और आपने छप्पन (५६) वर्ष की उमर अर्थात् वि० सं० १५३३ में काल किया, लिखा है ।

"२४ कडी का सिलोका" ।

श्रीमान् वाड़ीलाल मोतीलाल शाह—

"लौंकाशाह का देहान्त विषय बिलकुल मौन है पर १५३१ के बाद जल्दी ही काल करना आपका मत है ।"

× × ×

वीर वंशावली वि० सं० १८०६

लौंकाशाह के देहान्त का समय वि० सं० १५३५ का लिखा है ।

जैन सा० सं० वर्ष ३-३-४१ ।

स्था० साधु अमोलखर्षिजी—

आपने लौंकाशाह के देहान्त का समय तो नहीं लिखा है पर इतना अवश्य लिखा है कि यति लौंकाशाह ने अन्तिम समय में पन्द्रह दिन का अनशन कर समाधि पूर्वक काल किया था ।

शास्त्रोद्धार मीमांसा पृष्ठ ६७ ।

स्था० साधु मणिलालजी—

लौंकाशाह के देहान्त का समय वि० सं० १५४१ में एवं जयपुर में होना बताते हैं। पर आप लिखते हैं कि आपका देहान्त जहर के प्रयोग से हुआ था।

प्रभुवीर पटावली पृ० १७८

शेष लेखकों ने लौंकाशाह के देहान्त के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है, अर्थात् मौनव्रत का सेवन किया है।

पूर्वोक्त प्रमाणों में सब से प्राचीन प्रमाण यति भानुचन्द्र का है, तदनुसार लौंकाशाह का देहान्त वि० सं० १५३२ में हुआ होगा। इस मान्यता से स्वामी संतबालजी भी सहमत हैं और वाड़ीलाल मोतीलाल शाह भी इससे मिलते जुलते नजर आते हैं कारण वे १५३१ में लौंकाशाह को बिलकुल बूढ़ा और अपंग बताते हैं। स्था० अमोलखर्षिजी लौंकाशाह को पन्द्रह दिन का अनशन करना और समाधि पूर्वक शरीर छोड़ना बताते हैं। स्वामी मणिलालजी वि० सं १५४१ जयपुर में जहर के प्रयोग से यति लौंकाशाह का देहान्त होना बताते हैं, किन्तु स्वामीजी का यह लिखना बिल्कुल कल्पना मात्र है। कारण न तो लौंकाशाह ने यति दीक्षा ली और न वह जयपुर तक आया और न उस समय जयपुर शहर ही आबाद हुआ था। यदि मणिलालजी कम से कम स्वामी अमोलखर्षिजी कृत शास्त्रोद्धार मीमांसा नामक पुस्तक पढ़ लेते तो मालूम हो जाता कि लौंकाशाह ने १५ दिन का अनशन किया था। इस हालत में १५ दिन तक तो उन्होंने बिना आहार किए ही बिता दिये फिर उनको जहर किसने दिया। यदि

मणिलालजी के मताऽनुसार जहर के प्रयोग से ही उनका देहान्त हुआ होता तो अमोलखर्षिजी उन्हें समाधि मरण कैसे लिखते ? कारण, जहर खाकर मरनेवालों को समाधिमरण नहीं पर आत्म घात के कारण बालमरण कह सकते हैं। यदि स्वामी मणिलाल-जी जहर का अर्थ उत्सूत्र रूप जहर कर दें तो दोनों का समा-धान हो सकता है। कारण लौंकाशाह उत्सूत्र भाषी था और उत्सूत्र सहित मरना जहर खाकर मरने से भी अधिक भयङ्कर है।

अद्यावधि लौंकाशाह के जीवन वृत्त विषय में जितने लेखकों ने लिखा है, उनमें यह किसी ने नहीं लिखा कि लौंकाशाह जहर खाकर मरा था। फिर एक मणिलालजी यह बात कहाँ से ढूँढ लाए कि उनको जहर दिया गया। जब लौंकाशाह ने यति दीक्षा ली, जयपुर गए आदि बातें कपोल कल्पित सिद्ध हैं तो उनका जहर खाना भी मिथ्या ही है। पर मणिलालजी का ऐसा लिखने का क्षुद्र आशय "उनको मूर्ति पूजको ने जहर दिया था" यह सिद्ध करके मूर्ति पूजकों को संसार में हेय बताने का है। यह दुर्बुद्धि मणिलालजी को ही पैदा हुई हो सो नहीं किन्तु वा० मो० शाह ने भी अपनी ऐतिहासिक नोंध में लिखा है कि चैत्यवासियों ने लौंकाशाह के एक साधु को विष दिला दिया।

शायद मणिलालजी ने यह सोचा होगा कि जब वा० मो० शाह ने अपनी नोंध में साधु को विष प्रयोग का लिख दिया है तो मैं साधु को न लिखकर स्वयं लौंकाशाह को ही विष देने का क्यों न लिख दूँ जिससे जनता पर चैत्यवासियों की नीचता की छाप तो पड़े। इसमें उन्होंने लिख दिया कि "प्रति पक्षियों ने लौंकाशाह को जहर दे दिया और लौंकाशाह का शरीर छूट गया

क्योंकि लौकाऽनुयायी नहीं स्थानकमार्गियों द्वारा किया हुआ मूर्ति-पूजक समाज पर यह प्रथम आक्षेप ही नहीं है किन्तु इन लोगों ने आगे भी इनसे भी घृणित २ मिथ्या दोषारोपण मूर्ति पूजक समाज पर किये हैं बतौर नमूना के आप देखिये:—"श्रीमान् वाड़ी, मोती० शाह अपनी ऐतिहासिक नोंध पृष्ठ १३६ पर लिखते हैं कि—लवजी, भाणाजी, सुखाजी और सोमजी थंडिल गये थे। वहाँ से पीछे लौटते समय एक मुनि इनमें से पीछे रह गया, उन्हें कुछ यति मिले, ये यति रास्ता बतलाने के बहाने उस मुनि को अपने मन्दिर में ले गये और तलवार से मार कर मुनि के शव को वहीं गाड दिया।" परन्तु स्वामि मणिलालजी ने अपनी पटावली के पृष्ट २०८ में लवजी का जीवन लिखते समय इस घटना को बिलकुल छोड़ दी शायद् इसमें कुछ और कारण* होगा।

इन सफेद सज्जनों को यदि यह पूछा जाय कि यह समय तो ढूँढियों और लौंकों के कटा कटी का था, और लौंकागच्छ की उस समय की पटावलियें यति और श्रीपूज्यों के पास विद्यमान हैं। उसमें तो इस बात की गन्ध तक नहीं मिलती है। फिर ४०० वर्षों के बाद स्वच्छन्दी निरंकुश लेखकों ने यह बात कहाँ से गढ़ निकाली कि "मुनि को मार मन्दिर में गाड़ दिया।" अरे! सत्यवादियों (!)! तुम क्या इस बात का प्रमाण दोगे कि उस समय जैन यति तलवारें रखते थे, या मन्दिरों में तलवारें सुरक्षित रहती थी; जिससे कि वे ढूँढियों के साधु को मन्दिर में ले जा कर तलवार से मार देते। जिस प्रकार यह आक्षेप निराधार है उसी प्रकार लौंकाशाह, लवजी, सोमजी ऋषिको जहर देने की बात भी निरा-

---

* कारण देखो ऐतिहासिक नोंध की "ऐतिहासिकता" नामक किताब।

धार है। यह लिखने का स्वामीजी का शायद यह अभिप्राय हो कि ऐसी २ निन्दित बातें लिखने से लौंकामत या स्थानक मार्गियों के पारस्परिक सम्बन्ध में विभिन्नता आजाय, और वे एक दूसरे को देख हलाहल विष उगलने लगें। तथा अपने २ सम्प्रदाय से निकलने नहीं पावें। परन्तु स्वामीजी को यह स्मरण रहे कि, अब वह जमाना नहीं है, लोग लिख पढ़ कर, आजकल स्वयं अपने हिताऽहित को सोचते हैं। वे ऐसी प्रमाणशून्य तथा असंभव बातों पर सहसा विश्वास नहीं करेंगे। आज तो हरेक बात के लिए सर्व प्रथम प्रमाण देने की जरूरत है। कल्पित बातों को मानकर वे स्व पर का अहित नहीं करना चाहते, वे तो अपनी बुद्धि गम्य बातों पर ही श्रद्धा रखते हैं।

स्वामी अमोलखर्षिजी के मताऽनुसार लौंकाशाह ने अन्तिम समय में अनशन कर प्राण छोड़ने चाहे किन्तु जब १५ दिन में भी उनके प्राण नहीं निकले तब दुःखी हो उसने जहर मंगवा कर खा लिया और सदा के लिए सांसारिक दुःखों से छुट्टी ली हो तो, स्वामी मणिलालजी का कहना स्थानकमार्गी लोग ठीक मान सकते हैं। क्योंकि जैन शास्त्रों में तो बिना अतिशय ज्ञानी के न तो कोई संथारा कर सके और न किसी अन्य को भी करा सके, किन्तु लौंकाशाह ने इस ज्ञान से अनभिज्ञ होते हुए भी अनशन किया, इसी से उनकी यह दशा हुई हो तो कोई बड़ी बात नहीं है। ऐसा उदाहरण एक रतलाम में भी बना था, वहाँ एक स्थानकमार्गी ने संथारा किया, अनन्तर वह क्षुधा पीड़ित हो रात्रि में एक दम चुपचाप वहाँ से चल पड़ा। अनन्तर उसके बदले में खास साधु धर्मदासजी को आत्म बलिदान देना

पड़ा *। इसी तरह यदि लौंकाशाह का भी हाल हुआ हो, तो हम तो कुछ नहीं जानते, पर यह बात स्वयं स्वामी मणिलालजी ने अपनी "प्रभुवीर पटावली" के पृष्ठ १७८ में लिखी है उस बात पर जरा गौर से विचार करो। अब हम यह बतावेंगे कि स्थानकमार्गी यद्यपि अपने को लौंकाशाह के अनुयायी बताते हैं परन्तु वास्तव में ये किनके अनुयायी हैं ?

* देखो प्रभुवीर पटावलि पृष्ट १७८ पर

प्रकरण बावीसवां

क्या स्थानकमार्गी लौंकाशाह के अनुयायी हैं ?

कितनेक स्थानकमार्गी भाई अपने को लौंकाशाह के अनुयायी होने का दम भरते हैं, परंतु लौंकाशाह के सिद्धान्त एवं आचार व्यवहार का वे पालन नहीं करते हैं। उनके आचार, व्यवहार और स्थानकमार्गियों के आचार व्यवहार में जमीन आसमान सा अन्तर है। लौंकाशाह के खास अनुयायी, स्थानकमार्गियों को निन्हव, और उत्सूत्र प्ररूपक समझते हैं, और स्थानकमार्गियों के आदि पुरुष लवजी आदि लौंकाशाह के अनुयायियों को भ्रष्टाचारी, शिथिलाचारी और मिथ्यात्वी समझते थे। स्थानकमार्गियों के आदि पुरुष धर्मसिंहजी को लौंकागच्छ वालों ने अपने गच्छ के बाहिर कर दिया था। प्रमाण अधोलिखित उद्धृत है:—

"संवत् सोलह पचासिए, अहमदावाद मंझार।
शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार॥

ऐति० नोंध पृष्ठ ११७

दूसरा आदि पुरुष यति लवजी, जो लौंकागच्छीय यति बजरंगजी का शिष्य था उसने गुरु को छोड़ कर मुँह पर डोरा डाल, मुँहपत्ती बाँध के गुरु आज्ञा को भंग कर अपना अलग

मत निकाल गुरु के गेहरें अवर्णवाद[1] बोले । इन दोनों धर्मसिंह और लवजी का मिलाप सूरत में हुआ । पर सामायिक छः कोटी, आठ कोटि, के झगड़े के कारण ये एक-दूसरे को जिनाज्ञाभञ्जक और मिथ्यात्वी कहने लगे । स्थानकमार्गियों के तीसरे गुरु धर्मदासजी थे । इन्होंने धर्मसिंह और लवजी दोनों को ना पसन्द कर दिया । और आप बिना किसी गुरु के खुद ही वेष पहिन के साधु बन गए । क्या ऐसे स्वच्छन्दाचारी लौंकाशाह के अनुयायी बन सकते हैं ? नहीं !

यदि हम यही बात वा० मो० शाह के लेख से बता दें तो आप को यह पता चल जायगा कि स्था० मत से जैनसमाज और लौंकागच्छ को कितना नुकसान हुआ है, और सांप्रत में भी हो रहा है । देखिये—

श्रीमान् वा० मो० शाह—

× × × इतना इतिहास देखने के बाद म पढ़ने वालों का ध्यान एक बात पर खींचना चाहता हूँ कि स्थानकवासी, वा साधु मार्गी, जैन धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ तब से यह धर्म अस्तित्व में आया और आज तक यह जोर शोर में था ही नहीं ! अरे ! इसके तो कुछ नियम भी नहीं थे ।

---

१ श्री मणिलालजी अपनी वीर पट्टावली के पृष्ठ २०५ पर लिखते हैं कि लवजी खंभात में जाकर अपने गुरु की निन्दा की तब लवजी के नाना वीरजी वोहरा ने खंभात के नवाब पर पत्र लिखा कि लवजी को नगर बाहर निकाल देना ।

यतियों से अलग हुए और मूर्ति पूजा को छोड़ा कि ढूंढिया हुए × × × ।"

ऐति० नोंध० पृष्ठ १४२

× × ×

× × × मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैन धर्म का बड़ा भारी नुकशान हुआ, इन तीनों के तेरह सौ भेद हुए ।

ऐति० नोंध० पृष्ठ १४१ ।

इस प्रकार स्थानकमार्गियों से हुए जैनधर्म के नुकसान को स्वीकार करते हुए पुनः मतमदान्धता से लौंकाशाह के अनुयायियों पर किस कार रोष प्रकट करते हैं। जरा यह ध्यान लगा कर सुन लीजिये । वा० मो० शाह ने अपनी पक्षपात पूर्ण बुद्धि से अपनी ऐति० नो० में लिखा है कि:—

"लवजी·······इन्होंने साधुता स्वीकार साधुमार्गीयों के अनुयायी बनाये इसी समय से चतुर्विध संघ की जगह पचाविध संघ हुआ अर्थात् साधु साध्वी श्रावक-श्राविका ऐसे संघ के चार अंगों में 'यति' यह अर्ध साधु का एक अंग और शामिल हुआ ।"

ऐ० नों० पृष्ठ १८ ।

लौंकागच्छ वालों के लिए यह क्या कम अपमान की बात है कि उनकी गिनती चतुर्विध श्री संघ में न हो ? क्या यह स्थानकमार्गियों का लौंकागच्छ के प्रति अन्तर्निहित द्वेष, या विद्रोह नहीं है ? । इस दशा में स्थानकमार्गी लौंकाशाह के अनुयायी कैसे हो सकते हैं ? क्या लौंकागच्छ के यति और श्री पूज्य तथा इनके अनुयायी इस बात को नहीं समझते होंगे ?

संभव है स्थानकमार्गियों का यह विचार हो कि लौंकागच्छ के यति, श्री पूज्य, और श्रावक लोग मुँह पर डोराडाल मुँहपत्ती नहीं बाँधते हैं, और जैन मन्दिर मूर्त्तियों को मान कर पूजन, वन्दन करते हैं. अतः इनका विरोध कर इनकी इस मान्यता को बदल कर अपने में मिला लें। परन्तु अब लौंकागच्छीय यति श्रीपूज्य और उनके श्रावक वर्ग इतने भोले नहीं कि लौंकाशाह के सिद्धान्त और आचार व्यवहार के विरुद्ध. मत स्थापन करने वालों के फन्दे में फँस कर शास्त्र सम्मत मूर्त्तिपूजा को करना छोड़ दें। और शास्त्र विरुद्ध डोराडाल कर दिन भर मुँहपर मुँहपत्ती बाँध कर एक नयी आपद् मोल लें ? कदापि नहीं।

अब हम हमारे पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि लौंकाशाह की मान्यता एवं आचरण में, और स्थानकमार्गियों की मान्यता और आचरण में क्या भेद हैं।

(१) लौंकाशाह के अनुयायियों की शुरु से आज पर्यन्त मान्यता मूल ३२ सूत्र तथा उन पर किये हुए पार्श्वचंद्रसूरि के टब्बे पर हैं और स्थानकमार्गियों ने पार्श्वचंद्र सूरि के टब्बे में बहुत फेर फार किये हैं तो एक मान्यता कैसे समझी जा सके।

(२) लौंकाशाह के अनुयायियों की ३२ आगमों के आधार से मान्यता है कि जैनमन्दिर मूर्त्तियों की द्रव्य भाव से पूजा करना कल्याण का कारण है और बहुत से लौंकागच्छ के आचार्यों ने मन्दिर मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा करवाई, और उनके उपाश्रय में आज भी देरासर और मूर्त्तियां स्थापित हैं। किन्तु स्थानकमार्गी लोग मूर्त्तिपूजा को कतई स्वीकार नहीं करते हैं।

इतना ही नहीं पर वे तो मूर्त्तिपूजा को मानने वालों की उल्टी भरपेट निन्दा करते हैं।

(३) लौंकाशाह के अनुयायी सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रिया करते समय स्थापनाजी रखते हैं, किन्तु स्थानकमार्गी लोग बिना स्थापना के, विना आदेश के ही क्रिया कर लेते हैं।

(४) लौंकागच्छीय लोग अपने मत के प्रारंभ से आज तक भी मुंह पर डोरा डाल मुँहपत्ती नहीं बांधते हैं, अपितु बाँधनेवालों का घोर विरोध करते हैं और स्थानकमार्गी लोग दिन भर मुंहपर मुंहपत्ती बाँधते हैं।

(५) लौंकागच्छीय यति स्थानान्तर करते समय अथवा गमनाऽऽगमन समय हाथ में डंडा और कंधे पर कमली रखते हैं। तब स्थानकमार्गी लोग कुछ नहीं रखते, किंतु रखने वालों को बुरा बताते हैं।

(६) लौंकाशाह के अनुयायी गोचरी की झोली हाथ की कलाई पर रखते हैं और जीव रक्षा के निमित्त झोली पर पडिलह भी रखते हैं, तथा पात्रों में आया हुआ आहार गृहस्थों को दिखाते नहीं हैं। इनसे विरुद्ध स्थानकमार्गी गोचरी की झोली लटकती हुई हाथ में रखते हैं और उन पर ढकने को पड़िलह आदि कुछ नहीं रखते। तथा आहार पूरित पात्रे कन्दोई की दूकान की तरह गृहस्थों के घर में इधर उधर फैला कर रखते हैं। जिनसे तन्निविष्ट आहार को गृहस्थ देख लेते हैं। कभी कभी तो यहाँ तक हो जाता है कि गृहस्थ के घर के नादान और अबोध बच्चे पात्र स्थित लड्डुओं को देख उनके लिए मचल बैठते हैं। ऐसी हालत में बच्चों के रोने का पाप उन्हें लगता है।

(७) लौंकाशाह के अनुयायी चोलपटे के दोनों पल्ले खुले रख कर उन्हे पहिनते हैं, परंतु स्थानकमार्गी दोनों पल्लों को सिलाई कर तहमल की तरह धारण करते हैं ।

(८) लौंकाशाह के अनुयायी चद्दर धारण करते हैं, पर छाती पर चद्दर की गाँठ नहीं लगाते, जैसे स्थानकमार्गी लोग लगाते हैं ।

(९) लौंकाऽनुयायी ओघा प्रमाणोपेत रखते हैं, परंतु स्थान० प्रमाणऽतिरिक्त लम्बा ओघा रखते हैं ।

(१०) लौंकाऽनुयायी अपने नाम से स्थानक बना के फिर खुद उसमें नहीं रहते थे किंतु स्थानकमार्गी, साधुओं के नाम से स्थानक बनते हैं और उसमें वे स्वयं भी निवास करते हैं । यद्यपि कई एक लोगों ने अभी २ स्थानकों में ठहरना महा पाप समझ कर त्याग किया है, फिर भी उन्हीं स्थानकों पर पौपधशाला का नाम रख उनमें ठहर जाते हैं ।

(११) लौंकाऽनुयायी सचित्त के त्यागी थे, और शुद्ध गरम पानी पीते थे, किंतु स्थानकमार्गी धोवण के पानी को और वह भी कालातिक्रमण में पीजाते हैं ।

(१२) लौंकाऽऽनुयायी बाजारों में घूम कर हलवाइयों के यहां से धोवण लेकर विचारी मूकगौओं के आड़ नहीं देते हैं, परंतु स्थानकमार्गी उल्टे इस कुकृत्य के करने को आप अपने को उत्कृष्ट समझते हैं । *

---

* हलवाई अपने दुकान का वेसन आदि का धोवण, गौओं की कुंडियों में डालते हैं जिससे वे अपनी आत्मा को तृप्त करती हैं, परन्तु ये दयाऽवतार तो उन दीन गौओं को यह त्याज्य पानी भी नसीब होने नहीं देते ।

(१३) लौंकाऽनुयायी कंद मूल का आहार शाक-पात्र में भी नहीं ग्रहण करते थे, और स्थान० कांदा (प्याज) लसण आदि को भी लेने से बाज नहीं आते।

(१४) लौंकाऽनुयायी वासी अन्न, विद्वल आदि पात्रों में नहीं लेते हैं परंतु स्थानक० उन्हें बड़े मजे से हड़प कर जाते हैं।

(१५) लौंकाऽनुयायी ऋतुवती स्त्रियों का बड़ा भारी परहेज रखते हैं किंतु स्थानक० उनके हाथ से बनी हुई रोटी भी ले लेते हैं, यही नहीं किंतु स्थानक० ऋतुमती आर्याएं (आरजियों) सूत्रों को भी पढ़ लेती हैं और गोचरी को चली जाती हैं। इसीलिए तो गृहस्थ लोग जब पापड़, वड़ियें बनाते हैं तब अपना द्वार बंद कर देते हैं। क्योंकि उनको भय रहता है कि कहीं आरजियें आगई तो "पापड़-बड़ी" बिगड़ जावेंगी।

(१६) लौंकाऽनुयायी तीन दिन से अधिक दिनों का आचार आदि नहीं खाते थे, परंतु स्थानक० सर्वभक्षी हो रहे हैं।

(१७) लौंकाऽनुयायी प्रायः श्रावकों के घरों से ही गोचरी लेते हैं क्योंकि वहाँ आहार पानी की पूरी शुद्धता रहती है। इसके विरुद्ध स्थानक० ऐसे घरों से भी भिक्षा ले लेते हैं, जहाँ न तो जैनाऽऽचार की शुद्धि रहती है और न साधुओं की महत्ता का ही खयाल रहता है। इत्यादि—

इनके अतिरिक्त भी ऐसी अनेक क्रियाएँ हैं जो लौंकाशाह के अनुयायी अपनी परम्परा से ही करते आए हैं, उन्हें स्थानकमार्गी बिलकुल नहीं करते हैं। और कई एक ऐसी क्रियाएँ हैं जिन्हे केवल स्थानकमार्गी करते हैं, लौंकानुयायी नहीं।

इत्यादि अनेक कारणों से स्थानकमार्गी लौंकाशाह के अनुयायी सिद्ध नहीं होते हैं। हाँ ! यह लौंकाशाह के मत के अंदर से निकला हुआ एक स्वछन्द मत है। देखिये:—

(१) धर्मसिंह जब संघ के बाहिर हुए तो किसी गुरु के पास न जा कर स्वयं साधु वेश परावर्तन करके साधु बन गए।

(२) लवजी को जब गच्छ से अलग किया तो, लवजी ने अपने पूर्व गुरु को ही हीनाऽऽचारी समझ स्वयं वेश बदला के साधु बन गया।

(३) धर्मदासजी गृहस्थ होकर भी विना गुरु के स्वयं वेश पहिन दीक्षित होगए।

यह प्रवृत्ति (विना गुरु के स्वयं दीक्षित होने की) इनमें अद्याऽवधि भी पूर्ववत् वर्तमान है।

इस मत (स्थानक०) की नींव प्रारंभ से ही इतनी दुबली थी कि लौंकाशाह के विरुद्ध होने पर भी इनका काम लौंकाशाह के विना नहीं चल सका और आखिर इनके आगे नत मस्तक होना पड़ा, तथा सांप्रत में भी इनके यति और श्रीपूज्यों से द्वेषाऽऽधिक्य होने पर भी इन (स्थान०) को उनके आगे काम पड़ने पर जबरन झुकना पड़ता है।

अन्त में हम विशेष कुछ न लिख यही लिखते हैं कि प्रकृत विषय पर नाना प्रकरणों से हम खुलासा कर चुके। अब शेष प्रकरणों में अविशष्ट विषयों का वर्णन करने का प्रयत्न करेंगे तदनुसार पाठक इसके अगले प्रकरण (२३) में जैन साधुओंका आचार व्यवहार, लौंकाशाह के समय में कैसा था, इसका विवरण पढ़ें।

प्रकरण—तेवीसवाँ

जैन साधुओं का आचार व्यवहार

जैन समाज, एवं जैनधर्म का मुख्य उद्देश्य आत्म कल्याण करने का है और आत्म-कल्याण साधने वालों की तीन श्रेणियें कही गई हैं। (१) प्रथम तो सम्यग् दृष्टि। (२) दूसरी अणुव्रतधारी श्रावक। और (३) तीसरी साधु श्रेणी। सम्यग् दृष्टि और श्रावक के लिए उनकी इच्छाऽनुकूल नियम रक्खे गए हैं, पर साधुओं के लिए तो कठिन से कठिन नियमों का विधान है। संसार का कोई भी धर्म, जैनों के साधुधर्म की समता नहीं कर सकता। जैन साधुओं के आचार दो प्रकार के कहे गए हैं। प्रथम तो अध्यवसाय और दूसरा, बाह्य क्रियात्मक। इनमें भी यदि व्यक्तिगत तौर से देखा जाय तो एक दूसरे के चारित्र में कोई बराबरी नहीं है। क्योंकि चारित्र का पालन करना यह चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम पर निर्भर है। जिसको जितना, जितना चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हुआ है, वह उतना ही आचार का पालन कर सकेगा। इसी कारण शास्त्रकारों ने चारित्र के भी कई दर्जे बतलाए हैं जैसे:—

(१) सामायिक चारित्र, मूल, उत्तरगुण का परिसेवी (दोषों का लगना) या अपरिसेवी (दोषा का अभाव)।

(२) छेदोपस्थापनीय चारित्र मूला उत्तर, गुण परिसेवी या अपारिसेवी

(३) परिहार विशुद्ध चारित्र अपरिसेवी

(४) सूक्ष्म सपराय चारित्र अपरिसेवी

(५) यथाऽऽख्यात चारित्र अपरिसेवी

इनके अतिरिक्त छः प्रकार के निर्ग्रन्थ बतलाये हैं।

(१) पुलाक निर्ग्रन्थ मूल व उत्तर दोनों का प्रति सेवी।

(२) वकुस निर्ग्रन्थ मूल गुण अपरिसेवी, उत्तर गुण परिसेवी।

(३) प्रतिसेवना निर्ग्रन्थ मूल, उत्तर गुण परिसेवी

(४) कषाय, कुशील निर्ग्रन्थ अपरिसेवी।

(५) निग्रंथ निर्ग्रन्थ ,,

(६) स्नातक निर्ग्रन्थ ,, इत्यादि

यदि समग्र साधुओं का चारित्र एक सा होता तो पांच संयति और छः निग्रन्थ बतलाने की आवश्यकता क्या थी ?। पर ऐसा हो नहीं सकता।

अब आप भगवान् महावीर के समय की बात को ही देखिये—एक सामायिक चारित्र वाला और दूसरा सामायिक चारित्र वाला के चारित्र पर्यव आपस में अनन्त गुण न्यूनाधिक हैं। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय चारित्र के पर्यव में भी अनन्त गुण हानि वृद्धि होती है। वकुश निग्रन्थ के भी एक-एक के आपस में अनंत गुण हानि वृद्धि होती है।

जब एक चारित्र का ही आपस में यह हाल है तब यथाख्यात चारित्र की अपेक्षा तो छेदोपस्थापनीय चारित्र अनन्त गुण हीन है ही। पर यह नहीं कहा जाता कि इससे छेदोपस्थापनीय को चारित्र ही नहीं समझा जाय।

इस समय के साधुओं में प्रायः छेदोपस्थापनीय चारित्र और वकुश निर्ग्रन्थ ही विशेष पाये जाते हैं, जिनका स्वभाव मूलगुण उत्तरगुण प्रति सेवी या अप्रति सेवी है।

अध्यवसायों को उत्कृष्ट तथा स्थिर भाव से रखने में जैसे चारित्र मोहनीय का तो क्षयोपशम है ही, पर साथ में शरीर के संहनन भी हैं। ज्यों ज्यों संहनन की मन्दता है, त्यों त्यों अध्यवसायों की भी अस्थिरता है। भगवान् महावीर के समय में भी छेदोपस्थापनीय चारित्र था। आज भी छेदोपस्थापनीय चारित्र है। और भविष्य में पंचम आरा के अन्त तक भी छेदोपस्थापनीय चारित्र रहेगा। परन्तु भगवान् महावीर के समय के संहनन आज के संहनन और पंचम आरा के अन्त के संहनन में तारतम्य अवश्य रहेगा। इस कारण एक एक संयम के असंख्य २ स्थान और अनन्त २ गुण हानि वृद्धि शास्त्रकारों ने बतलाई है। अतः एक साधु के चारित्र पर्यव हीन देख, दूसरे साधु को उसकी निंदा न कर प्रिय वचनों से सुधारने की कोशिश करनी चाहिए। यदि प्रयत्न करने पर भी उस पर असर न हो तो आप को अपनी आत्मा का संयम रखना जरूरी है। पूर्वाचार्य इन बातों के पूर्ण जानकर थे। उन्होंने चैत्यवास और शिथिलाचार के समय उनको सुधारने का प्रयत्न किया; परन्तु उनको एक किनारे कर अपना पक्ष दुर्बल करना नहीं चाहा।

जैसा कि लौंकाशाह ने किया। प्रथम तो लौंकाशाह जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ था, दूसरा उसे समय का ज्ञान नहीं था, तीसरा उसमें इतनी योग्यता भी नहीं थी, कि वह बिगड़ी का सुधार कर सके। इतना ही नहीं पर उसको हानि लाभ का भी विचार नहीं था कि मैं जो कुछ अनर्थ कर रहा हूँ उसका भविष्य में परिणाम कैसा होगा? इसका उसे तनिक भी ज्ञान नहीं था। जिस शिथिलाचार को लौंकाशाह दो हजार वर्षों को अनेक परिस्थितियों के अन्त में जो व्यक्तिगत देख रहा था, वही शिथिलाचार आपके अनुयायियों में थोड़े ही समय में सर्व व्यापक हो गया था। उदाहरणार्थ नीचे के कोष्ठक में देखिये।

स्था० कथनानुसार लौंकाशाह के समय में कतिपय जैनयतियों का आचार	लौंकाशाह के बाद १०० वर्षों में लौंकाशाह के अनुयायियों का आचार
१—उपासरों में स्थिर वास करना।	उपासरों में स्थिर वास करना।
२—गादी तकिया आदि को रखना।	गादी तकिया आदि को रखना।
३—पालखी में बैठना।	पालखी में बैठना।
४—चमर, छत्र, चपड़ास रखना।	चमर, छत्र, चपड़ास रखना।
५—शिर पर बालों का रखना।	शिर पर बालों का रखना।
६—खमासणे वेहरने जाना।	खमासणे वेहरने जाना।
७—तप तैलादि में पैसा लेना।	तप तैलादि में पैसा लेना।

८—व्याख्यान के अन्त में चन्दा करना।	व्याख्यान के अन्त में चंदा करना।
९—रात्रि जागरण करना।	रात्रि जागरण करना।
१०—रुपये पैसे रखना।	रुपये पैसे रखना।
११—फरमान, पटा, परवाना,	फरमान, पटा, परवाना रखना।
१२—उपासरों में देरासर और मूर्त्तियों का रखना।	उपासरों में देरासर और मूर्त्तियों का रखना।
१३—रात्रि में दीपक करवाना।	रात्रि में दीपक करवाना।
१४—छोटे छोटे बालकों को चेला बनाना।	छोटे छोटे बालकों को चेला बनाना।
१५—मंत्र यंत्र करना।	मंत्र यंत्र करना।
१६—निमित्त बताना।	निमित्त बताना।
१७—नगर प्रवेश की अगवानी कराना।	नगर प्रवेश की अगवानी कराना।
१८—सात क्षेत्र में धन निकलवाना।*	सातक्षेत्र में धन निकलवाना।
१९—पुस्तक द्रव्य से पुजवाना।	पुस्तक द्रव्य से पुजवाना।
२०—संघ पूजा करवाना।*	संघ पूजा करवाना।
२१—प्रतिष्ठा करवाना।*	प्रतिष्ठा करवाना।
२२—पर्युषणमें पुस्तक महोत्सव*	पर्युषण में पुस्तक महोत्सव।
२३—सोने चांदी की ठवणी (पुस्तकाधार) रखना।	सोने चांदी की ठवणी (पुस्तकाधार) रखना।
२४—पगवन्दन करते वक्त वस्त्र पर चलना।	पगवन्दन करते वक्त वस्त्र पर चलना।

* इन कार्यों का साधु उपदेश दे सकते हैं पर इसमे इन कार्यों की ओट में स्वस्वार्थ साधन करना ज़रूर बुरा है।

इत्यादि कुच्छ यति आचार शैथिल्य होने पर भी लौंकाशाह के समयमें जैनशासन के अन्दर बहुत से आचार्य और साधु-उग्रविहारी, शुद्धाचारी, महाविद्वान् तथा धर्मनिष्ठा वाले भूमण्डल पर विहार करते थे। परन्तु कई यति लिङ्गधारी तथा उपासरा बद्ध भी थे, जिनके आचार में दोष देख लौंकाशाह ने नया मत निकालने का दुस्परिश्रम किया, परन्तु लौंकाशाह ने जिस कारण को देख जैन शासन का अंगच्छेद किया था, उस कटे हुए अंग में भी वही कारण सौ वर्ष के पहिले २ ही आ घुसा, जो उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट विदित होता है। फिर भी लौंकाशाह के समय में जैन यतियों का आचार इतना नष्ट नहीं हुआ था जितना लौंकाशाह के १०० वर्ष बाद लौंकाऽनुयायी यतियों का नष्ट हुआ। इसका कारण हमारी बुद्धि से तो कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का अविवेक ही था।

जब लौंकाशाह के अनुयायियों का पतन अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया, तब भी इनके अन्दर कोई ऐसा महापुरुष प्रकट नहीं हुआ, जो लौंकाशाह के मूल सिद्धान्तों को समझ कर इस बिगड़ी दशा को सुधारता? जैसे कि यतियों की शिथिलता का उद्धार पंन्यासजी श्री सत्य विजयजी गणी ने किया।

परन्तु पन्यासजी का किया उद्धार लौंकामत के यति धर्मसिंह लवजी जैसे अज्ञात मनुष्यों के सदृश नहीं था क्योंकि धर्मसिंह एवं लवजी ने न रखी जिनाज्ञा और न रखी लौंकाशाह की मर्यादा। इतना ही नहीं पर उन दोनों यतियों ने तो खास लौंकाशाह के सिद्धान्त को भी मिथ्या ठहराने की उद्घोषणा करदी और अपना मन कल्पित नया मत चलादिया जिसमें भी इन दोनों के अन्दर भी विचारभेद, मतभेद, सिद्धान्तभेद था, इतना ही नहीं

पर एक एक को उत्सूत्र प्ररूपक मिथ्यात्वी बतलाने में भी नहीं चूकता था तब श्री सत्यविजय पन्यास ने गुरु आज्ञा ले कर केवल शिथिलाचार निवारणार्थ कई मुनियों को साथ लेकर क्रिया उद्धार कर उग्रविहार करते हुए अनेक भव्यों को उग्रविहारी बनाये। जैसे धर्मसिंहजी और लवजी के विषय में लौंकागच्छियों की पुकार है कि ये दोनों व्यक्ति गच्छ बाहर हैं उत्सूत्र प्ररूपक हैं, निन्हव हैं, इत्यादि पर श्रीमान् पन्यासजी के विषय में उस समय से आजपर्यन्त किसी ने ऐसा एक शब्द तक भी उच्चारण नहीं किया है बल्कि शिथिलाचारियों ने भी आपका उपकार मान यथा विध अनुकरण ही किया है। अतएव विद्वत्ता पूर्ण शान्ति के साथ क्रिया उद्धार इसका नाम होता है और पन्यासजी का किया हुआ क्रिया उद्धार आज तक उसी रूप में चल भी रहा है।

इतना विवेचन करने के बाद अब हम इस विषय को यहीं विश्रांति दे चौबीसवें प्रकरण में हिंसा, अहिंसा की समालोचना करेंगे, पाठक उसकी राह देखें।

प्रकरण चौवीसवां

हिंसा और अहिंसा की समालोचना।

जैन शास्त्रकारों ने हिंसा तीन तरह की बताई है, (१) अनुबन्ध हिंसा (२) हेतु हिंसा और (३) स्वरूप हिंसा।

(१) अनुबन्ध हिंसा—चाहे गौतम स्वामी जैसा चारित्र पाले, मक्खी की पांख तक को तकलीफ न दें परन्तु वीतराग की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करने वाले, उत्सूत्र भाषण करने वाले और मिथ्यात्व का सेवन करने वाले जीवों को अनुबंध हिंसा के कर्म बंधन होते हैं और वे अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं। जैसे:—जमाली गौसालादि निह्नव तथा अभव्य जीव भी इसकी गिनती में शामिल हो जाते हैं।

(२) हेतु हिंसा—गृहस्थ लोग अपने जीवन के साधनार्थ नाना काम करते हैं, जैसे:—घर हाट करना, रसोई पानी करना, व्यापारादि कार्य करते हुए धन का उपार्जन करना, प्रजा के जान माल की रक्षार्थ संग्राम करना, पंचेन्द्रियों की विषय हेतु हिंसा करना, इत्यादि हिंसा को हेतु हिंसा कहते हैं। सम्यग् दृष्टि जीव को इन हिंसाओं का प्रतिक्रमण पश्चात्ताप करने से इतना कर्म बन्धन नहीं होता है।

(३) स्वरूप हिंसा—जो शुभ योगों की प्रवृत्ति करने पर स्वरूप अर्थात् देखने में हिंसा नजर आती है, परन्तु परिणाम

विशुद्ध होने से उसके अशुभ कर्म नहीं बँधते हैं:—जैसे गुरुवन्दन, देवपूजा, प्रभावना, स्वामिवत्सलता, दीक्षा महोत्सव आदि धर्म कार्य करने में अशुभ कर्मों का बन्धन नहीं होता है ।

धर्म क्रिया की प्रवृत्ति में हिंसा बतला कर उसका विरोध करना यह एक शास्त्रों की अनभिज्ञता ही है । जरा निम्नोक्त शास्त्रकारों के वचनों पर खयाल करे ।

न य किंचि वि पडिसिद्धं, णाणुण्णाय च जिणवरिंदेहिं ।
मोत्तं मेहुणभावं, ण तं विणा रागदोसेहिं ॥

भावार्थ—एक मैथुन को वर्ज कर किसी में एकान्तत्व नहीं कहा है क्योंकि मैथुन की प्रवृति विना राग द्वेष के हो नहीं सकती शेष कार्यों में शुभाशुभ दोनों प्रकार का अध्यवसाय होता है वास्ते किसी का न तो एकान्त निषेध है और न एकान्त स्वीकार है स्याद्वाद के रहस्य को जरा समझो ।

"अप्रमत्तस्य योगनिवन्धनप्राणव्यपरोपणस्य अहिंसात्वप्रतिपादनार्थं 'हिंसातो धर्म.' इतिवचनम्, राग-द्वेष-मोह-तृष्णादि निवन्धनस्य प्राणव्यपरोपणस्य दुःखसवेदनीयफलनिर्वर्तकत्वेन हिंसात्वोपपत्तेः" इत्यादि।

"सन्मति तर्क श्री अभयदेवसूरि कृत टीका विभाग ५ पृष्ठ ७३०"

भावार्थ—अप्रमादी के योगों से यदि हिंसा भी होती हो तो उसको अहिंसा ही समझना चाहिये । कारण राग द्वेष मोहादि संयुक्त प्रमादी के मनादि योग ही हिंसा का कारण होते हैं और इनसे असातावेदनीय आदि कर्म बंध होता है पर अप्रमादी के

शुभ योगों से यदि हिंसा भी होती हो तो सातावेदनीय आदि कर्मों का आगमन होता है क्योंकि वीतरागावस्था में भी हिंसा होने का प्रसंग आता है परन्तु उनके योग शुभ होने से असातावदेनीयादि कर्म वन्ध न होकर सात वेदनीय कर्म बन्धता है वह भी स्वल्प काल का, इसका ही नाम अनेकान्तवाद है।

असुहो जो परिणामो सा हिंसा।

यस्मादिह निश्चयनयतो योऽशुभपरिणामः सा हिंसा ॥

'विशेपावश्यक सूत्र'

भावार्थ—मानसिक अशुभ भावना को ही हिंसा कहते हैं और वास्तव यह है भी यथार्थ क्योंकि अशुभ योगों की प्रेरणा ही हिंसा का कारण है।

असुहपरिणामहेउ जीवावाहो त्ति तो मयं हिंसा।

जस्स उ ण सो णिमित्तं संतो वि ण तस्स सा हिंसा

"विशेपावश्यक सूत्रं"

भावार्थ—आदि जीव हिंसा अशुभ भावना का कारण बनते हों तो हिंसा कही जाती है और अशुभ भावना का कारण नहीं बनता हो तो वह हिंसा ही अहिंसा समझनी चाहिये। जैसे बहता हुआ पानी से साध्वी को निकाल लाना यह देखने में हिंसा है पर अशुभ भावना न होने के कारण वह अहिंसा ही है।

'व्यवस्थितमिदम् प्रमत्त एव हिंसकः नाप्रमत्त इति'

'तत्वार्थ सूत्र टीका आचार्य सिद्धसेन सूरि।'

भावार्थ—प्रमत्तपने हिंसा करे तब ही हिंसा कही जाती है अप्रमत्तपन को नहीं।

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा; ।

जे अणासवा ते अपरिस्सवा, जे अपरिस्सवा ते अणासवा ।

आचारांग सूत्र १-४

भावार्थ—जो देखने में आश्रव (कर्मबन्ध) के स्थान हैं पर शुभ भावना होने से वे संवर के ही स्थान कहा जा सकते हैं और जो देखने में संवर (कर्मनिर्जरा) के स्थान है वह अशुभ भावना के कारण आश्रव के स्थान बन जाते हैं जैसे प्रसन्नचद्र राजर्षि संयमधारी होने पर भी अशुभ भावना से नरक के दलक एकत्र कर लिया था और ऐलापुत्र कुमर ने नाटक करते हुए भी शुभ भावना से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

"सुहजोग पडूच नो आयारभा नो परारंभा नो तदुभयारंभा"

श्री भगवती सूत्र श० १-२,

भावार्थ—जहाँ शुभ योगों की प्रवृति है वहाँ न तो आत्मारंभ है न परारम्भ है और न उभयारम्भ है अर्थात् शुभ भावना है वह संवर ही है ।

जे जत्तिया य हेउ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे ।

सर्वएव ये त्रैलोक्योदरविवरवर्त्तिनो भावा रागद्वेषमोहात्मनां पुंसां संसारहेतवो भवन्ति, त एव रागादिरहितानां श्रद्धामताम-ज्ञानपरिहारेण मोक्षहेतवो भवन्ति इति ।

'श्री ओघनियुंक्ति सूत्र'

भावार्थ—तीनों लोक में जो पदार्थ रागद्वेष मोह एवं अशुभ भावना वाला को राग (कर्म बन्धन) के कारण हैं वे ही पदार्थ राग

रहित अप्रमादी एवं शुभ भावना वाले जीवों को वैराग्य (कर्म-निर्जरा) का कारण होता है ।

इन शास्त्र वाक्यों से प्रत्येक समझदार अच्छी तरह से समझ सकते हैं कि हिंसा अहिंसा का मूल कारण शुभाशुभभावना ही हैं जब पूजादि धर्म कार्यों में शुभ भावना है तो वहाँ हिंसा हो ही नहीं सकती है जो देखने मात्र की हिंसा है परन्तु वह कर्म निर्जरा और शुभ कर्मों का हेतु है ।

देववन्दन, गुरुवन्दन, आहार, विहार, निहार तथा गुरु के आगमन समय में सामने जाना, रवाना होते समय पहुँचाने को जाना आदि धर्म कार्यों में शुभ योगों की प्रवृत्ति होने के कारण इन में हिंसा होते हुए भी इसे स्वरूप हिंसा का रूप दे दोषाऽभाव का कारण बताया गया है ।

इसी प्रकार पूजा, प्रभावना, स्वामिवात्सल्य, दीक्षा महोत्सव, मृत्यु महोत्सव आदि धार्मिक कृत्यों के लिए भी समझ लेना चाहिए । और धर्म विधान इन दोनों समुदायों में सदृशतया वर्त्तमान है । तथापि कई एक लोग स्वकीय मत-मोह के कारण आप दया-धर्मी बन दूसरों को हिंसाधर्मी बताते हैं । पर वे प्रत्यक्ष में नहीं आकर या तो लेखों में लिखते हैं या गुप्त रूपेण भोली भाली औरतों के सामने अपनी इस निकृष्ट विद्वत्ता का दिग्दर्शन कराते हैं । इस लिए मैं आज सर्व साधारण के जानने को यहाँ नीचे सम तुलना कर विस्तृत रूप से यह बता देता हूँ कि वास्तव में हिंसा और अहिंसा की मात्रा किस वर्ग में विशेष है ।

मूर्त्ति पूजक जैन	स्थानक मार्गी जैन
१—बड़े २ मन्दिर बनाते हैं पाठशाला, पींजरापोल बनाते हैं।	आलीशान स्थानक बनाते हैं। पाठशाला, पींजरापोल बनाते हैं।
२—मूर्त्तिएँ बनाते हैं जिममें पृथ्वीकाय का आरम्भ को शुभभावना होने से स्वरूप हिंसा समझते हैं।	साधुओं की मूर्तियां या फोटू उतराते हैं उसमें पृथ्वीकाय से असंख्यात गुणा अधिक जलकाय की हिंसा होती है।
३—मूर्त्तियों तथा साधुओं के फोटुओं के ब्लॉक बना के पुस्तकों में चित्र देते हैं।	तीर्थङ्करों के, पूज्यों के, और साधुओं के फोटो के ब्लॉक बना पुस्तकों में चित्र देते हैं।
४—व्याख्यान के लिए मण्डप तैयार होते हैं।	भाषणों के लिए मण्डप बनवाते हैं।
५—दीक्षा का महोत्सव धाम धूम से होता है।	दीक्षा का महोत्सव ठाठपाट से होता है।
६—स्वामि वात्सल्य होता है।	स्वामिवात्सल्य होता है।
७—नारियल आदि की प्रभावना होती है।	प्रभावना नारियल आदि की होती है।
८—तीर्थयात्रार्थ संघ निकाले जाते हैं पर वे शीत उष्णकाल में ही जाते हैं। चातुर्मास में नहीं जाते हैं।	पूज्यों के दर्शनार्थ संघ जाते हैं, विशेषता यह है कि चातुर्मास एवं पर्यूषणों में भी संघ की रसोई के भट्टे जलाए जाते हैं।

९–विना संघ भी साधु साध्विएँ तीर्थयात्रा करने को जाती हैं।	साधु साध्वियें शत्रुञ्जय, गिरनार, आबू, रानकपुर, सम्मेत शिखर, भद्रेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा करते हैं।
१०–४५ आगम पञ्चाङ्गी और पूर्वाचार्यों के प्रमाणिक सब ग्रन्थ मान्य रखते हैं।	जैन साहित्य में केवल ३२ सूत्र और उस पर के टब्बे को ही मानते हैं (इतनी संकीर्ण वृत्ति है)।
११–समाचार पत्रों में अपने नाम से लेख छपवाते हैं।	अखबारों में अपने नाम से लेख देते हैं।
१२–पुस्तकें छपवाते हैं और उन पर अपना नाम भी लिखते हैं।	अपने नाम से पुस्तकें प्रकाशित कराते हैं। और अपने फोटू भी देते हैं।
१३–आचार्य व साधु इरादा पूर्वक अपना फोटो खिचवाते हैं।	पूज्यजी व साधु स्वेच्छया फोटो खिंचवाते हैं।
१४–यात्रा समय साथ में रहने वाले श्रावकों के हाथ से जो रसोई बनाई हुई है उससे आहार लेते हैं।	भ्रमण समय में साथ के गृहस्थ रहते हैं उनकी बनाई हुई रसोई से अपनी गोचरी ले लेते हैं।
१५–साधुओं के उपदेश से संस्थाएँ खोली जाती हैं।	साधुओं के नाम से निर्दिष्ट संस्थाएँ स्कूल आदि खुलवाते हैं।
१६–पुस्तकों के भण्डार रखते हैं।	पुस्तक भण्डार रखते हैं।

१७—साधु सम्मेलनादि में और शासन कार्यों में हजारों लाखों रुपयों का खर्चा होता है।

साधु सम्मेलनादि कार्यों में आरंभ और लाखों रुपयों का खर्चा होता है।

१८—जैनों में धर्म की और धर्मानुकूल समाज व जाति की उन्नति के लिए कार्य किया जाता है। उसमें अनेक प्रकार की हिंसा होती है, जिसे स्वरूप हिंसा मानते हैं। इससे शुभ कर्म और शुभगति प्राप्त होती है। और साधुओं का विहार, नदी से पार उतरना, गोचरी प्रति लेखन, थंडिल वन्दन करने आदि में भी स्वरूप हिंसा होती है।

धर्म, समाज, जाति आदि शुभ कर्मों में हिंसा होती है। उसे ये लोग, मन्दबुद्धि और बोध बीज का नाश होना समझते हैं फिर भी गुरुकुल बोर्डिंग खुलवाते हैं। साधुओं की गोचरी, थंडिला, विहार, नदी उतरना, नाव में बैठना, पूंजन, प्रतिलेखन, गुरु-वन्दन आदि कार्यों में जो हिंसा होती है, उसे अनुबंध हिंसा मानते हैं।

१९—साधुओं का मृत्यु महोत्सव।

साधुओं का मृत्यु महोत्सव।

२०—तीन दिन के बाद आचार नहीं खाते हैं क्योंकि उसमें असंख्य जीवोत्पत्ति होती है।

तीन दिन के बाद का भी आचार खा लेते हैं। भले ही उनमें असंख्य जीवोत्पत्ति हो।

२१—रांधा हुआ वासी अन्न नहीं खाते हैं। जिसमें अन्न के साथ पाणी रहा हो उसे वासी कहते हैं, ऐसे

वासी पड़ा हुआ रांधा आ अन्न भी खा लेते हैं। जिस पर भी अपने को उत्कृष्ट समझते हैं। ऐसे अन्न में चाहे

बासी अन्न में असंख्य जीव पैदा हो जाते हैं।	भले ही त्रसजीव पैदा हो, उनकी इन्हे परवाह नहीं।
२२–विद्वल–कच्चा दही, छास में डाले हुए मूंग, मोठ, चिणा, चौला आदि के कच्चे या रांधे पदार्थों के मिश्रित को विद्वल कहते हैं उसमें भी असंख्य जीवोत्पत्ति होती है जिसे वैज्ञानिकों ने सिद्ध करके बताया है। इसे पदार्थ ग्रहण नहीं करते हैं।	कई एक लोग तो अभी, जैन कहलाते हुए भी इस पदार्थ को परिभाषिक रूप में नहीं जानते हैं। और जो जानते हैं वे भी लोलुपता के कारण विद्वल खाते हैं और टालने वालों की उल्टी निंदा करते हैं। तथा अपना कर्म बंधन बाँधते हैं।
२३–प्रायः गरम पानी ठंडा कर के पीते हैं।	धोवण पीते हैं और उनमें भी कालातिक्रम का खयाल नहीं रखते हैं।
२४–तपस्या में भी गरम पानी ही पीते हैं।	धोवण तथा छास (घोल) भी तपस्या में पीलेते हैं।
२५–कपड़ा धोते हैं।	कई एक तो कपड़ा धोते हैं और कई एक जूंओं के शय्यास्तर (सेजातर) बनते हैं।
२६–रात्रि में चूना डाल कर पानी रखते हैं और जब रात्रि में टट्टी या पेशाब	कई लोग अब गुप्त पानी रखने लगे हैं। पर कई एक अभी तक भी रात में पानी नहीं

का काम पड़ जाय तो उस पानी से शुद्धि कर लेते हैं।	रखते हैं। शौचादि का काम पड़ने पर...काम में लेते हैं।
२७–मुँहपती (हत्थग्गं) पाठानुसार वे हाथ में रखते हैं और बोलते वक्त मुँह के आगे रख लेते हैं।	मुँहपत्ती दिन भर डोराडाल मुँह ऊपर बाँध के रखते हैं। मौन करने पर या रात्रि में निद्रावश होने पर भी वह मुँह पर बँधी रहती है। जिसमें असंख्य जीवों की हिंसा होती है।

पाठक, इस तालिका से स्वयं विचार कर सकते हैं कि हिंसा की मात्रा किस समुदाय में विशेष है। स्थानकमार्गियों का विशेष कहना मन्दिरों में अष्टद्रव्य से पूजा करने के विषय में है कि जो पूजा प्राचीन समय से प्रत्येक तीर्थंकर की होती थी। फिर भी यह कहना उस समय था कि जब स्थानकमार्गियो में आडम्बर नहीं था। पूज्यों के दर्शनार्थ जाने में पाप समझते थे। पर आज तो इनके यहां भी पूज्यजी और उनके शिष्य इन स्थानकमार्गियो को उपदेश देते हैं कि, वर्ष में एक वार तो पूज्यजी के दर्शन करने ही चाहिएँ, तदनुसार जब पर्युषण आते हैं तो हजारों भक्त पूज्यजी के दर्शनार्थ यत्र तत्र एकत्रित होते हैं, और वहां आत्मकल्याण को भूल कर पाक पकवानादि निमित्त बड़ी बड़ी भट्टियें जलाते हैं, विधर्मी रसोइये चाँवलों का गरमा गरम पानी भूमि पर डालते हैं, जिनसे असंख्य कीड़ों मकोड़ों का तो जीवन

अन्त होता ही है। पर पाक बनाने वाले जब भट्टियों के अंदर नीलण फूलण वाले छाँणे (कण्डे) और लकड़िएं जलाते हैं, तब उनके अन्दर रहे हुए जीवों का भी परमकल्याण (!) हो जाता है! फिर तुम्हें क्या अधिकार है? कि आप स्वयं इतनी हिंसा करते हुएभी जब श्रावक गण भगवान् के गले में एकाध पुष्पों की माला पहिनावें तब उसका हिंसा हिंसा शब्दों से चिल्ला हमें दोषी बताते हो। क्या तीर्थंकर के समोशरण में पंचवर्णी फूलों की ढेर न होती थी? तुम्हारे यहाँ भी सभाओं में सभापतियों के गलों को चोसरों (पुष्पहारों) से ढक देते हैं तथा रात में प्रकाशार्थ गैस बत्तीयों को जला लाखों पतंगों का होम किया करते हैं। क्या यह पाप नहीं है?। फिर किस मुँह से कहते हो कि हम धर्मात्मा और तुम पापी हो! एवं भगवान् को स्नान कराने के लिए खर्च किए हुये एक कलश जल से झट आग बबूला होकर हम को हिंसा-समर्थक साबित करते हो। जरा तो शरमाओ! अपने घर के कुकृत्यों को तो पहिले सुधारो! फिर हमें कहो! अन्यथा आप लोगो पर भी वही उक्ति चरितार्थ होगी जो हिन्दी साहित्य सम्राट् एक महात्मा ने कही है, यथा:—

"पर उपदेश कुशल बहुतेरे, इत्यादि।"

अस्तु! किसी भी समुदाय मे सब मनुष्य उपयोग वाले नहीं होते हैं जैसे पूज्यों की भक्ति करने में अनेक आदमियों की त्रुटिएँ रह जाती हैं इतना ही क्यों पर मूल्य की अभक्ष मिठाई, आलू का शाक भुजिया खाकर दया पालने वालों और सामायिक पौसह करने वालों में भी उपयोग की शून्यता कम दिखाई नहीं

देती है। किन्तु जब एक मत-पत्ती को दूसरे निरदोष समुदाय की निंदा ही करना है तो वह स्व-पर गुणाऽगुण का विचार क्यों करेगा ? वह तो दूसरे की निंदा ही करेगा जैसा कि नीतिज्ञों का वचन है कि:—

"खलः सर्षप मात्राणि, पर छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनो बिल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ॥

अर्थात्—दुष्ट व्यक्ति अपने विपत्ती के सरसों जितने अवगुण भी देख सकता है और खुद के बेल-फल जितने बड़े भी अवगुण देखता हुआ भी नहीं देखता है। किन्तु शास्त्रकार ऐसे अधमों को मिथ्या दृष्टि कहते हैं, और आज कल के सुज्ञ समाज में भी इनकी मात्र भर्त्सना ही होती है।

इसी समय मूर्त्तिपूजक समाज में तो एक तरह की जागृति हो रही है और मन्दिरों में उपयोग रखने की निरन्तर पुकार होती रहती है, जिससे अनेक जगह तो आशातीत सुधारा हुआ है और अन्यत् सब जगह भी शीघ्र ही सुधारा होने की संभावना है। किन्तु हमारे स्थानकमार्गी भाई तो हर वक्त दया दया की पुकार करते हुए इतने आडम्बर प्रिय हो गए हैं कि जिनका कुछ ठिकाना ही नहीं है। जहाँ आडम्बर है वहाँ हिंसा अवश्य है। इसे देख बहुत से समझदार स्थानकमार्गी तो अब पब्लिक में पुकार करने लगे हैं कि हम में और मूर्त्तिपूजकों में कोई अन्तर नहीं है। मूर्त्तिपूजक आडम्बर कर अपनी उन्नति समझते हैं तो स्थानकमार्गी आडम्बर कर उन्नति होने की पुकार करते हैं और चलते फिरते पूज्यजी जब एक नगर से दूसरे नगर में

पधारते हैं तो आठ दिन में ही सैकड़ों हजारों का धुआँ कर देते हैं। और इस कार्य में भाग लेने वालों को कोटिशः धन्यवाद और धर्मिष्ट भाग्यशाली बताया जाता है।

शेष में हम और कुछ विशेष न लिख उपसंहार रूप में इस सारे विवेचन का सारांश "लौंकाशाह ने क्या किया ?" लिखेंगे जिसके लिए पाठक पचीसवें प्रकरण की राह देखें।
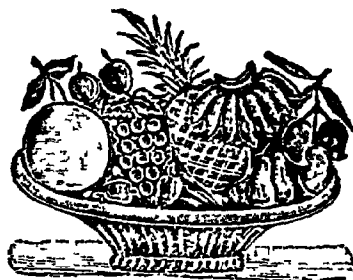
प्रकरण पच्चीसवां

श्रीमान् लौंकाशाह ने क्या किया ?

संसार मे मनुष्य दो प्रकार से प्रसिद्धि को पाता है, एक तो अच्छे कार्य करने से, या जगत् का भला करने से, तथा दूसरा बुरा कार्य करने से अर्थात् जगत का अहित करने से। अब देखना यह है कि हमारे चरित्र नायक श्रीमान् लौंकाशाह किस कोटि में से थे और उन्होंने दुनियां का भला किया या बुरा ? लौंकाशाह की अधिक से अधिक पुकार शिथिलता की थी, परन्तु वास्तव में यह पुकार अपमान के कारण बुद्धि का विकार ही था। कारण उस समय केवल शिथिलाचार ही नहीं पर बहुत से धर्मधुरंधर जैनाचार्य उग्रविहारी भी विद्यमान थे। यत् किंचित् शिथिलाचारी होगा तो भी लौंकाशाह की इस मिथ्या पुकार से उनका थोड़ा भी सुधार नहीं हुआ। यदि शिथिलाचार का ही कारण समझा जाय तो फिर लौंकाशाह ने जैन साधु, जैनाऽऽगम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान दान और देव पूजा को बुरा क्यों समझा और उसका विरोध क्यों किया था ? परन्तु आपका वह पक्ष भी निर्बल रहा, कारण आप द्वारा विरोध की हुई ये सब बातें पुनः सब को स्वीकार करनी पड़ी।

लौंकाशाह के समय जैन समाज का संगठन बल भी बड़ा मजबूत था। सामाजिक और धार्मिक डोर प्रायः श्रीपूज्यों के हाथ में थी और शुद्धि की मशीन द्वारा अजैनों को जैन भी बनाया जाता था। बस ! लौंकाशाह ने सब से पहिला काम तो यह किया कि जैन संगठन के टुकड़े २ कर, क्या ओसवाल, क्या पोरवाल,

क्या श्रीमाल, सब जातियो में फूट, कुसम्प और अशान्ति फैलाई। वह भी इतनी कि एक पिता के पुत्र होने पर भी वे दुश्मन की भाँति एक एक को हलका दिखाने में और नुकसान पहुँचाने में बहादुरी समझने लगे, और लौंकाशाह के संकुचित विचार, मलीन क्रियाएँ और मर्यादा के बाहिर की दया ने शुद्धि की मशीन को तो बिलकुल बन्द ही कर डाली। अर्थात् वि० सं० १५२५ तक तो अजैनो को जैन बनाने का इतिहास मिलता है। पर बाद में लौंकाशाह के पूर्वोक्त आचरणों और ग्रहक्लेश से किसी भी अजैन को जैन बनाने का इतिहास नहीं मिलता है। इस तरह लौंकाशाह ने जैन समाज में फूट, कुसम्प व अशान्ति पैदा कर, नये जैन बनाने के दरवाजे को बन्द करने के अलावा कुछ भी महत्व का कार्य नहीं किया। विशेष में हम पिछले २४ प्रकरणों में विस्तृत रूप से लिख आए हैं जैसे कि:—

(१) स्थानकमार्गियो की प्राचीन समय से मान्यता थी कि लौंकाशाह एक साधारण गृहस्थ और पुस्तक लिखने वाला लहीया था।

(२) तपागच्छीय यति कान्तिविजय के नाम से दो पन्ने कल्पित बनाए वे स्था० मत से भी मिथ्या ठहरते हैं।

(३) लौंकाशाह के इतिहास के लिए स्थानकवासी समाज के पास प्रमाणो का अभाव ही है।

(४) लौंकाशाह के विषय जो कुछ प्रमाण मिलते हैं उनकी सूची।

(५) लौंकाशाह का समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

(६) लौंकाशाह का जन्म स्थान लींबड़ी और वंश श्रीमाली था।

(७) लौंकाशाह का व्यवसाय नाणावटी (कोड़ी, टकों की कोथली ले के बैठना) और पुस्तक लिखने का था।

(८) लौंकाशाह का ज्ञान—साधारण गुजराती भाषा का ज्ञान था।

(९) लौंकाशाह ने अपने लिए ३२ सूत्र तो क्या पर एक भी सूत्र नहीं लिखा था।

(१०) लौंकाशाह के समय—जैन समाज की परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि जिसमे परिवर्त्तन की आवश्यकता हो।

(११) लौंकाशाह पर भस्म ग्रह का अन्तिम प्रभाव अवश्य पड़ा था।

(१२) लौंकाशाह को नया मत निकालने का कारण उसके खुद का अपमान ही था।

(१३) लौंकाशाह का कोई मुकर्रर सिद्धान्त नहीं था। वह अपमान के कारण गुस्से में आकर जैन साधु, जैनागम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देव पूजा का विरोध कर प्रत्येक कार्य में पाप-पाप-हिंसा-हिसा और दया दया ही करता था, बाद में उनके अनुयायियों ने जैन-धर्म की कई एक क्रियाओ को और ३२ सूत्रों को माने थे।

(१४) लौंकाशाह और मूर्तिपूजा—मूर्तिपूजा विश्वव्यापी है।

(१५) लौंकाशाह डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती नहीं बाँधता था।

(१६) लौंकाशाह में किसी विषय की विद्वत्ता नहीं थी। वह बड़ा ही मताग्रही था।

(१७) लौंकाशाह ने लींबड़ी जैसे अज्ञातक्षेत्र में कई लोगों को अर्थ शून्य दया दया का उपदेश दिया पर वह वूढ़ा अपंग के कारण लींबड़ी के बाहिर जा नहीं सका।

(१८) लौंकाशाह ने दीक्षा नहीं ली पर उसका गृहस्थाऽवस्था में ही देहान्त हुआ था। जो हाल दीक्षा की कल्पना की गई है वह अपने पर गृहस्थ गुरु का आक्षेप मिटाने के लिए की है।

(१९) लौंकाशाह ने अहमदावाद और लींबड़ी के अलावा कहीं भी भ्रमण किया हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता है।

(२०) लौंकाशाह के अनुयायियो की संख्या लौंकाशाह की मौजूदगी में ७ करोड़ जैनों में से सौ पचास मनुष्यों की शायद ही हुई हो।

(२१) लौंकाशाह का देहान्त का स्थान निश्चय नहीं है पर अनुमान से लींबड़ी ही प्रतीत होता है।

(२२) लौंकागच्छ और स्थानकमार्गियों की श्रद्धा, मान्यता एवं आचार व्यवहार में जमीन आसमान सा अन्तर है। अर्थात् स्थानकमार्गी लौंकाशाह के अनुयायी नहीं किन्तु लौंकागच्छीय यति श्रीपूजों से तस्कृत किये हुए यतिलवजी और धर्मसिंहजी के अनुयायी हैं।

(२३) जैन साधुओं के आचार व्यवहार की आलोचना।

(२४) हिंसा और अहिंसा का स्वरूप तथा उनकी समालोचना।

(२५) लौंकाशाह ने क्या किया ?

श्रीमान लौंकाशाह ने क्या किया ? इस विषय में हमारे प्रिय मित्र श्रीमान् संतबालजीने 'जैन प्रकाश' पत्र के कई अंको में प्रश्न

किये थे। उनके उत्तर वे खुद लिखने की बजाय कोई अन्य सज्जन लिखें तो अच्छा रहे। किसी ने नहीं लिखा उस हालत में मुझे लिखना पड़ा है कि लौंकाशाह ने निम्नलिखित कार्य किये हैं।

(१) भगवान महावीर ने फरमाया कि पाँचवें आरा में २१००० वर्ष तक हमारा शासन अर्थात् "साधु साध्वी श्रावक और श्राविका" अविच्छिन्न रहेगा। तब लौंकाशाह ने केवल २००० वर्षों में ही जैन साधु संस्था का अस्तित्व मिटा दिया और भाणादि को बिना गुरुवेश पहना दिया। लौंकाशाह ने यह प्रथम काम किया।

(२) जैन शासन के आधारस्तंभ स्वरूप जैनागमों को लौंकाशाह ने अस्वीकार कर शासन का उन्मूलन करना चाहा फिर भी पीछे से लौंकों के अनुयायियों ने ३२ सूत्र माने। लौंकाशाह ने यह दूसरा काम किया।

(३) आचार्य भद्रबाहु जैसे चतुर्दश पूर्वधरों ने सूत्रों पर निर्युक्ति वगैरह रचकर जैन सूत्रों को विस्तृत अर्थ वाले बनाए। उन पञ्चाङ्गी को मानने से इन्कार कर दिया। यह लौंकाशाह ने तीसरा काम किया।

(४) जैनधर्म में श्रावकों के करने योग्य नित्य क्रिया सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और दान जैसी क्रियाओं का निषेध कर बिचारे भद्रिक जीवों को आत्मकल्याण करने से बन्द किया। यह लौंकाशाह ने चौथा काम किया।

(५) जैनधर्म में प्राचीन समय से जिनागमप्रमाण सिद्ध, जैन मन्दिर मूर्तियों की मान्यता है और चतुर्विध श्रीसंघ, इस निमित्त कारण से अर्थात् प्रभु पूजा, सेवा, भक्ति कर, स्व पर का कल्याण

करते थे और धर्म पर पूरा इष्ट रखते थे, पर लौंकाशाह ने अज्ञानता के वश हो हिंसा और दया के भेद को सम्यग्‌तया न समझ विचारे भद्रिक जीवों को इष्ट से भ्रष्ट बना मूर्ति पूजा छुड़-वाई। यह लौंकाशाह ने पाँचवां काम किया।

(६) जिसमें देव का गुण या देव की आकृति न हो ऐसे लौकिक देवों को नमस्कार नहीं करने की जैनधर्मोपासकों की दृढ़ प्रतिज्ञा थी, पर लौंकाशाह ने संसार खात बतला के अपने अनुयायियों को छूट दी जिससे वे जहाँ मांस, मदिरा चढ़ता है वहाँ जा कर शिर झुका देते हैं। फिर भी उनको जैन मन्दिर मूर्तियों की सेवा करने में पाप समझाया यह लौंकाशाह ने छट्ठा काम किया।

(७) जैनों में प्रत्येक मास में पर्व है और पर्व के दिन विशेष धर्म कार्य करना बतलाया है। उसको छुड़ा के मिथ्यात्वी पर्व के लिए छूट देदी जिससे आज जैनों में मिथ्यात्वी पर्व का प्रचार प्रचुरता से देखने मे आता है। लौंकाशाह ने यह सातवाँ काम किया।

(८) लौंकाशाह और आपके अनुयायी वर्ग ने सूत्रों का झूठा अर्थ कर जैन मन्दिर मूर्त्तियों की निन्दा के साथ पूर्वाचार्यों का अवगुण-वाद बोलना सिखलाया और विचारे भद्रिक जीवों को दीर्घ संसार के पात्र बनाने का प्रयत्न किया। इतना ही नहीं पर जिनाचार्यों ने राजपूतों को मांस मदरादि का सेवन छुड़वा कर जैन, ओस-वाल, पोरवाल, श्रीमाल आदि महाजन बनाए, पर साथ में उन आचार्यों ने मन्दिर मूर्त्तियों की भी प्रतिष्ठा करवाई। इससे लौंकाशाह ने उन आचार्यों का नाम व उपकार भुला कर अपने

श्रावकों को कृतघ्नी बना दिया । यह लौंकाशाह ने आठवाँ काम किया ।

(९) श्री संघ को शक्ति एवं संगठन रूप वज्र किल्ला को तोड़ कर अर्थात् उसके टुकड़े टुकड़े कर अनेक विभागों में विभक्त कर दिया और उसकी शक्ति का सत्यानाश कर दिया । यह लौंकाशाह ने नौवाँ काम किया ।

(१०) जैनजातियों के जाति सम्बन्धी नियम इतने तो सुदृढ़ और इतने सुन्दर थे कि अन्याय अत्याचार को स्थान तक नहीं मिलता था, परन्तु लौंकाशाह के नये मत से आपस की फूट और कुसम्प के कारण कन्याविक्रय, बालविवाह, वृद्धविवाह वरविक्रय आदि हानिकारक प्रथाएँ भी जैन जातियों में आ घुसी । इतना ही नहीं पर वे तो घर कर बैठ गई । यद्यपि इनको निकालने का बहुत प्रयत्न किया जा रहा है, परन्तु संगठन के अभाव से सब प्रयत्न निष्फल होते हैं । यह लौंकाशाह ने दशवाँ काम किया ।

(११) जैनों मे झूठ बोलना, विश्वासघात करना, किसी को धोखा देना ये महान् पाप समझे जाते थे । । पर लौंकाशाह जैसों ने हठ, कदाग्रह कर असत्य को अपने हृदय में स्थान देकर नया मत चलाया, और उसको पुष्ट करने को आपके अनुयायियों ने खास वीतराग के वचन, पूर्वाचार्यों के ग्रन्थो को झूठ बताने की धृष्टता कर डाली, इसी कारण झूठ बोलने की जो प्रतिज्ञा थी, उस वज्र पाप से लोगो को जो डर था, वह हृदय से निकल गया । आज तो अन्य लोगो से भी इस समाजमें इन बातो की विशेषता दिखाई दे रही है । यह लौंकाशाह ने ग्यारहवाँ काम किया ।

(१२) जैन धर्म में वासी, विद्दल, अनन्तकाय, (आलू-कांदा इत्यादि) तीन दिन के बाद का आचार खाने की सख्त मना, और महान् पाप समझा जाता था, * पर लौंकाशाह तथा स्थानक मार्गियों ने इनका परहेज नहीं रक्खा और सर्वभक्षी बन आप और आपके भक्तों तथा सम्बन्धी पड़ोसियों को पाप के भागी बनाये। यह लौंकाशाह ने बारहवाँ काम किया।

(१३) ऋतुधर्म का जैनों में बड़ा भारी परहेज रखना बतलाया है, परन्तु लौंकाशाह और स्थानकमार्गियों के मत में इसका परहेज नहीं रखने से कई अज्ञ लोग जैन धर्म से घृणा करने लग गए इतना ही नहीं पर तेरह० स्था० आरजियों ऋतुमती होने पर भी शास्त्र को छू लेती हैं, और कई भिक्षार्थ भी भ्रमण

---

* जैन समाज तो प्रारम्भ से ही शासनभंजक लौंकामत को घृणा की दृष्टि से देखता था पर वे लोग विचारा भोले भाले जैनेतर लोगों को भ्रमित कर साधु का वेश पहना देते थे जब लौंकाशाह जैनाचार व्यवहार से अज्ञाता था तो जिन जैनेतरों के जन्म से ही सर्वभक्षी संस्कार थे वे जैनाचार में क्या समझे और कैसे पाल सके इधर सर्वप्रकार की छूट भी थी अतएव वह परम्परागत संस्कार आज पर्यन्त भी इन लोगों में विद्यमान है फिर भी जमाना बदलने से और कुछ ज्ञान का प्रचार होने से जो लोग गन्धे रहने में उत्कृष्टता समझते थे वे अब साफ रहना पसन्द करते हैं ऋतुधर्म नहीं पालते थे वे भी इस प्रवृत्ति को बुरी समझते हैं भक्षाभक्ष का भी कुछ खयाल होने लगा है फिर भी हम चाहते हैं कि शासनदेव उन लोगों को सद्‌बुद्धि प्रधान करे कि वे जैनधर्म का पवित्र आचार पालन करे जिससे विधर्मियों को ऐसा मोका न मिले की वे जैन धर्म पर आक्षेप कर सके

करती है। इसी कारण पापड़, वड़ियों करने वाली श्राविकाएँ अपने घर का द्वार बन्द रखती हैं उनको इस बात का भय रहता है कि कदाचित् ऋतुमती आर्या घर में न घुस जाय ? इत्यादि। यह लौंकाशाह ने तेरहवाँ काम किया।

(१४) जैनधर्म में सूवा सूतक (जन्म मरण वाले) के घर का आहार लेने की सख्त मनाई होने पर भी तेरह० स्था० ऐसे घरों का आहार पानी और जापा के लड्डू तक भी वहर लेते हैं। इससे अजैन लोग जैन धर्म की निन्दा करते हैं। यह लौंकाशाह ने चौदहवाँ काम किया।

(१५) जैनाचार्यों ने अजैनों की शुद्धि कर जैन बनाने की एक ऐसी मशीन कायम की कि जिसके जरिये दो हजार वर्षों में करोड़ों मनुष्यों की शुद्धि कर जैन बना लिये। पर लौंकाशाह के संकुचित विचार, मलीन क्रिया, रूक्ष दया तथा गृह क्लेश के कारण यह मशीन (मिशन) बिलकुल बन्द होगई। यह लौंकाशाह ने पन्द्रहवाँ काम किया।

(१६) लौंकाशाह के अनुयायियों या स्था० की मलीन क्रिया का जनता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। जो लोग जैन साधुओं को बड़े आदर सत्कार की दृष्टि से देखते थे वे ही ढूंढियों को देख कर कहने लगे:—

"लम्बी लकड़ी लम्बी डोर, आया ढूँढिया पक्का चोर।"

अर्थात्—लौं० स्था० ने जैनों का महात्म्य घटा दिया। जैनाचार्यों ने अपने उपदेश रूपी चमत्कारों से राजा महाराजाओं से सम्मान प्राप्त किया था। उस पर भी इन लोगों ने पड़दा डाल दिया। यह लौंकाशाह ने सोलहवाँ काम किया।

(१७) लौंकाशाह ने जैन धर्म की दया के स्वरूप को ठीक नहीं समझ कर हरेक कार्य में पाप-पाप, हिंसा-हिंसा करके श्रावकों के शौर्य पर कुठाराऽऽघात कर उनको डरपोक, कायर, कमजोर बना दिया। जिससे वे दीवानी, फौजदारी इत्यादि अफ्सरी पद से उतर गये और अब अपने तन जन की रक्षा करने में भी असमर्थ बन दूसरों का मुँह ताकने लगे। यह लौंकाशाह ने सत्तरहवाँ काम किया ।

(१८) जैन धर्म में तीर्थ भूमि की पवित्रता और वहाँ के दर्शन, स्पर्शन से आत्म-कल्याण होना बतलाया है। क्योंकि यहाँ असंख्य मुनि मोक्ष प्राप्त करते हुए अन्तिम अध्यवसाय के परमाणु छोड़ गए हैं। वे यात्रार्थ जाने वाले महाऽनुभावों के हृदयों को स्वच्छ, निर्मल और पवित्र बना देते हैं। यह अनुभव सिद्ध बात है। इसी कारण पूर्व जमाना में एक-एक व्यक्ति ने लाखों करोड़ों द्रव्य का व्यय कर संघ निकाल तीर्थ-यात्रा की और आज भी अनेकों लोग कर रहे हैं। इस कार्य में संसार से निवृत्ति, ब्रह्मचर्य का पालन, व्रत, पच्चक्खाण का करना, स्वधर्मियों का समागम, गुरु-सेवा, तीर्थ-दर्शन और द्रव्य का सदुपयोग आदि अनेक लाभ होने पर भी लौंका० स्थान० विना सोचे समझे विचारे भद्रिक लोगों को भ्रम में डाल उनको इस पवित्र कार्य से वंचित रख महान् अन्तराय कर्म बांधा है। यह लौंकाशाह ने अट्ठारहवाँ काम किया।

(१९) जैन धर्म में (सार्धमिक) स्वामि-वात्सल्य प्रभावनादि उदार कार्यों को सब से उच्चासन दिया है। क्योंकि इन पवित्र कार्यों से जीव सुलभ बोधित्व प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु

विना समझे लौं० स्था० इसका विरोध कर शासन का मूलोच्छेदन करने का लौंकाशाह ने उन्नीसवाँ कार्य किया।

(२०) जैन धर्म में समवसरण, वरघोड़ा महोत्सवादि पव्लिक के कार्यों से तीर्थङ्कर गोत्र बन्धना बतलाया है। क्योंकि इन जनरल कार्यों से जैनों के अलावा अजैनों पर भी धर्म का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है जिससे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। प्रायः ऐसे महोत्सव दानोत्त वीरता और मन के हुलास से ही होते हैं। पर अज्ञात लौंका० ने इसका भी निषेध कर कंजूसों की भरती बढ़ाकर अजैन कर्मोपाजन करने का यह बीसवाँ काम किया।

(२१) जिन प्रतिमा और मन्दिरों के प्राचीन शिला लेखोंसे जैन-धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है, परन्तु प्रतिमा का निषेध कर शिलालेखादि प्राचीन साधनों को छोड़ कर जैन धर्म की प्राचीनता पर कुचर्डा फिराना चाहा। लौंकाशाह ने यह जैनधर्म का इतिहास का द्रोह करने का एकीसवाँ काम किया।

इत्यादि—ऐसे २ अनेक कार्य हैं जिनका लौंकाशाह ने विना सोचे समझे विरोध कर जैन धर्म के अन्दर एक उत्पात खड़ा कर दिया।..................

फिर भी प्रसन्नता की बात है कि लौंकाशाह के बाद आपके अनुयायियों में कई लोग संशोधक भी हुए कि जिन्होंने जैनागमों का अवलोकन कर असत्य मार्ग को त्याग सत्य मार्ग को स्वीकार किया जिसमें पूज्य मेघजी, पूज्य श्रीपालजी, पूज्य आनन्दजी आदि सैकड़ों साधुओं का नाम मशहूर है इसी कारण स्वामि लवजी धर्मसिंहजी के अनुयायियों (ढूंढियों) में भी वीर बुटे-

रायजी मूलचन्दजी,वृद्धिचन्दजी,आत्मारामजी,दादा शांतिविजयजी रत्नविजयजी अजीतसागरजी चारित्रविजयजी (कच्छी) पद्म-विजयजी आदि सैकड़ों स्थानकवासी साधु ढूँढिया धर्म का त्याग कर शुद्ध जैनधर्म में (संवेगपक्षीय समुदाय में) दीक्षित हुये। इतना ही नहीं पर इस ग्रन्थ का लेखक और आपके गुरुवर्य एवं आपके कइ शिष्य भी इसी पंथ का पांथिक है अगर लौंका गच्छ और स्थानकमार्गियों से जो साधु निकल कर संवेगी पक्ष में आये हैं जिनों की नामावली लिखी जाय तो एक बृहद् ग्रन्थ बन जाता है पर ४५० वर्षों का इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है कि कोई भी संवेग पक्षीय साधु या यति, ढूँढिया हुआ है यह जैन संवेग पक्षीय समुदाय की सत्यता का उज्वल वादयुक्त उदाहरण है।

अन्त में मैं यह स्पष्ट जाहिर कर देना समुचित समझता हूँ कि "श्रीमान् लौंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश" लिखने में न तो लौंकाशाह प्रति मेरा किंचित् द्वेष है न किसी का दिल दु:खाने की इच्छा ही है पर इस कार्य में श्रीमान् स्वामि सन्तवालजी ने "श्रीमान् धर्मप्राण लौंकाशाह" नाम की लेख-माल लिख मेरी आत्मा में शक्ति प्रेरणा की तदर्थ मैं स्वामि संत-वालजी का विशेष उपकार मानता हुआ इतना ही कहूँगा कि इस किताब के लिखने में जो कारण हैं तो सब से पहिले आप श्रीमान् ही हैं बस इतना कह कर मैं मेरी लेखनी को विश्रांति देता हूँ।

॥ ॐ शान्ति ३ ॥

परिशिष्ट. १

[पण्डित मुनिश्री लावण्यसमयकृत सिद्धान्त चौपाई]

(वि० स० १५४३ कार्तिक शुक्ल अष्टमी)

—: दोहा :—

सकल जिणंदह पय नमुं, हियडई हरिष अपार ।
अक्षर जोई वोलसिउ, साचउ समय विचार ॥ १ ॥
सेविअ सरस्वति सामिणी, पामिउ सुगुरु पसाउ ।
सुणि भवियण वीर जिण, पामिउ शिवपुर ठाउ ॥ २ ॥
सय उगणीस वरिस थयां, पणयालीस प्रसिद्ध ।
त्यारे पच्छी लुंकु हुउ, असमंजस तिणई किद्ध ॥ ३ ॥
लुंका नामिउ मुहंतलु, हुउ एकउ गामि ।
आवि खोटी विदुपरि, भागु करम विरामि ॥ ४ ॥
रलई खपइ खीजई घणु, हाथि न लग्गइ काम ।
तिणि आदरिउ फेरवी, करम लीहानुं ताम ॥ ५ ॥
आगम अरथ अजाणतु, मंडइ अनरथ मूलि ।
जिनवर वाणी अवगणी, आप करिउं जग धूलि ॥ ६ ॥
रुठउ देव किसिउं करइ, वदनि चपेट न देइ ।
किसी कुवुद्धि तिसी दीइ, जिणि वहु काल रुलेइ ॥ ७ ॥

देव अवंतीमइं सुणिउ, तिहा मंडपगढ जोइ।
तिहां वछीआती आविआ, मिल्या लखमसी सोइ ॥ ८ ॥
लुंकइ द्रव्य अपावि करि, लोभइं कीधउ अंध।
लुंकामत लेवा भणि, पारखि ओडिउं खंध ॥ ९ ॥
पारखि हुउ कुपारिखी, जोइ रचिउ कुधर्म।
पारखि किंपि न परिखिउं, रयण रूप जिनधर्म ॥ १० ॥

चुपइ

लुंकइ वात प्रकासी इसि, तेहनुं सीस हुउ लखमसी,
तीणइं बोल उथाप्या घणा, ते सघला जिनशासन तणा. ११
धन धन जिनशासन सिणगार, जिनभाषित सिद्धांत विचार,
जास प्रतापिइं लहीइ मांन, कुमती कोइ न काढइ कांन धन० १२
मति थोडी नइ थोडुं ज्ञान, महीयलि वडूं न माने दांन,
पोसह पडिक्कमणुं पच्चखाण, नवि माने ए इस्या अजाण. ध० १३
जिनपूजा करवा मति टली, अष्टापद बहु तीरथ वली,
नवि माने प्रतिमा प्रासाद, ते कुमती सिउं केहु वाद. ध० १४
कुमति सरिसुं करतां वात, नव निश्चें लागे मिथ्यात,
जिनशासने मंडिउ संताप, ऊवेषिइं अधिकेरुं पाप. ध० १५

---

१ लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्र तथा यति केशवजीके ग्रन्थों से भी यही सिद्ध होता है कि लौंकाशाहने प्रारंभ में जैनागम सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दांन और देवपूजा मानने से इन्कार करदिया था।

जिनमति वली न माने जेअ, आवो उत्तर आपुं तेअ,
चिहुं दिशि चुपट मंडिओ वाद, ऊतारिसु कुमतिनो नाद. १६
धुरि नवि मानउ देवुं दानं, इण वाते लहिसिउ अपमान,
आचारांगमांहि मति आणि, संवत्सरी दान तूं जाणि. १७
पोरसिमांहि जिनवर वीर. वरिसइ सोवन सहसधीर,
एक कोडि अड लख एतलूं, वरसि दिवसि हुइ केतलूं. १८
त्रिणि सइ तिम अट्यासी कोडि, लाख असी तिहां सरिसा जोडि,
छठे अंगे मल्लि जिन वली, इण परि दान दिउं मनि रली.१९
[1]परदेशी राउ सत्रूकार, रायपसेणी मांहि विचार,
चित्र सारथि छे तास प्रधान, चिहुं पर्वी पोसह ऋषिदांन. २०
पुनरपि सुणज्यो भगवइ अंगि, तुंगीया नयरी श्रावक रंगि,
नितु दें दान सुपरि ते तिसी, एक जीभ परि बोलूं किसी. २१
जिम अविरल जलहर जलधार, वहे अवारी तिम अनिवार,
मनवंछित जाचक दिए अन्न, त्रिभुवनि ते श्रावक धन धन्न. २२
कल्पसूत्र सुणतां आणंद, ऋषभ नेमि जय पास जिणंद,
वीर तणी परि संवत्सरी, दीधा मयगल मलपत तुरी. २३
घण कणि मणि मुक्ताफल बहू, आज लगे ते जाणे सहू,
साते क्षेत्रे देवुं दान, भत्तपयन्ना मांहि प्रधान. २४

---

१ दांन का निषेध केवल स्वामि भिखमजीने ही नहि किया परं सबसे पहिला तो लौंकाशाहने ही किया था तब ही तो पं. लावण्यसमय को इतने आगमों के प्रमाण देकर दान को सिद्ध करना पड़ा है ।

रे कुमती ! तुझ मनि संदेह, मइं नव निश्चे प्रीछिओ तेह,
दानिइं तु वाधे संसार, किम पामिजे मोक्ष दूआर ? २५.

जाण जीव कुमतीने नटे, हाहा ए सहू साचुं घटे,
तु कहु जे तीर्थंकर भया, देइ दान शिवपुरि किम गया ? २६

ठालु घडु घणुं जल हलइ, द्रव्यहीण इतर झालफलइं,
पोतइ पहिरणि नहि पोतीउं, वंछइ पट्टकूल धोतीउं. २७.

तिम नवि जाणे आगम मर्म, जाणे खरुं प्रकासउं धर्म,
ए एतली न जाणे वात, दानिइं कर्म तणउ उपघात. २८

दानिइं जु घट पापि भराइ, तु तुम्हे भिक्षा मागु कांइ,
वचन तणो हठ छे अति घणो, परमारथ प्रीछिउ तुम्ह तणो. २९.

छेदग्रंथमाहि संग्रहिउ, कल्पसूत्र सविशेषह कहिउ,
दीवाली दिनि उत्सव सार, लिइ पोसह तव राय अढार. ३०

भगवइ अंगे अमावस तणा, आठमि चऊदिसि पूनिमि घणा,
तुंगीया नयरी श्रावक तेइ, पोसह लेता भाव धरेइ. ३१

नंदि सूत्र जोयो उत्साहि, वलि विशेषावश्यकमांहि,
द्वार अछे अनुयोगह ठाम, चऊविह संघ तणां तिहां नाम. ३२

---

१ जैनयतियो और उपाश्रय के द्वेष के कारण लौंकाशाहने सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमणादि धर्मक्रियाओं से रोष करता हुआ एव विरुद्ध करने के कारण पं. लावण्यसमयजीने सूत्रो के प्रमाण देकर पोसह आदि धर्मक्रियाओ की सिद्धि कर बतलाई हैं ।

तिहां थापना ठणहारी तणी, छ आवश्यक करवा भणी,
उभय काल पडिक्कमणुं सही, बोलिउं छे शुभ ध्यानिइं रही. २३
पांच समिति तव हिअडइ धरे, त्रिणि गुपति मरिसी आदरे,
इम छ आवश्यक उच्चार, करि भविअण मम भूलि गमार. २४
भगवइ अंग अने ठाणांग, तिहां में दीठा अक्षर चंग,
आवश्यकि बोल्या पचखाण, दसे प्रकारे जाणे जाण. २५
कुमति बोले कूडो मर्म, जिनपूजा करतां नहीं धर्म,
पूजा करतां हिंसा हवइ, एहवी बात अनाहत लवइ. २६
श्री आवश्यक अति अभिराम, जिहां चउविसत्थाउं ठाम,
श्रावक पूजाने अधिकारि, ते गाथा तुं हीइ विचारि. २७
पूजा करतां हुइ व्यापार, टले पाप जिम कूप प्रकार,
कूप खणंतां कादव थाइ, कचरे लागे शिर खरडाइ. धन० २८
निर्मल नीरि भरिउ ते जिसिइं, विमल देह त्रस भाजइ तिसिइं,
घणा जीव पामे संतोप, त्रिपा रूप नासे मनि रोप. २९
कूप तणे दृष्टांते कही, द्रव्य पूजा श्रावकने सही,
यति श्रावक मारग नही एक, अंग उपासकमांहि विवेक. ४०

---

१ स्थापनाचार्य और प्रतिक्रमण भी लौंकाशाह नही मानता था तव ही तो पण्डितजी को सूत्रों के प्रमाण देकर इस बात को सिद्ध करनी पडी है। २ लौंकाशाह प्रत्याख्यान भी नही मानता था कि भगवतीसूत्रादि के प्रमाण देने की आवश्यकता हुई है। ३ पूजा के वारा मे तो प्रसिद्ध ही हैं।

वि मारग आवश्यक ठामि, धुरि सुश्रामण(सुविहित)सुश्रावक नामि,
संविग्नपाक्षिक त्रीजा जोइ, मुनिवर पूजा भाव जि होइ. ४१
पंच महाव्रत आदिइं जाणि, दशविध यतिनुं धर्म वखाणि,
भाव द्रव्य पूजा व्रत बार, धुरि समकित श्रावय कुलि सार. ४२
राय प्रदेसी केसी पासि, जिनमत जाणिउं मन उल्लासि,
पुहुतइं आयु दिवंगत भयु, सूरिआभ नामिइं सुर थयुं. ४३
सत्तरभेदि जिन पूजा करि, आविउ वीर पासे सचरी,
चउद सहस मुनिवर मनि धरुं, देव कहुं तु नाटक करुं. धन० ४४
वीर न बोले अनुमति हुइ, तु तिणि परि मंडी जूजूइ,
पहिरियां सुर सरिखा सिणगार, पय घम घम घुघर घमकार. ४५
दुंदुभि गयणंगणि गडगडी, सरमंडल भूंगल दउ दडी,
थप मप घों घों मद्दल साद, आलविउ तिणइं अनुपम नाद.४६
नवल छंदि नवि चुकु ताल, रंज्या इंद्र चंद्र भूपाल,
तव जिन वीर मौन परिहरइ, साते पदे प्रशंसा करइ. ४७
द्रव्य पूजानी जाणे सही, ऋषिने अनुमति देवी कही,
ए अक्षर बोल्या छे किहां, जोयो रायपसेणी जिहां. ४८
कुसुमादिक लेइ मनरंगि, सतरे भेदे छठइ अंगि,
द्रोमइ सयंवर मंडप ठाणि, जिन पूज्या मोटे मंडाणि. ४९
जीवाभिगम मांहि छे तथा, विजयदेव पूजानी कथा,
जिनपूजा ऊथापि जिहां, रे कुमति ते अक्षर किहां ? ५०
तीरथ अष्टापद गिरनार, नंदीसर शत्रुंजय सार,
भगवइ अंगि कह्या छे वली, कइ मुनिवर कइ जिन केवली.५१

ए एकइं वंधा विण सही, असुर प्रतिइं ऊंची गति नही,
तां गति जां सोहम्मु लहइ, तीरथ नहीं तु इम कां कहइ ? ५२
जंघा विद्याचारण होइ, सुरगिरि नंदीश्वर तूं जोइ,
अष्टापदि जइ आवइ इहां, वंदइ चैत्य वली हुइ जिहां. ५३
भगवइ अंगि जिसि वीससइ, ए अक्षर तुमइ उद्दिसइ,
श्री आवश्यकि वली विशेषि, हृदय कमलि तस आणि देखि. ५४
रिषभ तणी वाणी मनि धरी, थापी भरति भली परि करी,
जिणहर जिण प्रतिमा चउवीस, अष्टापदि प्रणमूं निसिदीस. ५५
जीवि घणे इहां सिवपद लिहिउं, सिद्धिखेत्र तिणि कारणि कहिउं,
इक सु थूभ कराव्यां जोइ, जिम भूचलणि न चंपइ कोइ. ५६
एक वोल ए काढिउ मथी, प्रतिमा भराविवी कही नथी,
घडतां लागइ पातक घणुं, पाथरमांहि किसिउं जिनपणुं ? ५७
इस्यां वचन दूरिइ परिहरु, एहनुं उत्तर छइ पाधरुं,
आज लगइ जोउ बहु ठामि, चंपानगरी जीवत सामि. ५८
सोपारइ पट्टणे छइ जेअ, आदिनाथनी प्रतिमा तेअ,
विस्तर कहितां लागइ वार. तिणि कारणि कहुं चोम विच्यार. ५९
राउ उदायने जगि जयवंत, प्रभावती राणीनुं कंत,
वीभइ पाटणि विलसइ राज, लाधुं पोड सरिआं सवि काज. ६०
विज्जुअमालि तणी मोकली, गोसीरष चंदनी भली,
जीवत प्रतिमा वीरह तणी, प्रगटी पेषि नमइ नरधणी. ६१
जेहनइं मनि संदेह लगार, जोज्यो दसमइ अंगि विचार,
वली अपूरव वोलुं वात, चेला मणग तणउ जे तात. ६२

प्रतिमा देषि हुइ प्रतिबुद्ध, तिणि लीधुं चारित्र विशुद्ध,
दशवैकालिकनुं करणहार, सिज्जभव गिरुउ गणधार. ६३

अंग उपासक मांहे देषि, समकितनुं अलावउ पेषि,
नव श्रावक सरिसु आणंद, लिइं समकित दिइ वीर जिणंद. ६४

परतीरथि जिन प्रतिमा ग्रही, आज पछी ते वंदुं नहीं,
इणि अक्षरि जाणइ जिनमती, जिनप्रतिमा सही आगइ हती. ६५

छेदग्रंथ अति रुअडउ होइ, कल्पसूत्र सविशेषु जोइ,
तिहां बहु सुख बोल्यां सोहिला, पणि दसण जण दर्शन दोहिला. ६६

धुरि तीर्थंकर जाणे सही, छेहटइ जिनवर प्रतिमा कही,
आठ वचन जे चिचिलां अछइ, भविअण पूछी लेज्यो पछइ. ६७

ए दशनु परमारथ सुणउ, दीठइं लाभ हुइ अति घणउं,
प्रतिमा पेषी आर्द्रकुमार, क्रमि क्रमि पामिउ मोषं दुआर. ६८

लेपी पुतली देषी भीति, रागवसइ रागीनइ चीति,
जिम जिनप्रतिमा पय मन वसइ, तिम समकित अधिकुं उल्लसइ. ६९

छेदसूत्र अक्षर अभिनवा, जिनप्रासाद करावइ नवा,
ते सुरलोक जिहां बारमुं, हुइ सुरपति कइ सुरपति समु. ७०

मूल सूत्र आवश्यक सार, अंग उपासकमांहि विचार,
ठामि ठामि अक्षर छइ घणा, जिनप्रासाद करावा तणा. ७१

छइ गणिविज्ज पयन्नूं जिहां, जिनपूजानां महुरत तिहां,
आगइ इम बोल्या जिनराज, ते कुमती नवि मानइ आज. ७२

जंबूदीवपनंत्ति जाणि, देविंदत्थु पयन्न वषाणि,
त्रीजइ अंगि वली अवलोइ, जीवाभिगम भली परि जोइ. ७३

---

१ ख के स्थान ष का प्रयोग किया है।

देवलोकि चारे सुविचारि, पर्वत कूट तणइ अधिकारि,
शाश्वत जिनसंप्या सुणि जाण, बोल्या जिनप्रासाद प्रमाण. ७४
मोटा काज प्रतिष्ठा तणा, तीरथ जिनयात्रादिक घणां,
डाहु मुनि जु तेडिउ जाइ, घणउ लाभ लाभइ तिणि ठाइ. ७५
यात्रा तणी घणी छइ साषि, नवि कीजइ ते अक्षर दाषि,
रथयात्रा राउ संप्रति तणी, बीजी अवर हुई अति घणी. ७६
मुनि नइं चैत्य भगति एवडी, बोली छइ सुणज्यो जेवडी,
गामि नगरि पहुतु किणि ठाय, दीठुं चैत्य न वउली जाय. ७७
पइठउ जिनप्रासाद मझारि, देषइ आशातना अपारि,
भमरी मंदिर झाझां जाल, पडकालिआ तणां चउसाल. ७८
ते ऊवेषी जाइ कि वारि, प्रायश्चित गुरु लागइ च्यारि,
जउ फेडइ तु लहुआं जाणि, चैत्य भगति करतां सी काणि? ७९
जिनतीरथ रथयात्रा कही, चैत्य भगति मुनिवर नइं सही,
छेदग्रंथि ए अक्षर इस्या, ते मझ हिअडइ गाढा वस्या. ८०
रिषिनइं पूजानुं उपदेश, देतां दोष नहीं लवलेस,
भद्रबाहु जे श्रुतकेवली, तिणि आवश्यकि बोलिउं वली. ८१
वयरसामि परि कीधी किसी, जोज्यो हृदय विमासी तिसी,
नगरी माहेश्वरी मझारि, संघ भणइ सहि गुरु अवधारि. ८२
आविउ पर्व पजूसण आज, बौद्धमती राजानुं राज,
तिणि राषी मालिनी कोडि, श्वेतांबर नइं लागइ खोडि. ८३
जाणी फूल न मूकिउं एक, वइरसामि मनि धरइ विवेक,
गया पदमद्रहि हरिष्या हीइ, लक्ष्मीदेवि कमल करि दीइं. ८४

पंथि हुताशन वन अभिराम, आपइ यक्ष कुसुम बहु ताम,
कुसुम कमल आप्यां संघनइ, जिणहरि जिण पूज्या इक मनइ. ८५
स्नात्र महोत्सव केरा अंग, करतां हिअडइ धरिज्यो रंग,
जिनवर जनम समय जव होइ, अच्युत इंद्र तणी परि जोइ. ८६
मेरु शिखरि जिन लेइ जाइ, चउसठि इंद्र मिलइ तिणि ठाइ,
आणइ कमल सहस पांखडी, जोतां सुख पामइ आंखडी. ८७
भरिआ कलसला निर्मल नीर, न्हवीउं जिनवर साहस धीर,
जंवूदीवपनंत्ती जिहां, ए आलावउ विगतिइं तिहां. ८८
हुआ जे तीर्थंकर हुसिइ, जनम समयपरि एहजि तिसिइ,
इणि उठइ जिनवरनां स्नात्र, करिज्यो जिम निर्मल हुइ गात्र. ८९
जिहां जिन बोलइ तिहां सिउ वाद, धुरि उत्सर्ग अनइं अपवाद,
एकजि जीवदया यति तणइ, ए उत्सर्ग सहूको भणइ. ९०
द्रव्य क्षेत्र नइ काल जि भाव, ते ऊपरि तुम्हे धरिज्यो भाव,
जे पद छइ अपवादह तनुं, लाभ छेहानुं कारण घणुं. ९१
ऋषिनइं विराधना जल तणी, तिम बीजी वरजी छइ घणी,
कल्पसूत्रमइं मन उल्लासि, सुणिउ सुललित सहिगुरु पासि. ९२
वीरतणु तिहि वचनविलास, सुणी एकइं ऊणा पंचास,
आलावा बोल्या जिनराज, रिषिनइं सामाचारी काज. ९३
तिहिं विहरिवा तणइ अधिकारि, ते अलावउ हीइ विचारि,
कही कूणाला नामइं किसी, इंद्र तणइ नहीं नगरी इसी. ९४
ऐरावती नदी तसु तीरि, गाऊ अढइ वहइ नितु निरि,
इसीउ पहट उल्लंघी वेगि, आगइ मुनि जाता संवेगि. ९५

एक पयजलि भीतरि थलि एक, इणिपरि जइ आवता अनेक,
दोष रहित भिक्षानइं काजि, न गणि विराधना रिषि राजि. ९६
इम अपवाद तणा पद जोइ, निश्चइं भंगि भलां फल होइ,
केवलि वात प्रकासइ इसी, ते मानता विमासण किसी ? ९७
त्रिणि उकाला वलि आ पयइ, फासु नीर कहइ ते झपइ,
चाउल धोअणनूं जल जेउ, धि घड़ी पूंठि फासि तेउ. ९८
ग्लान महारिषि सहि गुरु तणी, उपधि विधिइं सिउं धोवी भणी,
ए त्रिणिइं तिहि वोली ऊक्ति, जोज्यो पिंडतणी निर्युक्ति. ९९
यतिनइं रोगि चिकित्सा कही, चउमासी पडिकमणुं सही,
सूतिकर्म तीर्थंकर तणा, अठाइ दिनि उत्सव घणा. १००
थानक वीस कह्यां छइ सही, जेह विण तीर्थंकर पद नहीं,
छठ अनइं अठम तप जेउं, वली विशेषत जाणे तेउ. १०१
शत्रुंजय तीरथ गिरनार, सिद्धखेत्र थापना विचार,
छठइ अंगि अनइ आठमइ, ए छ बोल कह्या मझ गमइ. १०२
गहिला गामठ मूढ गमार, पभणइ श्री सिद्धांत विचार,
योग अनइ उपधान विहीन, जाते दिनि ते थासिइ दीन. १०३
भाव हुइ जु दीक्षा तणउ, छ जीवणी लगइ तु भणउ,
योग वह्या विण आघउ सही, श्री सिद्धांत भणाइ नहीं. १०४
सीकी पडिलेहण अति खरी, लेवा काल अवधि परिहरी,
त्रिहुत्तिरि बोल भला मनि वसइ, तु समकित सूधूं उल्लसइ. १०५
जसु घरि झाझां माणस जिमइ, ते उद्देशिक म कहु किमइ ?
हरिकेसी रिषि लिइ आहार, नवि लागइ तसु दोष लगार. १०६

हरिकेसी नामिइं मातंग, पामी दोष हूउ मुनि चंग,
इक दिनि विहरंतु संचरइ, यक्ष तणइ देउलि ऊतरइ. १०७
तिहि आसनूं नयर सुविशाल, कौसल नामि भलु भूपाल,
तसु बेटी छइ भद्रा नामि, यक्ष प्रतिइं नितु जाइ प्रणामि. १०८
तिणि दिणि यक्षभवनि गइ जाम, रिषि रहीउ तु काउसगि ताम,
पेखी दूबल मल आधार, कुंअरी कीधउ थूथूकार. १०९
कुपिउ यक्ष तव कुंअरि छली, धूजंती धर मंडलि ढली,
मात तात मिलिउं परिवार, नवि लागइ ऊषध उपचार. ११०
भूत प्रेत वरि व्यंतर कोइ, भणइ भूप कुण वलगु होइ,
प्रगट थइ ते कारण कहुं, जिम मनवंछित विमणां लहु. १११
जिम घृत वैश्वानरि धडहडिउ, भणइ यक्ष तिम कोपिइं चडिउ,
सुणज्यो बोल अम्हारुं कहिउ, अम्ह देउलि रिषि आवी रहिउ. ११२
क्षमावंत ते महामुनि तणी, कीधी कुंवरि अवन्या घणी,
हासइं बोल्या बोल कुबोल, मुनि मूंकिउ अवगणी निटोल. ११३
नहीं साखुं एहनुं अन्याउ, सिउं करिसिइ रीसाविउ राय,
तु मूंकुं जु रिषिनइं वरइ, नहीं तरी कुंअरी निश्चइं मरइ. ११४
इसिउं वचन राजा संभलइ, कुंअरी दूखि घणुं टलवलइ,
वेदन टालि भणइ नरनाह, करिसिउं रिषिसरि सुवीवाह. ११५
ततखिणि आणिउ सवि समुदाय, कुंअरी चेत वलिउ तिणि ठाय,
यक्ष महारिषि सिरि अवतरी, तिणि वेलां ते कुंअरि वरी. ११६
रिषि प्रभाती चालिउं सज थइ, कुंअरी पिता तणइ घरि गइ,
भूपति भणइ अम्हारइ राजि, रिषि रमणी नवी आवइ काजि. ११७

यज्ञ जाण ब्राह्मण छइ जिहां, रिषि रमणी ते आपी तिहां,
केवे दिनि अंतरि लही लाग, ब्राह्मण मंडइ मोटउ याग. ११८
ब्राह्मण वर्ग्ग मिलिउ तिहि बहू, हुइ किंपि ते सुणज्यो सहु,
राजकुंअरि परणीती जेणि, ते रिषि आविउ भिक्षा लेणि. ११९
सिरि मइलु पणि मति ऊजली, हाथिइं दंड कंधि कांवली,
यज्ञ पाटि जइ ऊभउ रहइ, धर्मलाभ हरिकेसी कहइ. १२०
तव वइठा बंभण खलभलइ, के त्रासइ के अलगा टलइ,
के ऊतावलि ऊंचा चडइ, ए वरतीउ रखे आभडइ. १२१
यागमांहि जे बंभण वडा, ते बोलइ रहिआ इक तडा,
धांन अम्हारइ अछइ अबोट, जां नहीं तरि कइ पामिसि चोट. १२२
ऊठ्या लुंटउकेवि अतिचंड, मेल्हइ साट सरीसा दंड,
के हासइं तरुणा छोकरा, लहकई सेउ लांखइ कांकरा. १२३
राजकुंअरि ते रिषि ओलखइ, चिंतइ लोक किसिउं ए झखइ,
हासइं छाजइ जेहसिउं लाड, ए रिषि हसतां भांजइ हाड. १२४
कुंअरी बोलइ सहुको सुणउ, ए मुनिवरनु महिमा घणउ,
जइ ए रिझिनइ ऊवेखिसिउ, तु फिरतां देउल देखिसिउ. १२५
एहनूं हासूं अम्हनइं फलिउं, राजरिद्धि सुख सगलुं टलिउं,
जिम जिम कुंअरि निवारइ फिरइ, तिम उपसर्ग घणेरा करइ. १२६
रिषिनइं वेदन जाणी घणी, आविउ यक्ष सखायत भणी,
इसिउं पेखि कोपिइं धमधमइ, पडीआ विप्र मुखि लोही वमइ. १२७
कुंअरि भणई हिव किम ऊठिसिउ, संकष्ट दोहिला छूटिसिउ,
ए ऊखाणूं साचउ होइ, विण भाट मानइ कोइ कोइ. १२८

तुम्हे मंडिउ गिरि नखि भेदिवा, तरु मंडिउ मूलिइं छेदिवा,
तुम्हनइं रीस करुं हिव किसी, सवि कुबुद्धि तुम्ह हिअडइ वसी. १२९
तुमि जणिउं इणि सिउ थाइसिइ, ए कूटिउ वाइं जाइसिइ,
एहना चरण शरण हिव लीउ, ए पाधरसी नहीं वरतीउ. १३०
तव बंभण बोलइ करजोडि, देव दया करि अम्हनइं छोडि,
छोरु होइ कुछोरु कदा, मायबापि सांसहिवुं सदा. १३१
ए उत्तमना घरनी रीति, कुवचन किसिउ न चुहटइ चीति,
गुण मणि रयणायर छउ तुम्हे, एक वरांसु लहिणउ अम्हे. १३२
विनय वचनि मनि रंजिउ यक्ष, तव मूक्यां माणसना लक्ष,
गयुं यक्ष जइ बइठउ ठामि, उठ्या विप्र सवे सिरनामि. १३३
भणइ विप्र हो रिषि धन धन्न, कृपा करु लिउ खपतूं अन्न,
यज्ञ भणी झाझा परहूणा, अम्ह मंदिरि आव्या छइ घणा. १३४
मासखमण केरइ पारणइ, गया विप्रनइं घर बारणइ,
सरस गविल विहरावइ पाक, कूर दालि घृत झाझां शाक. १३५
विहरइ मुनिवर खपती खीर, घोल घणुं नइं फासू नीर,
भाव सहित इम भिक्षा देइ, वंदइ बंभण भाव धरेइ. १३६
दान पुण्य महिमा विस्तरइ, कुसुमवृष्टि तिहि सुरवर करइ,
ततखिणि विप्र तणइ अंगणइ, सोवनवृष्टि हुइ सहू भणइ. १३७
वार करी मुनि बहठउ जिसिइ, ब्राम्हण वंदणि आव्या तिसिइ,
धर्म तणइ उपदेसिइं करी, प्रतिबोध्या बंभण कुंअरी. १३८
हरिकेसी रिषि विहरिउं इम, ऊद्देसिक नवि लागु तिम,
श्री उत्तराध्ययन छइ सार, ए सघलु तिहि करिहिउ विचार. १३९

चोर सामि अतिशय परवरिया, ते नावइ बइसी उतरिया,
मारगि गंगा नदी प्रवाहि, ए अक्षर आवश्यकमांहि. १४०
श्री इन्नकापूत्र सूरिंद, बइठा वेडी मनि आणंद,
लोक तणउ मिलीउ बहू वर्ग्ग, वयरी देव करइ उपसर्ग्ग. १४१
जिहां बइसइ सहि गुरुराय, तिहां तिहां वेडी नीची जाइ,
गंगा नदी महाजलि भरी, लोके गुरु नांख्या करि धरी. १४२
तिणि अवसरि ते सुर प्रतिकूल, पडतां हेठलि धरइ त्रिशूल,
सिर वींधाणइ शोणित झिरइ, सहिगुरु हीइ विमासण करइ. १४३
मझ सिरि लोही खारुं हुसिइ, जलना जीव मरण पामिसिइ,
सवि कहइ ऊपरि समता धरइ, शुभ ध्यानि केवल सिरि वरइ. १४४
बइठा वेडी इस्या सुमेध, किम थाइ तेहनुं निपेध ?
जमली साखि समवनी देखि, संथारग सुयन्नूं पेखि. १४५
श्रीमुखि अरथ कहइ अरिहंत, रचइ सूत्र गणधर गुणवंत,
प्रतेकबुद्ध नइं श्रुतकेवली, दस पूरवधर बोल्या वली. १४६
एहनु भाखिउ आगम होइ, जिनशासनि जयवंतु सोइ,
तासु पक्ष मइं अंगी कीध, रे कुमती तुम्ह उत्तर दीध. १४७
जे पूछ्नुं हुइ ते कहु, कांइ म अणबोल्या थइ रहु,
सुगुरु पसाइं त्रिभुवनि सार, जाणुं आगम अरथ विचार. १४८
तेज पुंज जां सोहइ भाण, तां खजुआनूं किसिउ पराण ?
जां हुइ चिंतामणिनु व्याप, तां काकरनुं किसिउ प्रतापाधन. १४९
जां सुरगिरि तां सरिसव किसिउ? मृगपति आगलि जंबुक जिसिउ,
तिम आगमि जु एहवूं कहिउं, तु बोलवूं तु म्हारुं रहिउं. १५०

जिनवरि भाषिउ जिनमत जाणि, लुंकट मत फोकट म वषाणि,
जिनमत ए मत अंतर घणउ, सावधान थइ सहु को सुणउ. १५१

दुहा.

मदि झिरतु मयगल किहां, किहां आरडतूं ऊंट ?
पुन्यवंत मानव किहां, किहां अधमाधम खूंट ? १५२
राजहंस वायस किहां, भूपति किहां दास ?
सपत्त भूमि मंदिर किहां, किहां उडवलेवास ? १५३
मधुरा मोदक किहां लवण, किहां सोनूं किहां लोह ?
किहां सुरतरु किहां कयरडु, किहां उपशम किहां कोह ? १५४
किहां टंकाउलि हार वर, किहां कणयरनी माल ?
शीतल विमल कमल किहां, किहां दावानल झाल ? १५५
भोगी भिक्षाचर किहां, किहां लहिवूं किहां हाणि ?
जिनमत लुंकट मत प्रतिइ, एवड अंतर जाणि. १५६
आविइ इणि दूसम समइ, जिन मत मानइं आज,
ते नर पुरुषोत्तम हुसिइ, लहिसिइ शिवपुर राज. १५७

अथ चुपइ.

लुंकट मतनु किसिउ विचार, जे पुण न करइ शौचाचार,
शौच विहुणउ श्री सिद्धांत, पढतां गुणतां दोष अनंत।धन० १५८
फणगर देखी उंदिर डरइ, निसासा उचका जिम करइ,
राति दिवस एहनइं परि एह, परनिंदा नवि लाभइ छेह. १५९
पातक भय देखाडइ घणउ, वहु आरंभ करइ घर तणु,
कूड कपट मायाना घणी, जाते दिनि थासिउ रेवणी. १६०

गुरु नवि भाजु ए अति भलूं, तु तुम्हि किम जाणिउं एतलूं ?
शास्त्र पढ़ावी कीधी मया, तेहजि गुरुनइं साम्हा थया. १६१
जे लुंकट मति गाढा ग्रहिया, ते केता भिक्षाचर थया ?
नवा वेष तसु नवली रीति, नवि बइसइ भविअणनइं चींति. १६२
इच्छां हींडइ इच्छां जिमइ, नरभव लाधउ मुहिआ गमइ,
मुह मचकोडइ मंडइ वात, अलविइं बोलइ रिषिनी घात. १६३
श्री सिद्धांत रचिउ चउपइ, बालाबोध तणी परि जूइ,
विण व्याकरणिइं गाढा रलइ, सूत्र अरथ सूधां नवि मिलइ. १६४
जे जिनवचन ऊथापइ किम, ते नव निश्चइं निन्हव सीम,
निन्हव संगति जे नर करइ, पापइं पिंड सदा ते भरइ. १६५
मातापिता सहोदर कोई, जइ ए मतनइ मिलीउ होइ,
रे भविअण मझ वारिउं करे, तसु संगति दूरिइं परिहरे. १६६
कुमति केरा सुणीइ बोल, तु जाइ जिन धर्म निटोल,
ते सोनानइं केहूं मांन, जीणइं सोनइ त्रूटइ कांन. १६७
कहु केथउ कीजइ ते पूत्र, जीणइ भाजइ घरनूं सूत्र,
लुंकट मतनूं किंसिउं प्रमाण, जिहां लोपाइ जिनवर आण. १६८
जे मइं थापिउं सभा मझारि, ते पुण आगमनइं आधारि,
आगम सूत्र कह्यां छइं सार, ते सवि हुं धुरि अंग अग्यार. १६९
बार उपांग पयन्ना दसइ, छेद ग्रंथ छ मझ मनि वसइं,
मूलसूत्र बोल्या छइ च्यार, नंदिसूत्र अनुयोगद्वार. १७०

ए अकेकां अति सुविशाल, आगम सूत्र कह्यां पणयाल,
तिहां भाषिउं तिम्म चित्ति सुहाइ, तु ए बोल न मानुं कांइ. १७१
सुणज्यो भविअण केरी कोडि, लुंकट मतनइं लागी खोडि,
मंडिउ वाद थया ता धीर, पण त्रिभुवनि ऊतरिउं नीर. १७२
साचउ धर्म तिहां जय होइ, एह वात जाणइ सहू कोइ,
हारिउं लुंके गयुं सकार, जिनशासनि वरतइ जयकार. १७३
क्रोध नथी पोषिउ मइं रती, वात कही छइ सघळी छती,
बोलिउ श्री सिद्धांत विचार, तिहां निंदानु सिउ अधिकार? १७४
जीव सवे मझ बंधव समा, पडिइ वरांसइ धरिज्यो क्षमा,
जे जिम जाणइ ते तिम करुं, पणि जिनधर्म खरुं आदरु. १७५
अम्ह गुरु श्री सोमसुंदर सूरि, जासु पसाइ दुरिआं दूरि,
तपगछनायक सुगुण निधांन, लक्ष्मीसागर सूरि प्रधान. १७६
श्री सोमजय सूरिंद सुजाण, जसु महिमा जगि मेरु समाण,
अहनिस हरपइ प्रणमुं पाय, सुमतिसाधु सूरि तपगछराय. १७७
गुणमंडित पंडित जयवंत, समयरत्न गिरुआ गुणवंत,
तसु पयकमलि भमर जिम रमूं, इणिपरि भगतिइं दिन नीगमूं. १७८
जसु महिअलि रुअडउ जसवाउ, ते सहि गुरुनु लही पसाउ,
ए चउपइ रची अभिराम, लुंकट वदन चपेटा नाम. १७९
संवच्छर दहपंच विशाल, त्रिताला वरषे चउसाल,
काती शुदि आठमि शुभवार, रची चउपइ बहुत विचार. १८०

नरनारी एकमनां थइ, भणइ गुणइ जे ए चउपइ,
मुनि लावण्यसमय इम कहइ, ते मनवंछित लीला लहइ. १८१

इति श्री सिद्धांतचतुःष्पदी ॥ लुंकटवदनचपेटाभिधाना ॥
लिखिता परोपकाराय ॥ शुभं भवतु । लेखकपाठकयोः ॥ श्री ॥*

---

१ श्रीमान् पं. मुनिश्री लावण्यसमयकी दीक्षा वि० स० १५१५ में हुइ थी अतएव आपश्री लौंकाशाह के समसामायिक थे इस लिये आपका ग्रंथ में लौंकाशाह की मान्यता का खण्डन किया है वह यथार्थ ही हैं क्यों कि आवेशमें आया हुआ लौंकाशाह जैनागम जैनश्रमण, सामायिक, पोसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देवपूजा का उस समय निषेध करताथा इस लिये ही आपने इतना विस्तारसे उसी समय यह शास्त्र प्रमाणोंद्वारा चौपाई बनाइ थी।

* इस चौपाई की प्राचीन प्रति पाटण का ज्ञान भंडार मे विद्यमान हैं। श्रीमान् मोहनलाल दलीचंद देसाईने इसे प्राप्त कर वि. सं. १९८६ का जैनयुग मासिक पत्र का अंक ९-१० का पृष्ठ ३४० पर छपवाई थी उस परसे हिन्दी टाइपो में उसी रूप में यहां छपाइ गई है।

उपाध्यायश्री कमलसंयमकृत सिद्धान्त सारोद्धार

[चौपाइ]

[खरतरगच्छीय जिनहर्षसूरि के शिष्य उ० कमलसयमने]
वि० स० १५४४ में उत्तराध्ययन सूत्रपर टीका रची है

[ऐं० ॐ अर्ह्चैत्येभ्यो नमः]

वीर जिणेसर पणमिय पाय, समरिय गोयम गणहर राय,
कुमत निवारण कहउं संखेवि, एकमना थइनइ सुणउ हेवि ।१।
संवत् पनर अठोतरउ जाणि, लुंकु लेहउ मूलि निखाणी,
साधु निंदा अहनिसि करई, धर्म्म धडावंध ढीलउ धरई ॥२॥
तेहनई शिष्य मिलिइ लषमसी, तेहनी बुद्धि हीआथी खिसी,
टालइ जिनप्रतिमानइ मान, दया दया करि टालई दान ॥३॥
टालइ विनय विवेक विचार, टालई सामायिक उच्चार,
पडिकमणानउं टालई नाम, भामई पडिया घणा तिणि गाम ॥४॥
संवत् पनरनु त्रीसइ कालि, प्रगट्या वेषधार समकालि,
दया दया पोकारइ धर्म्म, प्रतिमा निंदी बांधइ कर्म्म ॥ ५ ॥
एहवई हूउ पीरोजजिखान, तेहनइ पातसाह दिइ मान,
पाडइ देहरा नइ पोसाल, जिनमत पीडइ दुखमा काल ॥ ६ ॥
लुंकानइ ते मिलिउ संयोग, तात्र माहि जिम सीसक रोग,
डगमगि पडीउ सघलउ लोक, पोसालइ आवइ पणि फोक ।७।
जोउ हीआ संघातिइं काई, बूडउ लोको कुमती थाई,
एक अक्षर ऊथापई जेउ, छेह न आवइ दुखनई तेउ ॥ ८ ॥

हिंसा धर्म्म दयाइ धर्म्म, कुमती पूछइ न लहइ मर्म्म,
श्रावक सहूई पाणी गलइ, धर्म्म भणी किम हिंसा टलइ? ॥ ९ ॥
नदी ऊतरवी जिणवरि कही, कहउ तुम्हि हिंसा तिहा किम नही,
करिइ कराविइ सरीखउं पाप, बोलई वीतराग जगबाप ॥ १०
घोडे हाथी बइठा जाई, जिणवर वंदणि धसमस थाई,
कहउ तेहनई किम न हुइ धर्म्म, कांई ऊथापी बांधउ कर्म्म॥११॥
एवं कारइ कउं केतलउं, ताणउ भाइउ तुम्हि एतलउं,
जिनशासननउ एहजि मर्म्म, वीतरागनी आज्ञा धर्म्म ॥१२॥
एणि उपदेसि दूहवाइ जेउ, पाग लागी खमावउं तेउ,
जीव सविहुस्यू मैत्रीकार, जिनशासननउं एहजि सार ॥ १३

—इति चउपइ समाप्त (छ) *

* इसकी पुराणी प्रति पाटण ज्ञानभंडार में तथा श्रीमान् फूलचंदजी श्रावक फलोदी वालो के पास है। ईन चौपाइ के अलावा लौंकाशाह का पूर्वोक्त उत्सूत्र प्रवृतिका खण्डन के लिये बहुत आगमों के पाठ भी दिये हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि लौंकाशाह सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, देवपूजा, साधु और शास्त्रों को नही मानता था।

मुनि वीकाकृत असूत्रनिराकरण बत्रीशी.

वीर जिणेसर मुगति हिं गया, सइं ओगणीस वरस जव थयां,
पणयालीस अधिक माजनइं, प्रागवाट पहिलइं साजनइं. १

लूंका लीहानी उत्पत्ति, शिष्या बोल दस वीसनी छित्ति,
मति आपणी करिउ विचार, मूलि कषाय वधारण हार. २

तस अनुवइं हऊओ लखमसीह, जिणवर तणी तीणं लोपी लीह,
चउप्पदी कीधउ सिद्धांत, करिउ सतां संसार अनंत. ३

विण व्याकरणि हिं बालावोध, सूत्र वात वे अरथ विविध),
करी चउपडाजण जण दया, लोक तणा तीणं भाव जि गया. ४

घर खूणइं ते करइं वखांण, छांडइं पडिकमणुं पच्चखाण,
छांडी पूजा छांडिउं दान, जिन पडिमा कीधउं अपमान. ५

पांचमी आठमी पाखी नथी, मा छांडीनइं माही इच्छी,
विनय विवेक तिजिउ आचार, चारित्रीयां नइं कहइं(.)खाधार.

मुग्ध स्वाभावी जे गुणवंत, ते भोलवीया एणं अनंत,
नालक नालकि त्रस बहू कहइं, तीणं वात भवियण लहिवइं. ७

स्वामी तो नवि बोलइं इम, आपण पूजा कीजइं कीम.१
अचित प्रदेशि सचित किम चडइं, इणं वोलिइं सहू संशय पडइं. ८

ज्ञाताधर्म्म कथा जे अंग, तेहनुं एहे कीधउ भंग,
दोवइं सइंवर मंडप ठाणि, जिन पूज्या जिणहर संठाणि. ९

उपपातिकनइं राजप्रश्नेणि, जीवाभिगम सुत्त मज्झेणि,
अष्टपगारी पूजा खरी, सूरियाभ देविइ तिहां करी. १०
श्री आवश्यकि बोलिउं सही, नाम ठवण द्रव्य भाव जि कही,
चिहु भेदे बोल्या जिनराज, कुत्सित मती न मानइं आज. ११
अष्टापद कुणि दीठउ कहइं, नंदीसर वर नवि सांसहइं,
मेरु चूलां जे जिनि प्रासाद, ते उथापइं करइं कुवाद. १२
भुवनाधिप व्यंतर माहि जेउ, देवलोकिं जोतिष बिहु लेउ,
जिणहर पडिमा सासइ वहू, ते मतवाले लोपिउं सहु. १३
समवसरण जे समइ प्रसिद्ध, तेह तणउ ए करइं नपिद्ध,
पूजा द्रव्य भाव बिहुं तणा, ठामि ठामि अक्षर छइ घणा. १४
एक वचन तीर्थंकर तणुं, जम्मालिइं उथापिउं घणुं,
तीणुं कीधइं वहू काल जि रलिउ, एहू मत तेह नइं जइ मिलिउ १५
अर्थ प्ररूपइं श्री अरिहंत, सूत्र रचइं गणधर गुणवंत,
चऊद अनइं दश पूरवधार, सूत्र रचइं विन्हइ सुविचार. १६
प्रत्येकवुद्ध विरचइं ते सही, एह वात जिन आगमि कही,
सूत्र न मानइं ते कुहु किस्या, आराधकनइं मनि किम त्रस्या ? १७
बि मारग श्री जिनवरि कहिया, भव्य जीव तेहे ते ग्रहिया,
धुरि सुश्रमण सुश्रावक पछइ, संविग पाखिक त्रीजा अछइं. १८
महाव्रत अणुव्रत छांडी बेउ, तीहं टलतु तप बोलइं जेउ,
बेडी छतां सिलां ते चडइं, भवसागरि ते निश्चिइं पडइं. १९

सुंदर बुद्धि विमासइं घणुं, रूडउं विचारिउं तु हुइ आपणुं,
जिनवाणी जे बहू अवगणइं, तेहनइं पात्र मूरख वली भणइं. २०
षडावश्यक जे जिनवरि भण्या, एहेते सघळां अवगण्यां,
अणुव्रत सामाइक उच्चार, पोषंध प्रतिमा नहीं विवहार. २१
थापइं जीव दयामइ धर्म्म, सूक्षम बादर न लहइं मर्म्म,
सन्नि असन्नी जे आतमा, एकेंद्री पंचेंद्री किम होवे समा. २२
भव्य अभव्य जे हवइ, वीतराग दलवा डंसवइ,
खांडइ पीसइं छेदइं सदा, प्राशुक विधि नवि मानइं कदा. २३
पूजा टालइं हिंसा भणी, सवरि भीते हुं घणी,
सर्वादरि मांडइं व्यवसाय, धन मेलइं बहू करी उपाय. २४
खत्र अखत्र थकी नवि वमइ, मन गमतू भोजन नित जिमइ,
ते मनि मानेइ तेहजि सही, धर्म्मध्यानथी वात जि रही. २५
नीसा साड चका दिइं घणा, परनिंदानी नही कांइ मणा,
राग दोस बे महुवडि करिया, क्रोधादि किम दिछइं परिवरिया. २६
टींटहुडी ऊंचउ पग करइ, आभ पडंतां ठाढण धरइ,
तिम जाणइं अम्हे तारक अछुं, पात्रपणुं सघलइ अम्ह पछुं. २७
नवा वेष नवला आचार, भणइं गुणइं विण शौचाचार,
ज्ञान विराधइं मूरखपणइं, जाण शिरोमणि तेहनइं भणइं. २८
लाभ छेहा नवि जाणइं भेउ, उत्सर्ग अपवाद न मानइं वेउ,
निश्चय नइं व्यवहार जि किसिउ, स्वामी बोल न बो...उ. २९

द्रव्य क्षेत्रनइ काल जि भाव, तेह ऊपरि छइ खरउ अभाव,
मूलोत्तर गुण जे छइं घणा, ते लोप्या जिनशासन तणा. ३०
निण्हवि आगइ बोल्या बोल, आ तो सिवहुं माहि निटोल,
निन्हव संगति जे नर करइं, काल अनंत संसारि जि फिरइं. ३१
इम जाणी संगति मत करउ, आपणपूं आपिहिं सम धरउ,
ए बत्रीसी लूंका तणी, साधु शिरोमणि वीकइं भणी. ३२

—इति असूत्र निराकरण बत्रीशी* समाप्ता. छ.

श्री. पत्र १ पं. १९ गोकुळभाई नानजीनो संग्रह राजकोट में यह प्रति विद्यमान है।

—इसकी नकल जैन युग मासिक सं. १९८९ अंक १–२–३ पृष्ट ९९ में श्री मो० द० देसाइद्वारा मुद्रित हो चूकी हैं।

---

* मुनि वीका ने इस बत्तीसी में अपना समय नहीं लिखा हैं पर आपकी अन्य कृतियों (देववन्दन स्तव) में वि. सं. १५२७ का उल्लेख किया हैं अतएव इस समय के आसपाश यह बत्तीसी बनाई होगा और उससमय लौंकाशाह जैनागम जैनश्रमण सामायिक पौसह प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान दान और देवपूजा नहीं मानता होगा उनके प्रतिकार में आपने यह बत्तीसी बनाइ होगा।

परिशिष्ट नं. २

लौंकागच्छीय विद्वानों का लिखा हुआ लौंकाशाह का जीवन

लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्रकृत

दयाधर्म चौपाई*

वीर जिणेसर पणमि पाय, सुगुरु तणु लह्यो सुपसाय ।
भस्मग्रहनो रोष अपार, जइन धरम पड़ियो अन्धकार ॥१॥

दुय सहस वरसि अंतरे इस्युं, जि जि वरत्यूं कहिइ किस्युं ।
दया धरमनी थइ झांकी ज्योत, सालुंकइ किधउ उद्योत ॥२॥

सोरठ देसे लींबडी गामई, दसाश्रीमाली डुंगर नामई ।
घरणी चूड़ा चित्त उदारी, दीकरो जायो हरष अपारी ॥३॥

चौदसय व्यासी वइसाखई, वद चौदस नाम लुंको राखइ ।
आठ वरिसनो लुंको थयो, सा डुंगर परलोकइं गयो ॥४॥

लखमसी फुइनो दीकरउ, द्रव्य लुंकानुं तेणइ हरउं ।
उमर वरिस सोलहनी थई, चूड़ा माता सरगि गई ॥५॥

---

* इस चौपाई का एक पन्ना यतिवर्य्य लाभसुन्दरजी का ज्ञानभंडार से मिला था, उसकों ज्योका त्यो यहां मुद्रित करवाया है ॥

आवइ अमदावाद मझार, नाणावटीनो करइ व्यापार ।
धर्म्म सुणवा जावइ पोसाल, पूजा सामायिक करइ त्रिकाल ॥६॥

सांभलइ यति तणु आचार, पण नवि पेखइ यतिहिं लगार ।
कहइ लुंको तमे पभणो खरउ, वीर आणाथी चालो परउ ॥७॥

कहइ यति अम्हथी रहे धरम, तमे किम जाणो तेहनो मर्म ?
पांच आश्रव सेवता तम्हे, सिखामण देवी सही गमे ॥८॥

सा लुंका कहे दयाइ धर्म, तमे तो थापिओ हिंसा अधर्म ।
फट भुंडा किहां हिंसा जोइं, यति सम दया पालइ कोइं ॥९॥

सा लुंका आ मानइ अपमान, पोसालइ जावा पच्चक्खाण ।
ठाम ठाम दयाइ धर्म कह्यो, साचो भेद आज अम्हि लह्यो ॥१०॥

हाटउ वइठो दे उपदेश, सांभली यतिगण करइ कलेस ।
संघनो लोक पण पखियो थयो, सा. लुंका तव लींबडी गयो ॥११॥

लखमसी ते तिहां छइ कारभारी, सा. लुंकानो थयो सहचारी ।
अमारा राजिभां उपदेश करो, दयाधर्म छइ सहुथी खरो ॥१२॥

दयाधर्मी थयो वहु लोग, एहवि मल्यो भाणानो संयोग ।
घरडउं लुंको नवि दीक्षा लहिं, पिणभाणो पोते वेष ग्रही ॥१३॥

दया धर्म जहहलती ज्योत, सा. लुंके किधुउ उद्योत ।
पनरसय वतीसउ प्रमाण, सा. लुंको पाम्यो निरवाण ॥ १४ ॥

दयाधर्म जयवंतो दीसइं, कुमति वणुं निंदे खींसइ ।
कह्यो लुंको मति मानज्यो यति, सामायिक पण कांणे कथी ॥१५॥

पोसह पडिक्कमणु पच्चखाण, जिन पूजा नहीं मानइ दांन ।
रे कुमति ! किम बोलइं इस्युं, सा. लुंके उत्थाप्यु किस्युं ॥१६॥

सामाइक टालइं बे वार, पर्व परे पोसह परिहार ।
पडिक्कमणुं विन व्रत न करइं, पच्चखांणइ किम आगार धरइं ॥१७॥

टालइ असंयति नइं दान, भाव पूजाथी रूडउ ज्ञान ।
द्रव्य पूजा नवि कही जिनराज, धर्म नामइं हिंसाइ अकाज ॥१८॥

सूत्र बतीस साचा सद्दह्या, समता भावे साधु कह्या ।
सिरि लुंकानो साचो धर्म, भ्रमे पड़िया न लहइ मर्म ॥ १९ ॥

निंदइ कुमति करइ हटवाद, वींछी करड्यो कपि उन्माद ।
मूसा बोलइ बांधइं कर्म, किम जाणइ ते साचोउ मर्म ॥ २० ॥

जयणाइ धर्म ने समताइ धर्म, ते टालि किम बांधीउ कर्म ?
जे निंदे ते संचइ पाप, समता विण सहु धर्म पलाप ॥ २१ ॥

दया धर्म श्री जिनवरे कह्यो, सा. लुंके तहने संग्रह्यो ।
तेहीज आज्ञा पाली अम्हे, शुं खोटउ लागइं छइं तम्हें ॥२२॥

शुं दयामां तम्हे मान्यो पाप, किम मांड्यो एटलो विकलाप ?
सूत्रनी साखीं लो तुमे जोय, दयाविहुणो धर्म न होय ॥२३॥

जे जिण आणा पालइं शुद्धि, तेहने नमवा होउ मुझ बुद्धि ।
दुहवाणुं मन परनुं जउ, मिच्छमि दुक्कडं मुझने हउ ॥ २४ ॥

पनरसय अठ्योतर जाणउं, माघ शुद्धि सातम प्रमाणउं ।
भानुचंद यति मति उल्लसउ, दया धर्म लुंके विलसउं ॥ २५ ॥

卐

---

१ इस चौपाई का कर्ता वि. स. १५७८ मे यति भानुचन्द्रने लौंकाशाह का जीवन पर ठीक प्रकाश डाला हैं । यति भानुचन्द्र का समय भी लौंकाशाह के वाद ३७ या ४६ वर्ष का होने से इस पर विश्वास भी हों सक्ता हैं । यति भानुचन्द्र के समय तक तो जैनयति, लौंकाशाह के अनुयायियो पर यह आक्षेप किया करते थे कि लौंकाशाहने सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, देवपूजा और आगम मानना अस्विकार किया था परन्तु भानुचन्द्र के समय शायद लौंकाशाह के मूल सिद्धान्त मे थोडा बहुत सुधार हुआ हों—जैसे सामायिक दो काल (सांम सुबह) मे ही हो सक्ती है, पौसह पर्व दिन में, प्रतिक्रमण व्रतधारी को, पच्चखाण विना आगार ही हो सके, दान असंयति को न देना और द्रव्यपूजा नही पर भावपूजा करना तथा जैनागमो में ३२ सूत्र मानना । यह मान्यता भानुचन्द्र के समय थी वाद तो इस में भी सुधारा होता गया और आज नागोरी लूंकागच्छ विगेरह में सब प्रवृति जैनियों के सदृश ही दृष्टिगोचर होती हैं ।

लोकागच्छीय यति केशवऋषिकृत—
लौंकाशाह का सिलोको

वीर जिणंदना प्रणमी पाय, समरी सरसती भगवती माय;
गुरु प्रणमी कग्इं सिलोको, इक मनी करी सुणज्यो लोको. १
चरम जिनेश्वर श्री वर्धमान, गणधर एकादश गुणखाण,
पाटपरंपरा तेहनी कहीइं, भणतां गणतां शिवसुख लहीइं. २
पांचमुं गणधर सोहम साम, जंबुस्वामी प्रभव गुणधाम;
सीज्जंभव जसभद्रा नामी, संभुती भद्रबाहुस्वामी. ३
स्थूलभद्र पातरना त्यागी, महगीरी सुहस्ती वडुभागी;
वहुलनी जोडी स्वाती स्वामी, कानिक सूरि स्कंदील स्वामी. ४
आर्यसमुद्र श्री मंगु धर्म, भद्रगुप्त नेइं स्वामी वजर;
सींहगुरु धनगुरुना शिष, वजरस्वामीजी धुरी जगीश. ५
वयरसेन श्रीचंद्र सुनंदा, संमतभद्रजी स्वामी मुनींदा;
सीतपट दीगपट .. पाय, वन महीं करइ तप ऋषिराय. ६
मल्लवादी वृद्धवादी ज्ञानी, सिद्धसेन नय न्याय प्रमाणी;
वादी देव ने हेम सूरींद, परवशीं प्रगट्या मुनींद. ७
इम अनेक मुनिपती मोटा, पाटपरंपरइ कर्मइ छोटा;
जगिइचंद्र रुषी तपशुरा, विजयचंद गुरु पावन पुरा. ८
खीमा कीरतजी हेमजी स्वामी, यशोभद्र रत्नाकर नामी;
रत्न प्रभु रुषीवर मुनि शेखर, धर्मदेव अने ज्ञानी सूरीश्वर. ९

इण कालइ सौराष्ट्र धरामइं, नागनेरा तटिनी तट गामइ;
हरीचंद श्रेष्ठी तीहां वसइ, मउंघीबाइ घरणी शील लसंइ. १०
पुनम गच्छंइ गुरुसेवनथी, शैयदना आशीष वचनथी;
पुत्र सगुण थयो लखु हरखीं, शत चउदे सतसीतर वर्षी. ११
ज्ञानसमुद्र गुरुसेवा करतां, भणी गणी लहीउं बन्यो तव त्यां;
द्रम्म कमाणी श्रुतनी भक्ति, वधइ रंगइ धर्मनी शक्ति. १२
आगम लखइ मनमां शंकइ, आगम साखी दान न दीसइ;
प्रतिमा पूजा न पडिक्कमणुं, सामायिकं पोसह पीण कमणुं. १३
श्रेणिक कुणिक राय प्रदेशी, तुंगीया श्रावक तत्त्व गवेषी;
किणइ पडिक्कमणुं नवी कीधुं, किणइ परने दान न दीधुं. १४
सामायिक पूजा छइ ठोल, जती चलाइ इण विध पोल;
प्रतिमा पूजा वड्ड संताप, तो अम्हि करीइ धर्मनी थाप. १५
अविधि लुंपइ लुंपक नाम, लखुको नामइ लउको नाम;
नही संयत पीण यतीथी अधिकुं, लोकोंइ मत परखीउं लउकुं. १६
संवतु पन्नर(१५)सत(००)अडवरषि(८),सिद्धपुरीइ शिवपद हरषी;
खोली थापीउं जिनमत शुद्ध, लुंकउ गच्छ हुओ परसिद्ध. १७
पातशाही महमुद सयाण, मानी इ लुंकामत परमाण;
सुबा सेवक सउको मानइ, लखु गुरु चरणि शीश नामइ. १८
हिव सोरठइ लीबडी गाम, कामदार अछे लखमशी नाम;
लुंका गुरुनो ग्रही उपदेश, धर्म पसारओ देश विदेश. १९
इणमत विषयि मंडइवाद, न्यायाधीश करइ पक्षपात;
शत पन्नर तेत्रीस(१५३३)सालइ, छप्पन वरसि सुरघर महालइ. २०
शत पन्नर तेत्रीशनी सालइ[१५३३] भाणजीने ते दीक्खा आलइ;
भाणजी रीखी सतमत फेलावइ, जीवदयानुं तत्त्व बतावइ. २१

वधर्मानवी पेठीं एकी, विचरइ देश विदेशी छेकी;
पाटपरंपरा चालइं शुद्धि, पाटे भद्ररूषि सुबुद्धि. २२
लवण रूषि भीमाजी स्वामी, जगमाला रूषि सरवा स्वामी;
बीजो नीकल्यो कुमति पापी, तेणइं वली जिनप्रतिमा थापी. २३
रूपजी जीवाजी कुंवरजी, वीहरइ श्रीमलजी रूषीवरजी;
प्रणमीं पूज्य तणंइ वरपाया, गावइ केशव नीत गुरुराया. २४

इति चतुर्वीशी समाप्त*

[बंबई समाचार दैनिक अखबार ता. १८-७-३६ के अंक में एक 'जैन' का नाम से प्रकाशित लेख की नकल]

---

* यह कविता खास लौंकागच्छीय केशवजी ऋषिकी है और आप के लिखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लौंकाशाह देवपूजा दान आदि को नहीं मानता था । केशवजी ऋषि का समय यति भानुचन्द के वाद का होना चाहिये । लौंकागच्छ की पटावलि में एक नानी पक्ष के स्थापक केशवजी ऋषि हुए है, पर वे लोंकाशाह के पन्द्रहवे पाटपर हुए है तव इस कविता के कर्त्ता केशवजीरूषि पूज्य श्रीमल्लजीकों अपने गुरु वताते है और श्रीमल्जी लोंकाशाह के आठवे पाट जीवाजीर्षि के तीन शिष्योमे एक थे यदि केशवजीर्षि श्रीमल्लजी के ही शिष्य हैं तो आपका समय वि. सं. १६०० के आसपासका ही समझना चाहिये जो लौंकागच्छीय यति भानुचन्द्र के करीवन् २५-३० वर्षो वाद हुए हैं और इन दोनो की मान्यता भी मिलती झूलती हे अतएव इन दोनो के समय तक लोकों की मान्यता वही थी कि दान और देव पूजादि धर्मक्रियाओ वे लोग नही मानते थे ।

इसके अलावा विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के इस विषय के और भी कई ग्रन्थ मिलते हैं और कई मेरे पास भी विद्यमान हैं पर वे लौंकाशाह के बाद के हैं और यहाँ ऐतिहासिक प्रमाणरूप लौंकाशाह के सम सामयिक या आपके आस पास के समय के प्रमाणिक ग्रन्थों को ही स्थान दिया गया है और इन प्रमाणों से यही ध्वनी निकली है कि लौंकाशाह ने अपने अपमान के कारण मन्दिर उपाश्रयों से खिलाफ हो जैनश्रमण, जैनागम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, और देवपूजा को मानने के लिये इन्कार किया था, साथमें एक और भी निपटारा हो जाताहै कि लौंकाशाह ने अपने जीवन में किसी समय मुँहपत्ती में डोराडाल दिनभर मुँहपर कभी बांधी थी, इस बात की चर्चा लौंकाशाह के जीवन में कहीं भी नहीं मिलती है। इतना ही क्यो पर लौंकाशाह के बाद २०० वर्षों तक भी न तो किसी ने डोराडाल मुँहपर मुँहपत्ती बाँधी थी और न इस बात का उस समय के साहित्य में खण्डन मण्डन ही हुआ है। इससे स्पष्ट पाया जाता है कि मुँहपर दिनभर मुंहपत्ती बाँधने की प्रथा विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुई है और इस प्रथा को चलाने वाले स्वामि लवजी ही थे। यह सब हाल इस किताब के आद्योपान्त पढ़ने से पाठक स्वयं जान सकेंगे ज्यादा क्या ॥ शुभम् ॥

———

परिशिष्ट नम्बर ३

लौंकामत और स्थानकमार्गियों से आए हुए प्रसिद्ध विद्वान साधुओं की

संक्षिप्त परिचय

लौंकाशाह एक साधारण व्यक्ति होने पर भी वह क्रूर प्रकृति वाला था। विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में एक ओर तो भस्मग्रह की अन्तिम फटकार और दूसरी ओर धूम्रकेतु नामक विकराल ग्रह का संघ की राशिपर संक्रमण इत्यादि कारणों से इधर तो लौंकाशाह का जैन यतियों या जैन संघ द्वारा अपमान और उधर यवन लेखक शैयद के सयोग का होना वस इसी कारण लौंकाशाह ने एक नया मत निकाला। पर इस मत की नींव बहुत कमजोर थी, कारण लौंकाशाह जैनश्रमण, जैनागम, सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और देवपूजा से बिलकुल खिलाफ होगया था। इस हालत में मत का चलना असम्भव नहीं पर कठिन जरूर था। पर भवितव्यता के कारण भाणा आदि तीन मनुष्य लौंकाशाह को अपनी अन्तिम अवस्था में मिल गए और उन्होंने स्वयं साधुवेश पहिन के लौंकाशाह के देहान्त के बाद इस मत को चलाया और जहाँ जैन यतियों के विहार का अभाव था वहाँ भद्रिक जनता को सत्यधर्म से पतित बना अपना वाड़ा बढ़ाया, और धीरे-धीरे लौंकाशाह से छोड़ी हुई धर्म क्रियाओं को भी फिरसे अपने मत में स्थान देते गए, परन्तु जब जैनाचार्यों का अन्यान्य प्रान्तों में विहार शुरू हुआ तो लौंका मत वालों के किल्ले की दीवार टूट २ कर गिरने लगी जिसका संक्षिप्त परिचय पाठकों को यहाँ करवा देते हैं।

लौंकामत एवं स्थानकवासी समुदाय के विद्वान नामाङ्कित साधुओं ने शास्त्रों का गहरा अभ्यास करने के पश्चात् वे आत्मार्थी मुमुक्षु उन्मार्ग का त्याग कर शुद्ध सनातन जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर स्वपर का कल्याण किया और कर रहे हैं उन महानुभावों का चित्रों के साथ संक्षिप्त परिचय करवा देते हैं।

जैनाचार्य श्री हेमविमलसूरीश्वरजी

और

लौंकामत के साधु

ऋ० हाना, ऋ० श्रीपति, ऋषि गणपति प्रमुख लुङ्कामतमुपास्य श्री हेमविमलसूरि पार्श्वे प्रव्रज्य तन्निश्रयाना चारित्र भागो बभूवांस "

"पट्टावली समुच्चय पृष्ट ६८"

आचार्य हेमविमल सूरि का समय लौंकाशाह के देहान्त के बाद ४०-४२ वर्ष का ही है पर इस नये मत में सब जातियों को दीक्षा देने की छूट होने से अथवा योगोद्वाहनादि विशेष क्रिया न होने से और इन वर्षों में एकाध दुष्काल पड़नेसे इस नूतन मत में साधुओं की संख्या ५०-६० के करीब पहुँच गई थी, पर आचार्य श्री हेमविमलसूरीश्वरजी के सदुपदेश का डङ्का वजते ही ऋषि हाना, ऋषि श्रीपति, ऋषि गणपति आदि साधुओं ने आचार्य श्री के पास अपनी भ्रान्ति दूर कर पुनः दीक्षा स्वीकार की, इन सब साधुओं की संख्या ३७ कही जाती है ।

महाप्रभाविक जैनाचार्य श्रीहेमविमलसूरि (समय वि० सं० १५७२ तक)
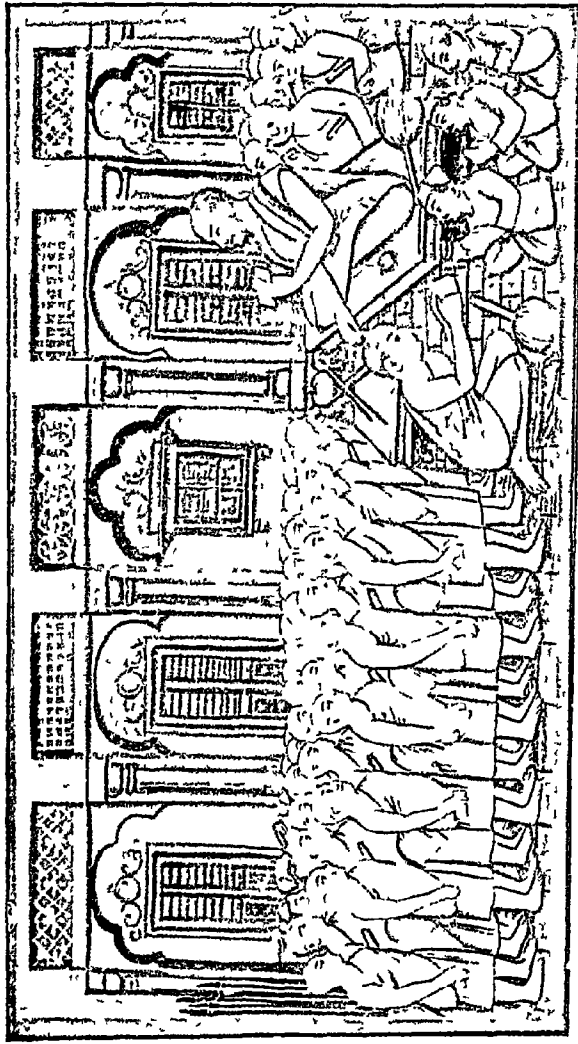
लौंकामत के पूज्य हानर्षि, श्रीपतिऋषि, गणपतिऋषि, आदि शिष्यसमुदायसह लौंकामतका त्याग कर आचार्यश्री के पास जैनविधि अनुसार वासक्षेप पूर्वक, पुनः जैन दीक्षा धारण कर रहे है ।

संवेगरंगी, उग्रविहारी प्रकाण्डतपस्वी महान्प्रभाविक

जैनाचार्यश्रीआनन्दविमलसूरि और महोपाध्याय श्रीविद्यासागरजी (सं० १५९७)
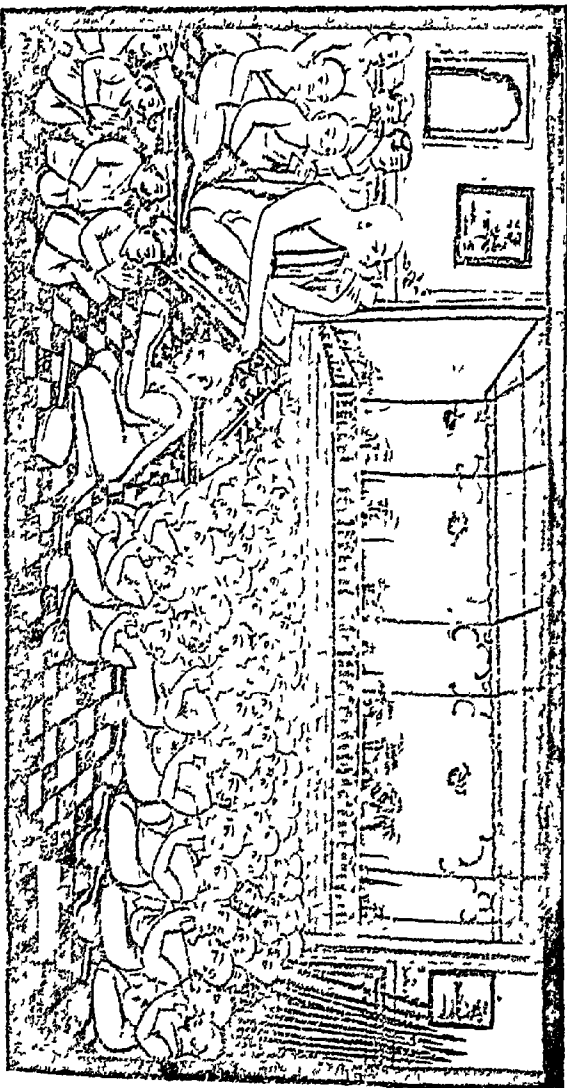
लौंकामत के पूज्य आनन्दर्षि भोजर्षि वालऋषि आदि अपने शिष्यो के साथ लौंकामतको छोडकर आचार्यश्री के समीप पुन जैन दीक्षा स्वीकार कर रहे है गणि विद्यासागरजी ने भी कई लौंकामतियो को दीक्षा दी थी

महा प्रभाविक
आचार्यश्री आनन्दविमल सूरीश्वरजी
और
लौंकामत के साधु

"मेवात देशे च वीजामाती प्रभृतीन् मोख्या दौ
× × × लुङ्कादीन् प्रतिबोध्य सम्यक्त्व
वीज मुप्तं सदनेकधा वृद्धि मुपागत मद्याऽपि प्रतीतं"

'पट्टावली समुच्चय पृष्ट ७०'

मरुधरादि प्रान्तों में पानी के अभाव के कारण कई साधुओं की अकाल मृत्यु होने से आचार्यसोमप्रभसूरि ने साधुओं का विहार ही बन्द करवा दिया, इस कारण उन प्रान्तों में लौंकादि साधुओं को अपना धर्म प्रचार करने की एक सुन्दर सुविधा मिल गई पर आचार्य आनन्दविमलसूरि महाप्रभाविक उग्र विहारी कठोर तपस्वी और शास्त्रों के मर्मज्ञ होने से उन्होंने भू भ्रमण कर लौंकामत के अनेक साधुओं और गृहस्थों को सन्मार्ग पर लाकर अपने शिष्य बनाये। आपके शासन में महोपाध्याय विद्यासागर गणि जो छठ तप का पारणा करते थे, और स्थूलिभद्र के सदृश ब्रह्मचारी थे, उन्होंने मेवाड़ मारवाड़ आदि प्रान्तों में विहार कर अन्य मतों के सदृश लौंकामत वालों को भी सम्यक्त्व व्रत और प्रव्रज्या दे जैन धर्म में दीक्षित किया, जिनकी कुल संख्या ७८ बतलाई जाती है।

सम्राट् अकबर प्रतिबोधक

आचार्य विजयहीर सूरीश्वरजी और लौंकामत के साधु

"तथाऽहम्मदाबाद नगरे लुङ्का मताऽधिपतिः ऋषिमेघजी नामास्वकीय मताऽऽधिपत्यं दुर्गतिहेतुरिति मत्वा रज इव परित्यज्य पञ्चविंशति मुनिभिः सह सकल राजाऽधिराज पातिशाहि श्री अकब्बर राजाज्ञा पूर्वकं तदीयाऽऽतोद्य वादनादिना महा मह पुरस्सरं प्रव्रज्य यदीय पादाऽम्भोज सेवा परायणो जात"

पटावली समुच्चय पृष्ट ७२

× × × ×

'अहीं थी फुट फाट शरू थई मेघजी नामना एक ' स्थविर ने कोई कारण थी २७ ठाणा सहित गच्छ बहार करवामां आव्या, तेथी तेओ हीरविजयसूरि पासे गया अने तेमना गच्छ मां मल्या,

स्था० स्वामि मणिलालजी कृत

प्रभुवीर पट्टावली १८१ पृष्ट पर

× × × ×

"इसी समय से फूटफाट चली, मेघजी नाम के एक स्थविर को किसी कारण से ५०० ठाणा सहित गच्छ बाहिर कर दिया, इससे वे हीरविजय सूरि के पास गये और उनके गच्छ में मिल गए" ।

स्था० श्रीमान् वाडीलाल मोतीलाल शाह कृत

ऐतिहासिक नोंध पृष्ट ९०

× × × ×

अन्यान्य लेखकों ने पृथक २ समय साधुओं की अलग २ संख्या लिखी है तब वाडीलाल मोतीलाल शाह ने सबको शामिल कर ५०० साधु लिखा है वास्तव में यह ठीक ही है । क्योंकि असत्यमत में रह कर आत्मार्थी अपना अहित कब करेंगे ?

पंजाब के साधुमार्गी साधु श्रीबुटेरायजी ने वि० सं० १९०२ में मुहपत्ती का डोरा तोडा और वि० सं० १९१२ में गणिवर श्रीमणिविजयजी म० के पास जैनदीक्षाली
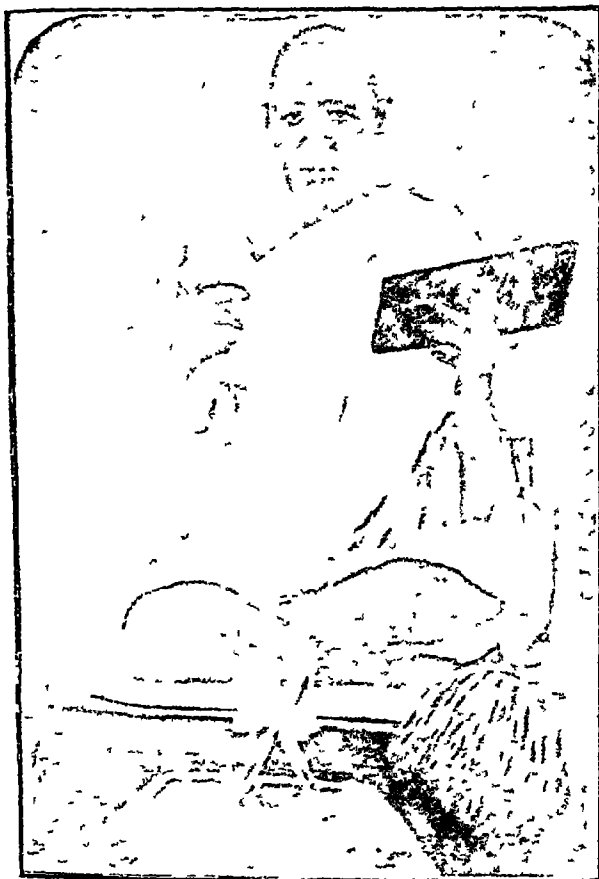
गणिवर श्रीबुद्धिविजयजी महाराज। आपके परिवार में करीबन् ४०० साधु और सैकड़ों साध्वियां विद्यमान हैं।

पूज्यपाद गणिवर बुद्धिविजयजी महाराज

(स्था० पंजाबी साधु बूँटेरायजी)

'आप पंजाब की वीर भूमि में जन्म लेकर जननी जन्म भूमि का उद्धार करने के लिए वि. सं. १९०२ में साधु-मार्ग पन्थ को त्याग कर अर्थात मुँहपत्ती का डोरा तोड़ पंजाब में भूली भटकी जनता को सद् उपदेश देकर पुनः जैन-धर्म के सत्य पथ पर लाने लगे और बाद में गुजरात में जाकर पूज्य गणि श्रीमान् मणिविजयजी के पास जैन दीक्षा स्वीकार की, और मूर्त्तिभंजकों का माया जाल को दूर कर धर्म में खूब प्रचार किया। आपकी परम्परा में आज करीबन ४५० साधु और सैकड़ों साध्विएं विद्यमान हैं। यों तो आपके पहिले भी पूज्य मेघजी के बाद कई स्था० साधुओं ने मुँहपत्ती का डोरातोड़ जैन-धर्म की दीक्षा ली थी, पर आपने विशेष नामवरी इस कारण प्राप्त की कि आप पंजाब जैसे साधुमार्गियों के साम्राज्य में प्रायः लुप्त हुए मूर्तिपूजक धर्म को पुनः प्रतिष्ठित करने में समर्थ हुए।

'कोटिशः वन्दन हो ऐसे सद्गुरु को'

पूज्यपाद गणिवर मुक्तिविजयजी महाराज।

(पंजाबी साधुमार्गी साधु मूलचन्दजी)

आप श्री का जन्म भी पंजाब की वीर प्रसविनी भूमि के सियालकोट शहर में ओसवाल वंश भूषण सुखसा की धर्मपत्नी बकोरबाई की पवित्र कुक्षि से वि. सं. १८८६ में हुआ था। आपने वि. सं. १९०२ में स्वामी बूँटेरायजी के पास साधुमार्गी दीक्षा ली। शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद वि. सं. १९१२ में महात्मा बूँटेरायजी के साथ दादा मणिविजयजी गणि के पास संवेगी दीक्षा स्वीकार कर जैन-धर्म की खूब उन्नति की।

आपकी सन्तान परम्परा में आज भी ४ आचार्य और ५२ साधु एवं सैकड़ों साध्वियाँ विद्यमान हैं।

पंजाबी साधमार्गी साधु वृद्धिचंदजी सं० १९०३ में
मुँहपत्ती का डोरा तोड़ वि० सं० १९१२ में संवेगदीक्षाली
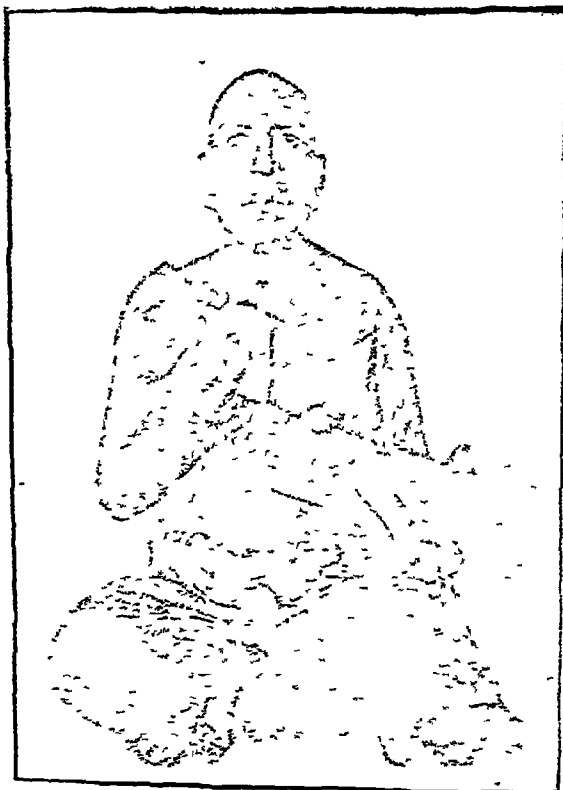
पूज्यपाद शान्तमूर्त्ति मुनि श्री वृद्धि विजयजी महाराज

पूज्यपाद शान्तमूर्त्ति श्री वृद्धि विजयजी महाराज

[पं० स्था० साधु वृद्धिचंदजी]

आप पञ्जाब प्रदेश के एक चमकते सितारे थे, आप का जन्म पंजाब प्रान्त के राम नगर में ओसवाल कुल के धर्मजस की धर्मपत्नी श्री कृष्णादेवी के उदर से वि० सं० १८९० में हुआ था, आपने वि० सं० १९०८ में महात्मा बूँटेरायजी के पास साधुमार्गी दीक्षा ली थी, और अन्त में आप ने सत्य की गवेषणा कर मुँहपत्ती का डोरा तोड़ श्रीमान् बूँटेरायजी महाराज के साथ अहमदाबाद में दादा श्रीमणिविजयजी गणि के समीप पुनः जैन दीक्षा को धारण की, आप का प्रभाव जैन जनता पर खूब पड़ा, जगत्प्रसिद्ध आचार्य विजयधर्मसूरिजी एवं विजयनेमिसूरीश्वरजी जैसे प्रखर विद्वान् एवं धर्म प्रचारक आप के शिष्य हुए, इतना ही क्यों, पर आप की परम्परा में आज १० आचार्य और १३५ साधु विद्यमान हैं और साध्वियाँ भी आप की परम्परा मे काफी संख्या में हैं ।

आचार्य श्री विजयानन्द सूरीश्वरजी
(स्था० साधु–आत्मारामजी)

आप श्री का जीवन प्रसिद्ध है। आपने निम्न लिखित १८ साधुओंके साथ मुँहपत्ती का डोरा तोड़ कर गणिवर श्रीमान् बुद्धिविजयजी महाराज के चरण कमलों में पुनः जैन धर्म की दीक्षा ली।

साधुओं के नाम

साधुमार्गियों के नाम	जैन दीक्षा लेने के बाद उनके नाम
१ आत्मारामजी।	१ आनन्दविजयजी।
२ विश्नुचंदजी।	२ लक्ष्मीविजयजी।
३ चंपालालजी।	३ कुमुदविजयजी।
४ हुकमचदजी।	४ रंगविजयजी।
५ सलामतरायजी।	५ चारित्रविजयजी।
६ हाकमरायजी।	६ रत्नविजयजी।
७ खूबचंदजी।	७ संतोषविजयजी।
८ कन्हैयालालजी।	८ कुशलविजयजी।
९ तुलसीरामजी।	९ प्रमोदविजयजी।
१० कल्याणचंदजी।	१० कल्याणविजयजी।
११ निहालचंदजी।	११ हर्षविजयजी।
१२ निधानमलजी।	१२ हीरविजयजी।
१३ रामलालजी।	१३ कमलविजयजी।
१४ धर्मचंदजी।	१४ अमृतविजयजी।
१५ प्रभुदयालजी।	१५ चंद्रविजयजी।
१६ रामजीलालजी।	१६ रामविजयजी।
१७ मैंरानीलालजी।	१७ शांतिविजयजी तपस्वी।
१८ चन्दनलालजी।	१८ चन्दन विजयजी।

आप की परम्परा में ८ आचार्य २१६ साधु और सैकडों साध्वियां विद्यमान हैं

पंजाबी साधुमार्गी मुनि आत्मारामजी वि० १९३२ में
१८ साधुओं के साथ संवेगी दीक्षा ली

पंजाब केसरी
जैनाचार्य श्रीविजयानन्दसूरीश्वरजी महाराज

श्री सिद्धक्षेत्र में

श्रीयशोविजय जैन गुरुकुल संस्थापक

श्रीमान् चारित्रविजयजी महाराज (कच्छी)

मुनि श्रीचारित्रविजयजी महाराज

[स्था० साधु धर्मसिंहजी]

कच्छ देश के पत्री नामक ग्राम में घेलाशाह की शुभगादेवी की कुक्षीसे वि० सं० १९४० में धारशी भाई का जन्म हुआ। वि० सं० १९५६ में स्थानकमार्गी कानजी स्वामि के पास दीक्षा ली आप का नाम धर्मसिंह रखा। आपने शास्त्रों का अभ्यास किया तो मूर्ति नहीं मानने वालो के मत को कल्पित समझ कर सर्पकंचूक की भाँति शीघ्र ही छोड़ कर सं० १९५९ में आचार्य श्री विजयकमल सूरीश्वरजी महाराज के चरणकमलो में जैन दीक्षा ग्रहण कर सत्योपदेश द्वारा जैन शासन की अपूर्व सेवा की।

उपाध्याय श्रीसोहनविजयजी

(पंजाबी स्था० साधु वसन्तामलजी)

आप श्री का जन्म वि० सं० १९२८ की साल में काश्मीर की प्रसिद्ध राजधानी जम्मूमें निहालचंद सेठ की उत्तमा देवी की कुक्षी से हुआ। आपका नाम वसन्तामल था। पंजाब के स्थानकवासी साधु गेंडेरायजी के पास आप २२ वर्ष की युवक वय में अर्थात् वि० सं० १९६० के भाद्रपद शुक्ल १३ को (चातुर्मास में) स्थानकवासी दीक्षा ग्रहण की पर आप जिस शान्ति और आत्मोद्धार को चाहते थे वह आपको वहां नहीं मिला। इस हालत में आपकी आचार्य श्रीविजयवल्लभसुरिजी (उस समय के मुनिश्री वल्लभ विजयजी म०) से भेंट हुई और आप की आज्ञानुसार मुनिश्री ललितविजयजी म० के पास संवेगी दीक्षा स्वीकार की और आपका नाम मुनि सोहनविजयजी रखा। क्रमशः आपने अच्छी विद्वता हासिल कर उपाध्याय पद को सुशोभित कर धर्म का अच्छा प्रचार किया। आपका जीवन धर्म वीरता से ओतप्रोत था।

काठियावाड़ी स्थानक मार्गी साधु अमीर्षि ने मुँहपत्ती का डोरा तोड़
आचार्य श्री बुद्धिसागरसूरि के पास संवेगी दीक्षा ली

आचार्य श्री अजितसागरसूरि ।

आचार्य श्री अजितसागर सूरिजी

(स्था० साधु अमीर्षिजी)

आप श्री काठियावाड़ स्थानकमार्गी समुदाय के एक अग्रगण्य साधु थे पर जब जैनागमों का बारीकी से अध्ययन किया तो आप जान गये कि यह स्थानकमार्गी मत एवं साधुमार्गी मत कल्पित खड़े किए हुए हैं और जैनधर्म से विरुद्ध आचरण और उपदेश से ये लोग जैन-समाज को अधोगति में लेजा रहे हैं, फिरतो देरी ही क्या थी। आपने शिष्यों के साथ अध्यात्मयोगी और शान्तमूर्ति आचार्य श्री बुद्धिसागर सूरि के चरण कमलों में आकर भगवती जैनदीक्षा को स्वीकार कर जैन-धर्म का प्रचार करने में खूब प्रयत्न किया। आपके परम्परा में आज एक आचार्य बहुत से साधु और कई एक साध्विएँ भूमण्डल पर विहार कर रहे हैं।

इस ग्रंथ के लेखक के गुरुवर्य्य

परम योगीराज मुनि श्री रत्नविजयजी महाराज

आप कच्छ भूमि मांडवी में ओसवाल वंशी शाह कर्मचन्द की भार्या कमला देवीकी कुक्षि से जन्मे थे। आपका नाम पहिले रत्नचन्द था। आपनी दश वर्ष की किशोर वय में ही स्थानकवासी समुदाय में अपने पिता के साथ दीक्षित हुए थे। बाद में १८ वर्ष तक निरन्तर प्राकृत और संस्कृत का गहरा अभ्यास कर जैन शास्त्रों का अध्ययन किया तो आपको मूर्ति अपूजकों का मत कृत्रिम मालूम हुआ। फिरतो क्या देरी थी। शास्त्र विशारद जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी के पास पुनः जैन दीक्षा स्वीकार करली। आपश्री ने गिरनार और आबू के पहाड़ों में रह कर योग साधना की थी। आपके ही कर कमलों से इस ग्रंथ के लेखक की दीक्षा हुई है। अतएव इन योगीराज के चरण कमलों में कोटि वन्दन हो।

शान्तमूर्ति

परमयोगीराज

मुनिश्री रत्नविजयजी महाराज

मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज। मुनिश्री गुणसुन्दरजी महाराज।

पूज्यपाद मुनि श्रीज्ञानसुन्दरजी महाराज
(साधुमार्गी मुनि गयवरचन्दजी)

आप श्री का संक्षिप्त परिचय इसी ग्रन्थ के आदि में दे दिया है। आपने, साधुमार्गी पूज्यश्रीलालजी महाराज के उपदेश से दीक्षा लेकर सतत ९ वर्षों तक शास्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् ओसियाँ तीर्थ पर वि० सं० १९७२ में परमयोगीराज मुनिश्री रत्नविजयजी महाराज साहिब के कर कमलों से पुनः जैनधर्म की दीक्षा स्वीकार की है।

स्थानकमार्गी समाज का हमें उपकार मानना चाहिए कि ऐसे-ऐसे अमूल्य रत्न पैदा कर जेन समाज की सेवा में भेट किये हैं और भविष्य में भी करता रहे ऐसी उम्मेद है।

मुनिश्री गुणसुन्दरजी महाराज
(स्था० साधु गंभीरमलजी)

आप श्री का जन्म मारवाड़ के हरिमा नामक गाँव में ओसवाल जातीय (राँका गोत्रीय) श्रीमान् सेठ भोमराजजी मेहता के यहाँ वि०सं० १९४६ में हुआ था। वि० सं० १९६१ में स्था० पूज्य जयमलजी महाराज की समुदाय के साधु नथमलजी के पास दीक्षा ली। पर जब आप सत्य की शोध में निकले तो वि० सं० १९८३ में बिलाड़ा नगर में मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज का सहयोग मिला और आपने वास्तिक तत्व की शोधकर बड़ी धाम धूम से पुनः जैन दीक्षा स्वीकार करली। इस ग्रंथ के लिखने में आपका भी सहयोग प्रशंसनीय है।

स्थानकमार्गी समाज का एक माननीय विद्वान्

श्रीमद् रायचन्द्र

आप राजकोट के जवेरी और बम्बई में जवेरात का व्यापार करते थे तथा स्थानकमार्गी समाज में आप प्रसिद्ध विद्वान भी थे, आपने शास्त्रों का गहरा अभ्यास करके अपना यह निश्चय प्रगट किया कि मूर्तिपूजा शास्त्र सम्मत धर्म का एक अंग है। साधारण जन के लिये तो उपकारी है ही पर योग्यावस्था एवं अध्यात्म श्रेणि के मुमुक्षुओं के लिये भी परमोपकारी है क्योंकि जब हम अन्यान्य साधनों को भी उपयोगी समझते हैं तब वीतराग की शान्तमुद्रा एवं ध्यानावस्थित मूर्ति हमारे लिये उपादेय क्यों नहीं हो सकती है? अर्थात् मूर्ति की उपासना, जिस देव को लक्ष में रख मूर्ति स्थापित की जाती है। उसी देवकी आराधना करना उपासक का खास लक्षबिन्दु है। अतएव अध्यवसायों की निर्मलता और श्रेणि चढ़ने में मूर्ति खास निमित कारण है। श्रीमद् रायचन्द्र ने अपने निखालस हृदय से स्थानकमार्गी मत को कल्पित समझ उसको त्यागकर मूर्तिपूजा स्वीकार करली, इतना ही नहीं पर आपने हजारों भूले भटके हुए को मूर्तिपूजक बनाया।
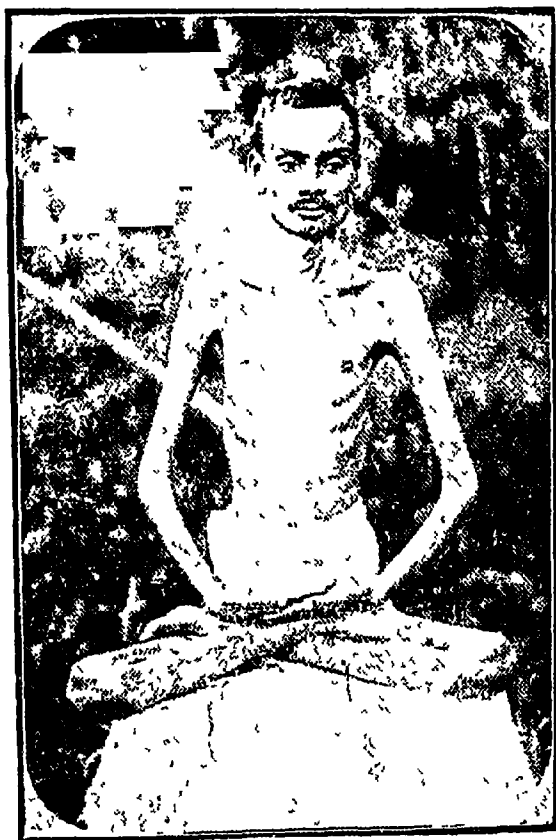
श्रीमद्रायचन्द्र—

इनके अलावा पंजाबी और प्रदेशी साधमार्गी समुदाय तथा मारवाड़ी एव काठियावाड़ समुदायके सैकड़ों साधु असत्यको त्याग सत्य मार्ग का अवलम्बन किया अर्थात् मुँहपत्ती के डोरा को तोड़ मूर्त्तिपूजा को स्वीकार कर इसका ही प्रचार किया और कर रहे हैं जिनमें महान् पण्डित रत्न मुनि श्रीचतुरविजयजी महाराज, पं० रंगविमलजी पं० रूपमुनिजी गुलाबमुनिजी ठा० ४ मुनि कनकचंदजी जिनचंदजी प्रतिचंद्रजी ध्यानचंदजी, पद्मविमलजी कमलविजयजी म० शिवराजजी, रत्नचंदजी, रूपविजयजी मगन- सागरजी, रत्नसागरजी, विवेकविजयजी, समताविजयजी, इत्यादि इतना ही क्यों पर यह प्रथा तो आज भी विद्यमान हैं हालही में विद्वान एवं स्थानकवासी समुदाय में प्रतिष्ठित स्वामि कानजी, कल्याणचन्द्रजी गुलाबचंदजी वगैरह मुँहपती का डोरा तोड़ मूर्त्ति पूजा स्वीकारकी है स्वामी कर्मचंदजी शोभाचंदजी मूलचंदजी वगैर विद्वानों ने भी अपनी दोषित मान्यता का त्याग कर मूर्ति पूजा रूपी शुद्ध और सनातन मार्ग का ही अवलम्बन किया हैं इतना ही क्यों पर स्थानकवासी समाज के सेकड़ों विद्वान् साधु अपनी कायरतासे वाड़ा बाहर नहीं निकल सकते हैं पर वे समय समय परम पवित्र एवं आगम विहित तीर्थ श्रीशत्रुंजय श्रीगिरनार श्रीशिक्खर राणकपुर आबू ओसियाँ और कापरडाजी जैसे तीर्थों की यात्रा कर खूब आनंद लुटते हैं और कई तेरहपन्थी साधु भी भिखमजी का मत को दयादान हीन निकृष्ट समझ कर वे भी मुँहपत्ती का डोरा तोड़ जैन दीक्षा को स्वीकार की है तेरह- पन्थि से निकले हुए साधुओं के करीबन ३०–३१ नम्बर मेरे पास आये हैं। केवल साधुओं ने ही शास्त्राभ्यास कर स्थानकवासी

या तेरहपन्थी मत का सदैव के लिए त्याग किया हो ऐसा नहीं है पर स्थानकवासी आरजियाँ (आर्याओं) ने भी सत्यधर्म की शोध खोज करके इन कल्पित मत का परित्याग किया है जिस में श्रीमती साध्वी धनश्रीजी कल्याणश्रीजी गुणश्रीजी सुमतिश्रीजी रमणिकश्रीजी आदि कई साध्वियों ने भी संवेगी जैन दीक्षा को स्वीकार किया और वे आज भी विद्यमान हैं और स्थानकवासी श्रावक श्राविकाएँ में तो ऐसा शायद ही कोई बचा हो कि जिन्हों ने अपनी जिन्दगी में एक या अनेक वार तीर्थ यात्रा नहीं की हो ? और यात्रा करने वालों के भाव भी इतने शुभ रहते हैं कि उस समय आयुष्य का बन्ध भी हो तो शुभ गति का ही होता है।

अब तो स्थानकवासी समाज भी समझ ने लग गया है कि जैन मन्दिर न जाने से ही हम लोग सरागीदेव कि जहाँ मांस मदिरा चढ़ते हैं वहाँ जाने लग गये और हमारी संतान के भी यही संस्कार पड़ जाते हैं जब ऐसे देव देवियों के पास भी हम जाकर शिर झुका देते हैं तो जैन मन्दिरों में तो हमारा पूज्याराध्य चौवीस तीर्थङ्करों की मूर्त्तिएँ स्थापित हैं उनके दर्शन मात्र से हमारे दिल में उन्हीं तीर्थङ्करों की भावना पैदा होती है और वहाँ कहने योग्य नवकार या नमोत्थुणं या चैत्यवन्दन स्तवन स्तुति बोलने में हम उन्हीं तीर्थङ्करों के गुण गाते हैं जो समवसरण स्थित तीर्थङ्करों के गुण गाया करते थे अतः मन्दिर मूर्त्तियों का इष्ट ही हमारा महोदय का कारण है इसलिए हमें तीर्थ यात्रा और मन्दिर मूर्त्तियों के दर्शन सदैव करना ही चाहिए।

॥ इति शुभम् ॥
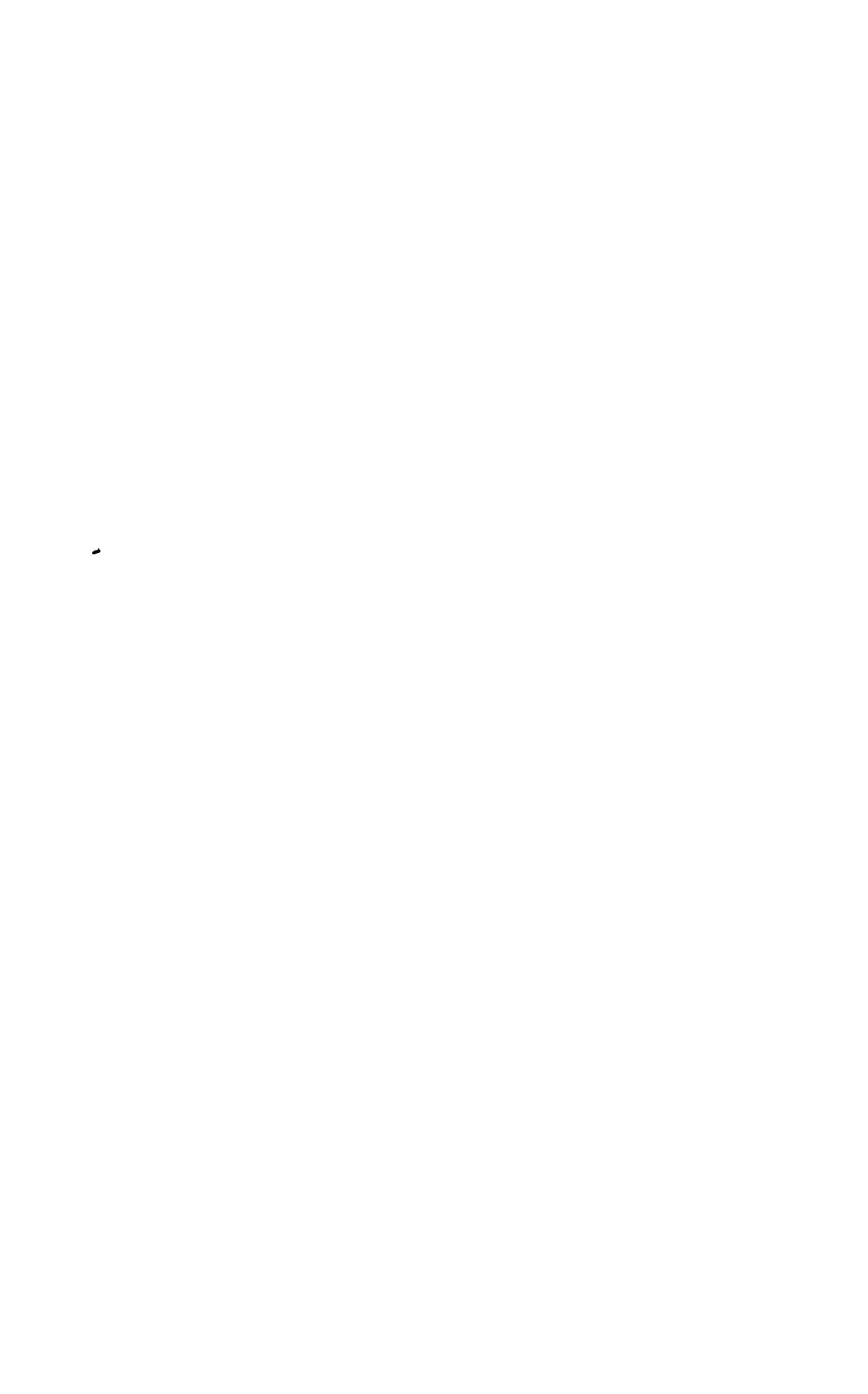
इति

श्रीमान् लौंकाशाह के

जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश

ऐतिहासिक नोंध की ऐतिहासिकता

भूमिका

संसार भर के साहित्य में इतिहास का आसन सर्वोत्तम एवं सर्वोच्च है। क्योंकि इतिहास में पक्षपात का अभाव और प्रमाणों की प्रबलता रहती है। सभ्य समाज का इतिहास पर पूर्ण प्रेम और सच्चा विश्वास रहता है तथा वे इतिहास-लेखक और इतिहास-पुस्तकों को बड़े आदर से देखते हैं।

परन्तु जब "*विष मप्यमृतं क्वचित् भवेत् अमृत वा विषं भवेत्*" इस सिद्धान्तऽनुसार संसार की सत्यता का प्रदर्शक इतिहास भी, अपने पक्षपाती लेखकों की बदौलत सत्यता का गला घोंट असत्यता के समर्थन में उतारू हो जाता है तब महान् दुःख होता है। यद्यपि यह बीसवीं सदी का समय सत्य सत्याऽन्वेषण का कहा जाता है, तदपि ऐसे लेखकों का अब भी सर्वथा अभाव नहीं है जो, अपने कलेजे के कलुषित उद्गार निकाल, निराधार मनः कल्पित बातें बना इतिहास के ऐतिहासिकता की हत्या करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझते हैं। संभव है वे इसमें अपनी कपट-कुशलता एवं वाक् शूरता भी समझते होंगे, परन्तु सत्यता की शोध करने वाला सभ्य समाज तो उन्हें निरा अज्ञ ही समझता है और उन्हें ऐसे २ निन्द्य लेखकों की कल्पित कथाएँ पढ़ कर हठात् कहना पड़ता है कि "उपन्यास में नामों और तिथियों के अतिरिक्त और सब बातें सच्ची होती हैं और इतिहास में नामों तथा तिथियों के अतिरिक्त और कोई बात

सच्ची नहीं होती" इनका यह लक्ष्य समग्र इतिहासों को ओर नहीं किन्तु मिथ्यात्व सेवियों के लिखे कल्पित इतिहासों पर ही है। और ऐसे इतिहास तथा इतिहास लेखकों में हमारे जैन समाज के चिर परिचित वाड़ीलाल मोतीलाल शाह तथा तल्लिखित ऐतिहासिक नोंध का नाम विशेष उल्लेखनीय है। आपने वि० सं० १९६५ में यह ऐतिहासिक नोंध गुजराती भाषा में लिख प्रकाशित करवाई थी। इसके बाह्य आकार प्रकार (टाईटिल पेज) को देख लोगों को यह आशा हुई थी कि इसमें जरूर ज्ञातव्य ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख होगा, परन्तु जब उसे उठाकर उन्होंने आद्योपान्त पढ़ा और विचार किया तो सारी आशाओं पर पानी फिर गया और चित्त में अतिशय दुःख हुआ, क्योंकि शाह ने ऐतिहासिक नोंध के नाम पर जैन तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों की, जैनाचार्यों और ब्राह्मणों की केवल भर पेट निन्दा नहीं, पर साथ में ही जैनाऽऽगम, जैनसाधु, जैनमंदिर-मूर्त्तियों और सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान एवं देवपूजा का विरोध करने वालों की अतिशय प्रशंसा की है। विशेषता यह है कि ऐतिहासिक नोंध लिखते समय शाह के हृदय में ही नहीं अपितु उनकी नस नस में साम्प्रदायिकता के विष की व्यापकता थी, यह बात इस पुस्तक के पढ़ने से स्वयमेव परिस्फुट हो जाती है। शाह के लिखे प्रत्येक वाक्य से विष वमन करती हुई यह पुस्तक अपने पृष्ठ १३५ पर से बताती है कि "लवजी ऋषि के एक साधु को अपने मन्दिर में ले जाकर यतियों ने उसे तलवार से काट वहीं मन्दिर में गाड़ दिया। × × × यतियों की खटपट से सोमजी को एक रंगरेज ने विष देकर उनका जीव ले

लिया इत्यादि।" यदि इन गर्हित झूठी बातों का प्रचार करने वाली इस पुस्तक का नाम ऐतिहासिक नोंध न होकर "गप्प नोंध" अथवा "विष वमन नोंध" होता तो इसकी आभ्यान्तर आकृति के अनुरूप होता ? क्योंकि ऐसी घृणित पुस्तकों से तो उभय समाज में पारस्परिक वैमनस्य की ही वृद्धि होती है अतएव उपर्युक्त हमारा कल्पित नाम ही इस पुस्तक के "यथा नाम तथा गुणः" के अनुसार ही युक्तियुक्त है।

यह एक न्यायसंगत बात है कि जब एक पक्ष की ओर से ऐसा कोई अनुचित आक्षेप दूसरे पक्ष वालों पर पुस्तकों में प्रकाशित किया जाय तब वह पक्ष "*मौन स्वीकृति लक्षणम्*" के अनुसार चुपचाप नहीं बैठ सकता ?। क्योंकि मिथ्या आक्षेपों का प्रत्युत्तर न देने से अपरिचित जन उन्हें उसी तरह का समझ लेते हैं। बस, इसी को लक्ष्य में रख श्रीमान् ऋषभचंद् उजमचंद कोठारी पलड़णपुरवालों ने वि०सं० १९६६ में "*साधु मार्गियों की सत्यता पर कुठार*" नाम की पुस्तक लिख शाह के मिथ्या आक्षेपों का बड़ी सभ्यता और युक्तियुक्त प्रमाणों से प्रत्युत्तर दिया था कि शाह अपना निःसार जीवन में इस विषय का एक शब्द तक भी उच्चारण नहीं कर सका। किन्तु स्थानकवासियों को यह कब अच्छा लगा कि जैन जगत् शान्त भाव और समाधि पूर्वक अपनी आत्मोन्नति में दत्तचित्त रहे। जब 'कुठार' के प्रकाशन से इनकी मिथ्या सत्यता पर पूर्ण प्रकाश पड़ने लगा तब इन्हे फिर विरोध की सूझी और वर्षों से दबी कलहाग्नि को अंड बंड प्रकाशन से पुनः प्रज्वलित कर शान्त

समाज में फिर से विरोध पैदा किया और गुजराती ऐ० नों० का हिन्दी भाषान्तर छपवाकर, पूज्य जवाहिरलालजी म० के व्याख्यानों में वितीर्ण करना शुरू किया। न्यायतः उनका यह कर्त्तव्य था कि वे इस बात को ठीक समझते कि व्यर्थ के खण्डन मण्डन से उभयतः जैन जगत् का ही नाश करने वाली इस गुजराती पुस्तक की चर्चा जब २५ वर्षों से शान्ति होगई थी तो फिर इसका हिन्दी भाषान्तर क्या मतलब रख सकता है? यही न कि जैनों में कोई हिन्दी का जानकार लेखक तो है ही नहीं जो इसको प्रत्युत्तर देगा, और ऐसा होने से अपना मतलब निकल जायगा परन्तु यह समझना केवल उनका भ्रम ही है। जहाँ जहरीले कीड़े मलेरिया फैलाने को उड़ते हैं वहाँ जगत् रक्षणार्थ कोई न कोई ऐसी हवा प्रवाहित हो ही जाती है जिससे उन कीड़ों का स्वयं इलाज हो जाता है।

अस्तु! उस पुस्तक के हिन्दी भाषान्तर के पढ़ने से भी यही विदित होता है कि इसके प्रकाशकों में शास्त्रीय और ऐतिहासिक ज्ञान के साथ सामयिक ज्ञान का भी पूरा अभाव है। उन्होने ऐसा सोचा ही नहीं कि ऐक्य बढ़ाने के इस जमाने में क्लेशवर्धक साहित्य वितरण करने से हमारी हँसी होगी या प्रशंसा? इससे लाभ होगा या हानि?। यद्यपि यह सबकुछ है किन्तु फिर भी निःसार पुस्तकों का प्रत्युत्तर देने में न तो मेरी रुचि है और न मेरे पास इतना समय ही है। पर कई एक भद्रिक सज्जनो ने मुझे हद से ज्यादा कहा सुना तो मैंने उन भद्रिक जीवों के भ्रम निवारणार्थ सच्ची बातें जाहिर करने को कुछ समय निकाल नोंध का प्रत्युत्तर लिखने में हाथ डाला है।

हालांकि मैंने नोध की पूरी की पूरी समालोचना इस पुस्तक में नहीं की है, और क्षीण कलेवर पुस्तक में ऐसा होना भी असंभव है किन्तु फिर भी जो खास २ बातें थी उनका सप्रमाण सविस्तर से निराकरण किया है। यदि स्थानकवासी भाई भी इसे निष्पक्षपात बुद्धि से विचारेंगे और आद्योपान्त पढ़ेंगे तो वास्तविक सत्य का निर्णय स्वयमेव हो जायगा। तथा यह भी जाहिर हो जायगा कि वा० मो० शाह ने जैनों पर या लौंकागच्छीय यति श्रीपूज्यों पर जो मिथ्याऽऽक्षेप किये हैं वे प्रकृत में जैन धर्म को ही हानि पहुँचानेवाले हैं। शाह लिखित पुस्तक से जैन समाज में पारस्परिक वैमनस्य और राग द्वेष की वृद्धि के अलावा और कोई लाभ नहीं है।

मैंने शाह के आक्षेपों का निराकरण, शाह की भाँति केवल कपोल कल्पित बातों पर ही नहीं किया है किन्तु इतिहास के प्रमाणों और खास कर लौंकागच्छीय यतियों के प्रमाणों से किया है। आशा है पाठक गण! इस लघु पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ कर अवश्यमेव सारासार का विचार कर लाभ उठावेंगे, यही शुभ भावना है।

ता० २१-८-३६
पाली (मारवाड़)

"ज्ञानसुन्दर"

श्री रत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला पुष्प नं० १६८

श्री मद् रत्न प्रभ सूरीश्वर पादपद्मेभ्यो नमः

ऐतिहासिक नोंध की ऐतिहासिकता

श्रीमान् वाड़ीलाल मोतीलाल शाह, ऐतिहासिक नोंध लिखते समय जनता को विश्वास दिलाने को सर्व प्रथम निम्न लिखित प्रतिज्ञा करते हैं कि।

"यह लेख लिखते वक्त मने यह निश्चय किया है कि मैं किसी का पक्षपात या विरोध नहीं करूँगा, और अपने निश्चय को प्रभु की साक्षी से पालन करूँगा × ×।"

'ऐति नों. पृष्ठ ३७'

शाह यह प्रतिज्ञा करने के पश्चात् इस प्रतिज्ञा का पालन किस तरह से करते हैं जरा इसका भी पाठक नमूना देखलें। ऐतिहासिक नोंध लिखने में शाह का खास हेतु लौंकाशाह को जीवन लिखने का ही है और यह होना अनुचित भी नहीं है। परन्तु सभ्य लेखक का यह एकान्त कर्त्तव्य है कि वह अपने मान्य पुरुष की प्रशंसा के चाहे पुल ही क्यों न बाँधे ? किंतु दूसरे तटस्थ पुरुषों की झूँठी और घृणित निंदा करना उसको योग्य नहीं। लेकिन शाह ने इसकी कतई परवाह न कर इस

नियम को किस तरह अपनी कुबुद्धि के पैरों तले कुचला है ? इसको हम आगे चल कर स्पष्ट करेंगे।

किसी भी व्यक्ति का इतिहास लिखने के पहिले उस व्यक्ति से संबन्धित इतिहास सामग्री की आवश्यकता रहती है किंतु लौंकाशाह का जीवन लिखते समय शाह के पास क्या सामग्री थी ? इसका खुलासा हम शाह के शब्दों से ही कर देते हैं:—

× × × *इतना होने पर भी हम उनके खुद के चरित्र के लिए अभी अन्धेरे में ही हैं × × लौंकाशाह कौन थे ? कब ? कहाँ २ फिरे, इत्यादि बातें आज हम पक्की तरह से नहीं कह सकते हैं। जो कुछ बातें उनके बारे में सुनने में आती हैं उनमें से मेरे ध्यान में मानने योग्य ये जान पड़ती हैं × ×*

ऐ. नो. पृष्ठ ५६

× × × *पर इस तरह का उल्लेख उनके निगुणे भक्तों ने कहीं नहीं किया कि लौंकाशाह किस स्थान में जन्मे ? कब उनका देहान्त हुआ ? उनका घर संसार कैसे चलता था वे थे किस सूरत के, उनके पास कौन २ शास्त्र थे ? इत्यादि २ हम कुछ नहीं जानते हैं।*

ऐ नो पृष्ठ ८७

मैं इस बात को अङ्गीकार करता हूँ कि मुझे मिली हुई हकीकतों पर मुझे विश्वास नहीं है क्योंकि हमारे यहाँ इति-

हास लिखने की प्रथा नहीं होने से जुदी जदी याददास्ती में जुदा जुदा हाल लिखा है × × ×

ऐ. नो. पृष्ठ ८७

इस प्रकार श्रीमान् शाह, प्रभु की साक्षी पूर्वक उपरोक्त लेख लिखते हैं इससे इनकी लिखी बातों में किसी प्रकार की असत्यता एवं शंका को स्थान तक नहीं मिलता है पर शाह को यदि पूछा जाय कि जब आप लौंकाशाह के विषय में कुछ भी नहीं जानते हैं कि यह कब जन्मे ? कब मरे ? तथा कैसे इनका घर संसार चलता था ? कहाँ २ इन्होंने भ्रमण किया, कौन शास्त्र इनको प्राप्त थे इत्यादि तो फिर आपने अपनी ऐति० नोंध में लौंकाशाह को बड़ा भारी साहूकार, धनाढ्य, राजकर्मचारी, विद्वान्, शास्त्र मर्मज्ञ और एक ही वर्ष में अपने नव निर्मित मत को भारत के पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक फैलाने में लाखों चैत्य-वासियों को दया धर्मी बनाने वाला किस आधार से लिखा है ? क्योंकि उपर्युक्तभवत प्रमाण से न तो झूंठ ही लिख सकते हैं और न लौंकाशाह विषयक आपके पास कुछ प्रमाण ही हैं तथा यह भी संभव नहीं कि आप अपने अतिशय ज्ञान पूर्वक ये सब बातें लिख देते ? फिर समझ में नहीं आता है कि ये बातें आपको कैसे मालूम हुई । क्या लौंकाशाह स्वयं तो जन्म ले के आपके अंदर नहीं आ घुसे हों कि जिन्होंने अपना सारा का सारा किस्सा अतिशयोक्ति पूर्वक ब्यौरेवार आपसे लिखवा दिया ? यदि आपने लौंकाशाह का जीवन कल्पित उपन्यास लिखा है तो प्रभुकी साक्षी से की हुई आपकी प्रतिज्ञा का पालन क्यों कर हुआ, और सच्चा लिखा है तो पूर्व में प्रमाणों के अभाव का रोना क्या

रहस्य के तौर पर बतलाता है ? अतः स्वतः आपकी नोंध की सत्यता में संदेह होजाता है।

वस्तुतः लौंकाशाह का जीवन कैसा था, इसका तात्विक विवेचन हमने "लौंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश" नामक पुस्तक में लौंकाशाह के समकालिक साहित्य के आधार पर भिन्न २ विषयों पर पच्चीस प्रकरण लिख कर, इसी पुस्तक के साथ मुद्रित करवा दिया है जिन्हें इच्छा हो वहाँ देखलें।

उदाहरणार्थ, उस लेख का सारांश यह है:—"लौंकाशाह का जन्म वि० सं० १४८२ में लींबडी नगर में दशा श्रीमाली डूंगरशाह की चूडा भार्या की कुक्षि से हुआ था। जब लौंकाशाह आठ वर्ष के हुए तब आपके पिता का देहान्त होगया। लौंकाशाह की बाल्याऽवस्था में आपकी भुआ (फूफी) के बेटे लखमसी ने आपका जो थोड़ा बहुत द्रव्य शेष बचा था उसे हड़प कर लिया बाद में लौंका की १६ वर्ष की वय में उनकी माता भी काल-कवलित होगई। लौंकाशाह एक दम से निराधार होगए और लींबड़ी छोड़ अहमदाबाद आये। वहाँ कुछ काल तक नौकरी कर अपनी मिथ्याऽभिमानिता के कारण उसे बीच में ही छोड़ कोडी टकों की थैली ले नाणावटी का धंधा करना शुरू किया। उस समय लौंकाशाह स्वयं सदा देवपूजा व सामायिकादि क्रिया करते तथा यतियों के यहाँ उपासरों में व्याख्यानादि सुनने जाया करते थे। यतियों के आचारादि के विषय में लौंकाशाह और यतियों के आपस में तकरार होगई। लौंकाशाह की प्रकृति अति उग्र और अभिमान वाली थी। अतः यतियों ने उनका अपमान कर उपासरा से बाहिर कर दिया। तब लौंकाशाह वहाँ बाहिर आ के बैठ

यतियों की निंदा करने लगा। उस समय आपके मित्र शैयद (मुसलमान) लिखारे का सहयोग मिलगया तो उस यवन के संसर्ग एवं उपदेश से लौंकाशाह की बुद्धि में विकार हो आया। यतियों का निमित्त ले, मन्दिर उपासरों से विरोध के कारण लौंकाशाह ने जैन साधु, जैनागम, जैन मंदिर सामायिक, पौसह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान दान और देव पूजा का बहिष्कार करते हुए, पाप-पाप, हिंसा-हिंसा आदि की पुकार कर अपना एक नया मत खड़ा कर दिया, परन्तु अहमदाबाद कोई छोटा गाँव तो था नहीं जो झट से लौंकाशाह की वहाँ तूती बोल जाती, प्रत्युत अहमदाबाद तो तत्समय में जैनों का प्रधान केन्द्र था, अतः वहाँ लौंकाशाह की थोथी आवाज को कौन सुनता ? तब वहाँ से खिन्न और तिरस्कृत हो लौंकाशाह अपने जन्म स्थान लींबड़ी गए और वहाँ अपने फूफी के बेटे भाई लखमसी जो वहाँ का प्रधान राज कर्मचारी था उसकी शरण जा सब हाल सुना कर अपने मन के दूषित विचार प्रकट कर दिये, तब लखमसी ने कहा कि तुम लींबडी के राज्य में बेधड़क हो अपने विचारों का प्रचार करो। परन्तु लौंकाशाह उस समय अतिवृद्ध और अपङ्ग थे अतः इतने संकुचित समय में अपने मत का स्वयं प्रचार नहीं कर सके। फिर भी भवितव्यता वश उन्हें .भाण आदि तीन मनुष्य मिल गए, और लौंकाशाह को समझाया कि आप जो सामायिकादि क्रियाओं का विरोध करते हो यह ठीक नहीं; कारण, इनके बिना न तो श्रावकों का काम चलता है और न आपका ही मत चल सकेगा ! उस समय कालातिक्रम से लौंकाशाह का क्रोध भी कुछ शान्त हो गया था, अतः भाणादि का कहना

उन्होंने स्वीकार कर लिया। तथा पूर्व में अज्ञता वश जो सामायिकादि क्रियाओं का बहिष्कार कर पाप सञ्चय किया था उसके मार्जनार्थ पश्चाताप और प्रायश्चित कर गोशाला की भाँति अपनी आत्मा को समझाया परन्तु पकड़ी हुई बात एकदम छूटनी मुश्किल हो जाती है फिर भी जैन यतियों और जैन मन्दिर के साथ उनकी जो मनोमालिन्यता थी वह समयाऽभाव के कारण दूर नहीं हो सकी क्योंकि वि० सं० १५३२ में तो लौंकाशाह का देहान्त ही हो गया पर जो लौंकाशाह की विद्यमानता में ही भाणादि तीनों मनुष्यों ने विना गुरु स्वयं साधु वेश पहिन लिया था, लौंकाशाह के पश्चात् लौंकाशाह के नाम से ही अपना लौंकामत फैलाना शुरु किया, इत्यादि—

संक्षेपमें लौंकाशाह का सच्चा और प्रमाणिक यही जीवन इतिहास है, और इस विषय में वि०सं० १५४३ के पं० लावण्यसमय के वि०सं० १५४४ के उपाध्याय कमलसंयम के १५२७ तथा मुनीविका के एवं वि० सं० १५७८ के लौंकागच्छीय यति भानुचन्द तथा बाद यति केशवजी और स्थान० साधु जेठमल जी के लिखे ग्रंथ, इससे सहमत है। किन्तु आधुनिक वा० मो० शाह के लिखा हुआ लौंकाशाह के जीवन चरित्र में और पूर्वोक्त लेखको के लेख में बड़ा भारी अन्तर नजर आता है अतः यह स्वतः सिद्ध है कि शाह का लेख सारा का सारा उनकी खुद की कल्पना का ढाँचा है। शाह की लिखी समग्र दलीलों का हमने अपनी लौंकाशाह के जीवन पर ऐतिहासिक प्रकाश नाम की पुस्तक में सप्रमाण निराकरण किया है, तदर्थ अब उनका पुनः पिष्ट पेषण करना उचित नहीं, जिन किन्हीं को आवश्यकता हो, उसे पढ़कर अपना निर्णय कर लें।

परमेश्वर की साक्षी से प्रतिज्ञा करने वाले शाह ने लौंकाशाह की ओट मात्र ले जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं की जिस प्रकार निन्दा की है उसे यहाँ बतलाने की अब कुछ आवश्यकता शेष नहीं रह जाती। क्योंकि शाह के समय में और सांप्रत के समय में निशादिन का अन्तर है। जो लोग द्वादश वर्षीय दुष्काल में शिथिलाचारियों द्वारा मूर्त्तिपूजा का आरम्भ मानते थे वे ही आज भगवान् महावीर प्रभु के बाद केवल ८४ वर्षों में ही सुविहिताचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित मूर्त्तिपूजा का अस्तित्व अङ्गीकार करते हैं। इस हालत में उस असामयिक चर्चा को यहाँ स्थान देना अनुपयुक्त है, परन्तु केवल खास स्थानकमार्गी मुनि श्री मणिलालजी का ही एक उदाहरण दे के यह बतला देना चाहते हैं कि अब मूर्त्तिपूजा विषयक खण्डन मण्डन करने की किंचित् भी जरुरत नहीं है। वे कहते हैं:—

" सुविहित आचार्यों ए श्री जिनेश्वर देव नी प्रतिमा नुं अवलम्बन बताव्यूं अने तेनु जे परिणाम मेलववा आचार्यों ए धार्युं हतुं ते परिणाम केटलेक अंशे आव्युं पण खरूं। अर्थात् जिनेश्वर देव नी प्रतिमानी स्थापना अने तेनी प्रवृति (पूजा) थी घणा जैनों जैनेतर थता अटक्या अने तेम करवामा ओ आचार्यों ए जैन समाज पर महान् उपकार कर्यो छे अेम कहवामा जरा ए अतिशयोक्ति नथी "

प्रभुवीर पटावली पृ० १३१

मूर्त्तिपूजा और शत्रुञ्जय, गिरनार आदि तीर्थों की पुष्टी के लिए आपने केवल जैन धार्मिक साहित्य का ही नहीं, पर कई

एक जैनेतर धर्मों के वेद और पुराणों का भी परिशीलन कर अनेक प्रमाण देकर हजारों लाखों वर्ष पूर्व के तीर्थ और मूर्त्तियों का होना सिद्ध कर दिया है, देखो! स्वामीजी कृत प्रभुवीर पटावली पृष्ट ५ से १२ तक। स्वामीजी की इस निष्पक्ष न्याय प्रियता के लिए उन्हें धन्यवाद देना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है।

अस्तु ! आज जो मूर्त्ति विषयक ऐतिहासिक प्राचीन प्रमाण स्थानकवासियों को मिले है, वे यदि वा. मो. शाह के हाथ भी लग जाते तो उक्त महाशय ऐसी लाचर दलीलें देकर कर्म बन्धन के पात्र कदापि नहीं बनते। वे प्रमाण आज यत्र तत्र मुद्रित हो चुके हैं, इतने पर भी संतोष न हो, वे मेरी लिखी "मूर्त्तिपूजा का प्राचीन इतिहास" नामक पुस्तक देख मूर्त्तिपूजा की प्राचीनता के पोषक प्रमाणों को पढ़लें, और अपना अन्तिम निर्णय कर जैन तीर्थङ्करों की मूर्त्तियों की द्रव्य भाव से पूजा कर अपने आत्म-कल्याण संपादन में संलग्न रहें।

श्रीमान् शाह ने अपनी ऐतिहासिक नोंध को पूर्णतया लिख उसे समर्पण करने के समय जिस निष्पक्ष मनोवृत्ति का परिचय दिया है उसकी यहाँ पृथक आलोचना करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, कारण, शाह की यह दूषित कल्पना स्वयं स्थानकवासी समाज को भी अनुचित एवं असामयिक प्रतीत हुई है, जिससे उन्होंने नोंध का गुजराती से हिन्दी भाषान्तर करते वक्त उस विषय को पुस्तक मे से कतई निकाल दिया है। यद्यपि न्यायतः यह ठीक था, परन्तु इससे शाह की निंद्य मनोवृत्ति की तो जरूर भर्त्सना ही हुई है; फिर भी इससे एक लाभ है कि इस कल्पना को लक्ष्य कर अन्यान्य लेखक शाह के विषय में जो अपने

विचार प्रकट करते, उससे बचने का शाह को जरूर श्रेय मिल गया है। इस बुद्धिमानी के कार्य से यह भी प्रकट होता है कि भाषाऽन्तरकार समयज्ञ तथा व्यर्थ के हानिप्रद झमेलों को दूर करना चाहते हैं।

इससे आगे चलकर पाठक शाह की निष्पक्ष पात वृत्ति का नमूना फिर देखें कि उन्होंने अपनी नोंध के पृष्ठ ४७ से भगवान् महावीर के बाद जो आचार्य हुए, उनका जीवन इतिहास लिखने की जो उदारता दिखाई है, पर वह शाह के माने हुए ३२ सूत्रों से सिद्ध नहीं होती, और यदि यह मानें कि यह इतिहास इन्होंने ३२ सूत्रों से न ले कर अन्य जैनाचार्यों के निर्मित ग्रन्थों से लिया है तो, उनके अन्दर से कई एक प्रधान घटनाओं को निकाल देना यह कोई निष्पक्ष न्याय प्रियता का परिचय नहीं है। यह तो मात्र अति निंदनीय चोरी प्रक्रिया का उदाहरण है। योग्यता तो यह थी कि शाह को यदि जैनाचार्यों की लिखी वे सत्य घटनाएँ नापसन्द थीं तो उन्हें ज्यों की त्यों लिख फिर उन पर अपना स्वतंत्र नोट लगाना था, परन्तु ग्रंथकर्त्ता की मूल रचना को ही हड़प करना मानों एक सत्य साहित्य का खून करना है और ऐसा करना सर्व साधारण तथा विशेष कर प्रभु की साक्षी से निष्पक्ष भाव से लिखने की प्रतिज्ञा करने वाले शाह के लिए तो लज्जा का ही कारण है। नीचे जरा नमूना देखलें:—

(१) आचार्य शय्यम्भव सूरि के इतिहास में यज्ञस्तम्भ के नीचे श्रीशान्तीनाथ की प्रतिमा थी और उसके दर्शन से ही आपने प्रतिबोध पाकर यज्ञ का कार्य छोड़ जैन धर्म की दीक्षा ली

थी, परन्तु शाह ने प्रतिमा पूजन सिद्धि के भय से इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया।

(२) आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने दस सूत्रों पर निर्युक्तिएँ बनाई थीं, और उन निर्युक्तियों में शत्रुञ्जय, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा करने से सम्यक्त्व निर्मल होना बतलाया है। जिसे भी शाह ने छोड़ दिया।

(३) आचार्य सुहस्ती सूरि के इतिहास में आपने सम्राट् सम्प्रति को प्रतिबोध कर जैन बनाया, और आचार्यश्री के उपदेश से सम्राट संप्रति ने भारत के बाहिर पाश्चात्य प्रदेशों में भी जैन धर्म का प्रचार किया, तथा भारतमें सवा लाख नये मन्दिर बनाए। और ६०००० जीर्ण मन्दिरों का उद्धार करवाया, इत्यादि, जिसे भी लिखने से शाह ने आनाकानी करदी।

(४) आचार्य वज्रस्वामी के इतिहास में बोधराजा जैन मन्दिरों के लिए पुष्प नहीं लाने देते थे। आचार्य वज्रस्वामी ने अपनी लब्धि के प्रयोग से पुष्प लाकर बोधराजा को प्रतिबोध कर जैन बनाया। इसका उल्लेख भी शाह ने छोड़ दिया।

(५) आचार्य सिद्धसेन सूरि के इतिहास में उन्होंने राजा विक्रम को प्रतिबोध दे जैन बनाया और अवंति पार्श्वनाथ का तीर्थ प्रकट किया, इसका निर्देश भी शाह ने छोड़ दिया, तथासाथ में ही सम्राट विक्रम ने श्री सिद्धाचलजी का विराट्संघ निकाला, उसे भी नहीं लिखा।

इत्यादि-जहाँ जहाँ मन्दिर मूर्त्तियों का उल्लेख आता है, वहाँ वहाँ शाह ने अपने पूर्वजों की तस्कार वृत्ति का अनुकरण कर उस विषय को ही निकाल दूर फेंक दिया। हम पूछते हैं कि शाह

की इस अनुचित वृत्ति से उनकी पूर्व प्रतिज्ञा का क्या बलिदान नहीं हुआ है ?

इससे आगे शाह ने अपनी ऐ.नो. पृष्ट ३० में कई अर्वाचीन आचार्यों के रचित ग्रंथों के उदाहरण देकर अपनी अनभिज्ञता का दिग्दर्शन करवाया है। क्योंकि शाह के मान्य मत की टूटी फूटी टटपूँजी दुकान में सो मिलता ही क्या है ? जिसका कि शाह अपनी पुस्तक में स्वतंत्र वर्णन करते। हाँ, जैनधर्म जरूर विशाल दुकान रूप है जिसमें अच्छा से अच्छा सब तरह का माल मिलता है जैसे जैनागमों में बारहवाँ दृष्टिवाद नामक अङ्ग है जिसमें धार्मिक, राजनतिक सांसारिक, व्यापारिक, वैद्यक, ज्योतिष, शकुन, स्वरोदय, समाम, मंत्र यत्र आदि सांसारिक छोटे से बड़ा सब प्रकार का उल्लेख है। ऐसा कोई भी विधान शेष नहीं है जो इस दृष्टिवादाङ्ग में नहीं हो ! इस दृष्टिवाद के रचयिता भी कोई साधारण व्यक्ति न हो कर स्वयं तीर्थङ्कर गणधर हैं और इनकी परम्परा में अनेकों धर्म धुरन्धर बड़े बड़े विद्वान आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अनेकों विषयों पर अनेकाऽनेक उत्तम ग्रंथ रचे हैं। पर शाह को इतना ज्ञान ही कहाँ है कि वस्तु धर्म का प्रतिपादन करना ज्ञान का विकास है और आदेश उपदेश देना तथा नहीं देना यह चारित्र धर्म का रक्षण है। जब शाह कई एक साधारण ग्रंथों को देखते हैं तो उनका पेट फूल उठता है, और जैनाचार्यों की मिथ्या निंदा करने को उतारू हो जाता है, पर खास शाह के माने हुए ३२ सूत्रों में चन्द्रप्रज्ञाप्ति और सूर्य प्रज्ञाप्ति नामक सूत्र है उनको देखने पर यह मालुम होगा कि इन मूल सूत्रों में भी कैसे कैसे विधान हैं जो नक्षत्रों के अधिकार में आते हैं।

क्या वस्तु धर्म का प्रतिपादन करना, यह जनता को उपदेश देना है ? नहीं। यदि नहीं है तो फिर शाह को समझना चाहिये कि उन ग्रन्थकारों ने वस्तु धर्म का प्रतिपादन करने में क्या बुरा किया, उनकी ओट में जैनधर्म के स्थम्भ धुरंधर आचार्यों की निंदा की जाय फिर भी कोई व्यक्ति यदि जैनधर्म के विरुद्ध कुछ लिखे तो उसकी जिम्मेवारी समस्त जैनसमाज पर कदापि नहीं हो सकती।

शाह, स्वयं क्या यह मानने को तैयार हैं कि यदि कोई स्थानकवासी अपने समाज मान्यता के विरुद्ध कुछ लिखे तो उसका उत्तरदायित्व सर्व स्थानकवासी समाज पर होगा ? ।

शायद यह संभव हो सकता है कि यदि शाहकी एक आँख में पेचक का रोग होगया हो तो उनका लक्ष्य बिन्दु जैन-धर्म के उत्तमोत्तम ग्रन्थों की ओर नहीं जा सका हो। जैसे:—"अने-कान्तजयपताका, अनेकान्तवाद-प्रवेश, स्याद्वादरत्नाकर, स्याद्वाद मञ्जरी, सम्मतितर्क, प्रमाण नय तत्त्वाऽलंकार, न्यायाऽऽलोक, न्यायाऽवतार, न्यायाऽमृततरङ्गिणी, न्यायप्रवेश, नयचक्रवाल, नय द्रव्यप्रमाण, द्रव्याऽलङ्कार, कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, पंचासक, पंचप्रमाण, प्रमाणमीमांसा, तत्वप्रवेश, सर्वज्ञसिद्धिप्रकरण, अध्यात्म कमल मार्त्तण्ड, अध्यात्मसार, अध्यात्मदीपिका, अध्यात्म कल्पद्रुम, ध्यानसार, ध्यानदीपिका, योगप्रदीप, योगकल्पद्रुम, योगसार, तत्त्वार्थसूत्र, षड्दर्शनसमुच्चय आदि हजारों लाखों ग्रन्थ हैं जिनकी कि पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से भूरि भूरि प्रशंसा की है। परन्तु वा० मो० शाह को इससे क्या मतलब, उन्हें तो "येन केन प्रकारेण" जैनाचार्यों को

हलका दिखाना तथा उनकी निंदा करना है और इसके लिए वे अच्छे बुरे चाहे जिस किसी मार्ग का अवलंबन करने को तैयार भी हैं। शास्त्रकारों ने ठीक ही कहा है कि "काग कुत्ता कुमाणसों, सूअर और साँडा ये अच्छे पदार्थों को छोड़ बुरी वस्तुओं पर ही अपनी जीभ लप लपाया करते हैं और बदला में विषय उगलते हैं।"

आगे जैनाचार्यों के ज्ञान के विषय शाह के ये उद्‌गार उन जैनाचार्यों के प्रति व्यक्त किये हैं जो मन्दिर मूर्त्तियों के मानने वाले और मुँह पर दिनभर मुँहपत्ती बाँधने का निषेध करने वाले हैं। क्योंकि शाह स्वयं तो मन्दिर मूर्त्तियों की पूजा छोड़कर और दिनभर मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने में ही जैनधर्म की उन्नति मानता है, और यह ज्ञान (वस्तुतः अज्ञान) उन पूर्ववर्त्ती जैनाचार्यों में नहीं था, और न उन्होंने ऐसा उपदेश ही दिया, इससे ये धुरन्धर जैनाचार्य शाह को फूटी आँख भी नहीं सुहाते हैं। आगे शाह ने जो आक्षेप आचार्यों के उन अलौकिक चमत्कारों पर किया है, यह भी शाह की मात्र अज्ञता ही है। शाह ने शायद इन चमत्कारों को बच्चों का खेल ही समझ लिया है, पर यह ऐसा नहीं है। शाह यदि किन्हीं जैन विद्वान की कदमपोषी कर उनसे उत्पत्तिक-सूत्र सुनने का कष्ट करते तो उनका यह भ्रम भी दूर हो जाता, और यह पता चल जाता कि जैन धर्म में इन चमत्कारों का आसन कितना ऊँचा है और ये किन घोर तपों द्वारा प्राप्त होते हैं। जैनशास्त्र जिन्हें लब्धि नाम से पुकारते हैं वही चमत्कारों का पर्यायवाची शब्द है। जब एक समय शाह के पूर्वज तथा लौंकाशाह आदि के पूर्वज जो कि मांस, मदिरा, व्यभिचार आदि कुव्यसनों का

सेवन कर नरक के अधिकारी बन रहे थे तब भी तो इन्हीं आचार्यों ने अपने आत्मिक चमत्कार बता कर उन नरकाभिमुख मनुष्यों को जैनधर्म में दीक्षित कर उन्हे तथा उनकी सन्तान को मोक्ष या स्वर्ग के अधिकारी बनाया था, प्रत्युपकार में शाह आज उन्हीं आचार्यों का ऐसे निंद्य शब्दों से प्रत्युपकार कर रहा है, क्या शाह की यही कृतज्ञता दृष्टि है ? यदि हाँ ! तो ऐसे कृतज्ञों को एक बार नहीं अनेको बार सभ्य संसार की ओर से धन्यवाद (!) है '

वस्तुतः जैनाचार्यों ने अपने ज्ञानोपदेश और आत्मिक चमत्कारों से केवल जैनसमाज का ही नहीं अपितु जैनेतर एवं सर्व संसार का हित साधन किया है, परन्तु कृतघ्न और दृष्टि राग रोगी वा० मो० शाह को उपकार अपकार के रूप में ही नजर आता है । अरे शाह ! उन आचार्यों में ज्ञानोपदेश की शक्ति थी या नहीं और उन्होंने कोई उन्नति की, या नहीं ? इसकी वास्तविकता को तो जैन और जैनेतर सुज्ञ समाज भले प्रकार से जानता ही है, आपको उन्हे बताने की कोई जरूरत नहीं । पर हाँ ! आप के माने हुए उन आचार्य प्रवरो के ज्ञान और उपदेश का नमूना तो जरा आप को दिखाना था कि जिन्होंने सिवाय जैनों के पतन और जैनों पर कलङ्क कालिमा पोतने के और भी कोई संसार मे आकर कार्य किया था ?

शाह ने ऐ० नो० पृष्ठ १८ पर एक दुष्काल का वर्णन करते वक्त जैन साधुओ के हाथ में दंड रखने की प्रथा को और श्रावक के वन्दना करने के अनन्तर आचार्यश्री की ओर से दिये जाने वाले 'धर्मलाभ' नामक आशीर्वचन को उपहास का रूप दे उसके

विषय में नितान्त अज्ञता का परिचय दिया है। पर शाह को यह मालूम नहीं कि जैन साधुओं को गमन समय में दंडा रखना श्री दशवैकालिक सूत्र, प्रश्नव्याकरण सूत्र, भगवतीसूत्र, व्यवहारसूत्र निशीथसूत्र आदि धार्मिक ग्रन्थों में परम आवश्यक बतलाया है, और ये सब सूत्र ३२ सूत्रों के अन्तर्गत हैं तथा शाह स्वयं इन्हें मानते हैं। इतना ही क्यों स्था० साधु अमोलखर्षिजी ने पूर्वोक्त सूत्रों के हिन्दी अनुवाद में साधुओं के दंडा रखने का विधान अच्छी तरह से किया है। पक्षपातका चस्मा दूरकर शाह जैनशास्त्र सुनता तो महापुरुषों को निन्दा कर कर्म बन्ध करने का समय नहीं आता। "धर्मलाभ" के विषय में तो खास भगवान् महावीर प्रभु ने भी सुलसा चरित्र में सुलसा को धर्मलाभ कहलाया था। नन्दी-सेन मुनि ने वेश्या के घर जाकर जब उसे 'धर्मलाभ' दिया, तब वेश्या ने कहा, यहाँ तो अर्थलाभ है, इस उपाख्यान का हमारे साधुमार्गी भी मानते हैं। तथा हरकेशी मुनि ने भी यज्ञ मण्डप में जाकर सर्वप्रथम तत्रस्थ ब्राह्मणको धर्मलाभ ही कहा था। इसी प्रकार आगे चलकर भगवान् महावीर प्रभु के ३० वर्ष बाद आचार्य श्रीस्वयंप्रभसूरि ने श्रीमालनगर की राजसभा में प्रवेश करते वक्त जब राजा ने सामने आकर आचार्यश्री को वन्दना की तो आचार्य श्रीस्वयंप्रभसूरी ने राजा को धर्मलाभ दिया। शिवपुराण नामक एक प्राचीन ग्रन्थ※में भी इस बात का उल्लेख है कि जैनमुनियों को जब कोई आकर नमस्कार करता है तब वे प्रत्युत्तर में सर्व प्रथम उन्हें धर्मलाभ कहते हैं। पर शाह का द्वेष

※ स्थानकवासी साधु मणिलालजी अपनी "प्रभुवीर पटावली" नामक पुस्तक के पृष्ठ ८ पर शिवपुराण अध्याय २१ श्लोक २६ को उद्धृत

तो सीमा को उलाँघ गया है अतः उन्हें वन्दना के आशीर्वाद रूप में दिया जानेवाला धर्मलाभ शब्दभी खटक रहाहै किन्तु यह शाह की मिथ्या भ्रान्ति है। शाह को पहिले यह तो विचारना था कि जब शाह के धर्माचार्य पहिले "हाँजी" और अब "दयापालो" कहते हैं यह किस आधार से कहते हैं।

वास्तव में धर्मलाभ आशीर्वादाऽऽत्मक है, जब दया उपदेश है। जब भक्तजन आ के साधुको नमस्कार करते हैं तब साधु द्वारा उन्हें उपदेश के स्थान में आशीर्वाद देना ही युक्तियुक्त एवं न्याय सङ्गत है अतः वन्दनाऽनन्तर जैन श्रावक के प्रति "धर्मलाभ" अर्थात् सम्यक् ज्ञान दर्शन व दानाऽऽदिक धर्म की वृद्धि हो ऐसा उच्चारण करते हैं! परन्तु शाह एवं शाह के पूर्वजों को इतना लौकिक ज्ञान भी नहीं कि वन्दना करने वालोंको आशीर्वाद देना चाहिए या उपदेश, इसका निर्णय कर सकें?

कई अज्ञ लोग ऐसा भी कह उठते हैं कि साधुको गृहस्थों के घर में चुपचाप जाना चाहिये कि जैसा हो वैसा निर्वद्य आहार पानी मिल जाय, क्योंकि धर्मलाभादि कोई संकेत करके जाने में गृहस्थ दोष लगा देने की शंका रहती है? यह कहना नीतिशास्त्र के अनभिज्ञोंका है। क्योंकि एक गृहस्थ दूसरों के नहीं पर अपने घर में जाता है उस वक्त भी कुछ संकेत करके जाता है क्योंकि घरमें स्त्रियें स्नान करतीहो या असावधान लज्जातज के बैठी हो तो

कर धर्मलाभ शब्द को ५००० वर्ष का प्राचीन बतलाया है तद्यथा:—

"धर्मलाभ" परन्तस्त्वं, वदन्त स्ते तथा स्वयम्।
मार्जनीं धार्यमाणा स्ते, वस्त्र खण्ड विनिर्मिताम्॥ २६॥

वे सावधान होजाय। तब साधु जैसे महाविवेकी पुरुष, चोर की तरह गुपचुप किसी के घरमें जाना कैसे पसन्द करसकें? उनको तो धर्मलाभादि संकेत अवश्य करना ही चाहिये! अब रही आहार पानी की बात,सो जो श्रावक साधुओं का आचार व्यवहार जानता है वह तो कदापि सावद्य को निर्वद्य कहेगा नहीं कारण ऐसा करने से अल्पायुष्य का बन्ध होता है और जो साधुओं का रागी ही नहीं है उसे ऐसा करने को जरूरत ही क्या! दूसरा, साधु बड़े ही विवेकी होते हैं। वे स्वयं अपनी प्रज्ञा से सब कुछ जान सकते हैं और साधु जो दोष टालतेहैं वह भी व्यवहारसे क्योंकि निश्चय तो अतिशय ज्ञान वाले ही जानते हैं परन्तु लोकव्यवहार न जानने वाले साधु कभी चोरों की तरह गुप चुप गृहस्थों के घर में प्रवेश करने से धोखा खाकर लज्जित होते हैं इसके लिये एक टुक शहर का उदाहरण है कि एक विवेकहीन स्था० साधु ने एक गृहस्थ के घर में गुपचुप चोर की तरह प्रवेश किया। उस समय उस घर में स्त्री पुरुष एकान्त मे काम क्रीड़ा कर रहे थे। साधु ने अन्दर जाकर कहा, बाई सूजति है? उस पुरुष को इतना गुस्सा आया कि साधु के एक लप्पड़ जमादी। उस समय उसको सहसा कहना पड़ा कि जो संवेगी साधु संकेत पूर्वक गृहस्थों के घर में जाते हैं यह बहुत अच्छा है समझे न।

आगे चलकर ऐ० नों० पृष्ट १९ पर शाहने दुष्काल में मूर्त्ति के सामने जैनसाधुओं द्वारा अन्नादि द्रव्य भेंट करवाने की कल्पना कर डाली इत्यादि, पर शाहको सोचना चाहिए था कि मैं जिसका निषेध कर चुका हूँ पुन: उसका उल्लेख कैसे करूँ? शाह एक जगह तो लिखते हैं कि—

"× × × इस भयङ्कर समय में दुनियाँ स्वय ही दयाजनक स्थिति में आपड़ी और भूखों मरने लगी फिर बिचारी दान कहाँ से करती।" इत्यादि

और आगे चलकर फिर लिखते हैं " × × भगवान् की मूर्त्ति के सामने अन्नादि रखने से, द्रव्य आदि भेंट करने से, धर्म होता है, ऐसा उपदेश दिय" ऐ० नो० पृष्ठ १९

शाह ! एक कहावत प्रसिद्ध है कि पीलिये के रोगी को सारा संसार ही पीलापन लिए नजर आता है, तद्वत् विचार शून्य बुद्धि वाले को भी, सारा संसार, विचार शून्य, नजर आता है परन्तु यह केवल नादानी है, पीलिये के लिए संसार भले ही पीला हो परन्तु निरोगों के लिए वह पीला न होकर अपने खास रूप में ही है, वैसे ही आप विचार शून्य हैं अतः परस्पर विरोधोक्ति पूर्ण वातें आपको भले ही रुचिकर जान पड़ें किंतु जिसने जरा भी विचार बुद्धि सीखी है उसके लिए आपकी ये भ्रान्ति पूर्ण वातें थोथी ही हैं। आप थोड़ी देर के लिये भी पक्षपात प्रवृति का चश्मा उतार कर यदि अपने खुद के शब्दों पर ही विचार करते तो यह स्पष्ट होजाता कि जब दुनियाँ दुष्काल के कारण भूखों मरती हुई साधुओं को भी दान देने में लाचार थी तब, उस समय में मूर्त्ति के सामने अन्नादि भेट करने की यह नई रीति निकालने का साधू उपदेश देते तो दुनियाँ उसे कैसे स्वीकार कर सकती थी यदि नहीं तो फिर शाह का कथन शाह के शब्दों से ही मिथ्या सिद्ध होजाता है। वस्तुतः भगवत् मूर्ति का अष्ट द्रव्य से पूजा करने का विधान कोई नया नहीं किंतु स्वयं तीर्थङ्करों का कहा

हुआ है, अतः चाहे जैसा ही दुष्काल क्यों न पड़े पर भावुक भक्तजन तो जहाँ तक मिल सकता है वहाँ तक प्रभु पूजा करके ही भोजन करते हैं, और इसी का ही नाम इष्ट-धर्म है। क्यों समझे न ?

× × ×

शाह ने इसप्रकार सच्ची झूँठी. खबर केवल जैनाचार्यों ही की ली हो सो नहीं किन्तु आप तो लौंकागच्छीय यति और श्री पूज्यों से भी नहीं चूके हैं, चलती राह दो छींटे कीचड़ के उधर भी उछाल दिये हैं। आप अपनी ऐ० नोंध० के पृष्ठ ८१ में लिखते हैं कि.—

इस समय चतुर्विध सघ की जगह पच विध सघ हुआ, अर्थात् साधु साध्वी, श्रावक श्राविका, ऐसे संघ के चार भागों में "यति" अर्धसाधु का एक अंग और भी शामिल हुआ × ×

तथा इसके अगाड़ी शाह पृष्ट ८४ पर लौंकागच्छीय यति और श्रीपूज्यो के लिए एक झडेली ओर्डर निकालते हुए लिखते हैं कि:—

"श्वेताम्बरी. स्था० साधुओं से यतियों को अकड़ कर नहीं चलना चाहिये। किन्तु अपने से उन्हें उच्चस्थिति का मान कर विनय पूर्वक उनसे वर्तना चाहिऐ × ×"

ऐति नो पृष्ठ ८४

लौंकागच्छीय श्रीपूज्यों एवं यतियों के प्रति शाह का छिपा हुआ यह कितना द्वेष-भाव है कि चतुर्विध संघ से उनका आसन तक निकाल दिया और उनके लिए एक पाँचवें आधे आसन की

नयी कल्पना कर डाली जो आज पर्यन्त भी सिवाय शाह के किसी तीर्थङ्कर, गणधर, या जैनाचार्य ने नहीं की थी। हम शाह से पूछते हैं कि क्या यह लौंकागच्छीय श्रीपूज्यों व यतियों और उनके उपासकों का अपमान नहीं है?

जिन धर्मसिंह लवजी को लौंकागच्छीय आचार्यों ने अयोग्य और उत्सूत्रवादी जान कर संघ-गच्छ के बाहिर करदिया था, क्योंकि धर्मसिंह ने तीर्थङ्करों और लौंकागच्छ की आज्ञा को भंग कर आठ कोटि का नया मत चलाया, और लवजी ने डोरा डाल दिन भर मुँह पर मुँहपत्ती बाँधने का नया पन्थ निकाला उनको तो शाह ने चतुर्विध संघ के अंदर आसन दिया। और जो खास कर लौंकाशाह के अनुयायी हैं उनको संघ के बाहिर भी आधा आसन देने की कल्पना की। इतना ही नहीं किन्तु उन गच्छ बहिष्कृत निन्हव उत्सूत्र वादियों को लौंकागच्छीय श्रीपूज्य और यतियो से उच्च मान कर उल्टा उनसे विनय भाव से वर्त्तने का आदेश दिया, क्या यह शाह का सरासर अन्याय नहीं है? पाठक वृन्द जैन धर्म में क्रिया की बजाय श्रद्धा की अधिक कीमत है। जमाली ने बहुत कुछ क्रिया की पर श्रद्धा न होने से वह निन्हव उत्सूत्र वादियों की पंक्ति में ही समझा गया। और पार्श्वनाथ प्रभु की साध्वियों में शिथिलाचारिता होने पर भी श्रद्धा के कारण उन्हें एकावतारी बतलाई है। इसका अर्थ कोई यह नहीं कि मैं शिथिलाचार की पुष्टि करता हूँ किंतु श्रद्धा के सामने क्रिया की कोई कीमत नहीं इसे सिद्ध करता हूँ। बिना आज्ञा के तो क्रिया उल्टा कर्म बंधन का हेतु होती है यह शास्त्रों से प्रत्यक्ष है। खैर! कुछ भी हो लौंकागच्छ के यति व श्रीपूज्य शाह के निर्देश

समय लौंकाशाह की आज्ञा का निरबाध पालन कर रहे थे पर स्थानकवासियों में न तो जैनत्व है और न लौंकात्व है, यही नहीं किन्तु उनमें तो कोई सर्वमान्य नियम भी नहीं हैं, जिनके दिल में जो आया वे उसे ही मान अपना नया मत निकाल बैठते हैं। प्रमाणार्थ यह बात खुद शाह ही ने अपनी नोंध के पृष्ठ १४१ में अपने स्पष्ट शब्दों में लिखदी है कि:—

× × इतना इतिहास लिखने के बाद अब मैं पढ़ने वालों का ध्यान एक बात पर खींचता हूँ कि स्थानकवासी-साधुमार्गी जैनधर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ और जब से यह धर्म अस्तित्व में आया तब से आज तक यह जोर-शोर पर था ही नहीं। अरे! इसके कुछ निमय भी नहीं थे यतियों से अलग हुए और मूर्ति पूजा छोड़ी कि बस ढूँढिया हुआ × × × × मेरी अल्प बुद्धि के अनुसार इस तरकीब से जैनधर्म को बडा भारी नुकसान पहुँचा और इन तीनों के १३०० तेरह सौ भेद हुए।

× × × ×

ऐ० नों० पृष्ठ १४१

इस हालत में यह समझ में नहीं आता है कि शाह फिर ऐसा आर्डर क्यों निकालते हैं। शायद इसका यह कारण तो नहीं है कि लौंकागच्छीय यति व श्रीपूज्य लोग मन्दिर मूर्ति मानते हुए, डोरा डाल दिनभर मुँह पर मुँहपत्ती नहीं बाँधते हैं इसी से तो यह द्वेष पूर्ण दबाव डाला जारहा है। पर शाह को स्मरण रहे कि अब लौंकागच्छीय श्रीपूज्य और यति इतने

भोले नहीं हैं कि अपने पूर्वजों ने जिन व्यक्तियों को गच्छ से वहिष्कृत किया आज उन्हीं की सन्तान को वे अपने से उच्च-स्थिति का मान उनसे विनयता का वर्ताव करें तथा शास्त्र सम्मत मूर्तिपूजा को छोड़ शास्त्र विरुद्ध मुँहपत्ती को दिनभर मुँह पर बाँध एक नयी आपत्ति को मोल लें ?

जैसे शाह ने औरों की खबर ली है वैसे ही शाह की क्रूर दृष्टि से वे ब्राह्मण भी नहीं बचे हैं जिन्होंने जैनधर्म की दीक्षा ले आचार्यपद को सुशोभित किया था और साहित्य सेवा कर जैन साहित्य के भण्डार को भरा दियाथा। उनके विषय में शाह अपनी ऐ० नों० के पृष्ठ ३२ पर अपना रोष इस प्रकार प्रकट करते हैं कि:—

× × × *ब्राह्मणों में वैयाकरणी, नैयायिकादि हजारों मारे २ फिरते थे, उनको कोई नहीं पूछता था। जब उन्होंने देखा कि जैनियों में खूब चलती है तो उन्होंने जैन-धर्म का पक्ष किया, और इस मत के लिए सैकड़ों पद्यमय विधिग्रन्थ बना डाले। जैन उनकी विद्वत्ता को पवित्रता सम-झने लगे, और कई एक जान बूझ कर भूल में पड़े। क्योंकि उन्होंने जैसे हो तैसे मत बढाने का इरादा रक्खा था* × × ×"

यह बात ठीक है। जैनधर्म में खास कर भगवान् महावीर के शासन समुदाय में ब्राह्मणों ने विशेष लाभ उठाया। जिसमें भगवान् इन्द्रभूति (गौतम स्वामी) आदि ४४०० ब्राह्मण, शय्य म्भवभट्ट ब्राह्मण, यशोभद्र ब्राह्मण, भद्रबाहु ब्राह्मण, आर्य सुह स्ती ब्राह्मण, सिद्धसेनदिवाकर ब्राह्मण, हरिभद्रब्राह्मण, शोभ न

धनपाल ब्राह्मण, आर्यरक्षितसूरि ब्राह्मण जिनेश्वरसूरि बुद्धिसागरसूरि ब्राह्मण इत्यादि बहुत से ब्राह्मण, जैनाचार्य हुए। जो बड़े २ दिग् विजयी विद्वान् थे, तथा जिन्होंने जैनधर्म की दीक्षा लेकर नाना विषयों के विविध ग्रन्थ गद्य-पद्य-मय बनाडाले। जिनमे दार्शनिक, तात्विक, अध्यात्मिक योग ध्यान न्याय, व्याकरण, काव्य अलंकार, छन्द और विधि-विधान के हजारों ग्रंथ बना के उन्होंने साहित्य की संगठित सेवा की थी। और उनका सिद्धान्त भी यही था कि जैसे बने तैसे जैनधर्म का खूब जोरो से प्रचार करना चाहिये। अर्थात् जैन धर्म को विश्व व्यापी बनाने में उन्होंने अत्यन्त परिश्रम किया। तथा संस्कृत साहित्य की अभिनव सृष्टि रच कर संसार में जैनधर्म को एक बारगी खूब चमका दिया जिसकी गर्जना आज भी समग्र संसार मे होरही है। पौर्वात्य और पाश्चात्य जैनेतर विद्वान् आज उस साहित्य की मुक्तकण्ठ से भूरि २ प्रशंसा कर रहे हैं ऐसी दशा में क्या यह उचित है कि उन महोपकारी जैनाचार्य ब्राह्मणों की उदारता और विद्वत्ता को हम भूल जायँ?। समझ मे नहीं आता कि शाहने क्या जान कर इन जैनाचार्य ब्राह्मण विद्वानों की यह निंदा की है? तथा संस्कृत साहित्य के प्रति अपनी दूषित अभिरुचि दिखाई है? संभव है शायद शाह और शाह के पूर्वजों को पूर्णतया गुजराती भाषा का भी ज्ञान नहीं था तथा साहित्य सेवा के नाम पर शाह के पूर्वजों ने एकाध टूटी फूटी तुक बन्दी भी नहीं बनाई, इसीसे रुष्ट हो यदि शाह ने यह धृष्टता की हो तो हो सकता है। क्योंकि नीति में कहा है कि "साधवः पर संपत्तौ खलाः पर विपत्तिपुः" अर्थात् साधुपुरुष दूसरों को सम्पत्ति सम्पन्न देख, खुश होते हैं किन्तु खल (दुष्ट)

तो दूसरों को विपत्ति में देख कर ही खुश होते हैं अर्थात् दूसरों की सम्पन्नाऽवस्था दुष्टों से नहीं देखी जाती। जैसे हाथी की विशालता को देख श्वान केवल उसे नहीं सह सकने के कारण उसके पीछे भौंकता रह जाता है, तद्वत् संकुचित-विचार वृत्ति वाला शाह ने समृद्ध जैनधर्म को देख येन केन प्रकारेण उसके पुष्ट पोषकों को बुरा भला कहने ही में अपने जीवन की सार्थकता समझे है। शाह के माने हुए ३२ सूत्रों में जब श्रावक के सामायिक, पौसह प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और साधु दीक्षादिक धार्मिक क्रियाओं का विस्तृत विधि-विधान नहीं है तब जैनधर्म के लिए उन ब्राह्मणों ने प्राचीन शास्त्रों के आधार पर धार्मिक क्रियाएँ तो क्या पर गृहस्थों के सोलह संस्कारों तक के विधान रच डाले कि जैनियों को किसी भी विधान के लिये जैनेतरों का मुँह नहीं ताकना पड़े। बस ! इसी दर्द के कारण शाह के पेट में यह द्वेष का वायु गोला उठ खड़ा हुआ है और अपनी नौंध में ऊटपटाँग बातें लिख नाहक कागज काले किये हैं। परन्तु यदि विचार से देखा जाय, तब तो यह शाह की निरी अज्ञताही सिद्ध होती है। आज संसार भर में भी शायद ही कोई ऐसा मत या पंथ हो ? जो संस्कृत साहित्यका विरोध करता हो, परन्तु केवल शाह इस कल्पना के लिए अपवाद रूप खड़े हैं।

सच देखा जाय तो दुग्ध पाक और मिष्टान्न किस को रुचि-कर और पथ्यकर नहीं होता है ? पर संग्रहणी वाले को तो प्रत्यक्ष विष का काम देता है। यही हालत हमारे श्रीमान् शाह महाशय की है।

पुनः शाह अपनी ऐ० नौं० के पृष्ट ९० पर लिखते

हैं कि मेघजी स्थविर ५०० साधुओं के साथ किसी कारण से लौंका-गच्छ को छोड़ आचार्य हीरविजयजी के गच्छ में मिल गए ।

पर शाह को पूछा जाय, कि एक दो साधु तो एक साथ गच्छ से बाहिर यों ही (जबरदस्त कारण बिना) निकल सकते हैं पर मात्र ११०० साधुओं में से एक ही साथ ५०० साधुओं का पूर्व मत को त्याग कर दूसरे मत में जा मिलना बिना जबर्दस्त कारण के संभव हो नहीं सकता, अतः अपनी नोंध में यह लिखना जरूरी था कि अमुक कारण से ५०० साधु गच्छ से अलग हुए । हमारी समझ में उन्हें लौंकाशाह का मत कोई कृत्रिम या झूठा तो नहीं जानपड़ा था ? जिससे इन्होंने शीघ्रही इस मतसे अपना पिण्ड छुडा लिया । वस्तुत' देखा जाय तो यह बात ठीक भी है कि आचार्यश्री विजयहरिसूरी बड़े भारी विद्वान् और शास्त्रों के मर्मज्ञ थे । जिन्होंने अपनी विद्वत्ता और उपदेश से बादशाह अकबर जैसे यवन सम्राट् के दिल को पिघला दिया, तो विचारा लुंपक तो किस गिनती में थे जो इनकी प्रखर प्रतिभा के सामने टिक सकते । आचार्यश्री और पूज्य मेघजी का जब सर्व प्रथम समागम हुआ तब मेघजी ने जिज्ञासु भाव से मूर्त्ति के विषय में आचार्यश्री को सूत्रों के पाठ पूछे । आचार्यश्री ने बड़ी योग्यता से उनका समाधान किया जब उनके दिलमें यह सत्य बात जम गई तब इन्होंने "सर्पकंचकीविमोक" की तरह मिथ्या मत का परित्याग कर पुनः प्राचीन सत्य मत को अपने दल बल सहित स्वीकार कर लिया,और स्वामी मणिलालजी

ने भी अपनी 'प्रभूवीर पटावली' पृष्ट १८१ में पूज्य मेघजी स्वामी का आचार्य विजयहीरसूरि के पास जाना लिखा है, पर ५०० साधुओं के साथ, लिखनेमें आपकी कलम रुक गई थी। आपने केवल २७ साधुओ के साथ ही जाना लिखा है। संभव है कि उस समय पूज्य मेघजी के साथ २७ साधु ही हों? शेष कहीं आस पास में हों, जिन्हे मेघजी बाद मे बुलाते गये और अपने शिष्य बनाते गये हों और फिर वे संख्या मे ५०० हो गये हों तो आश्चर्य की बात नहीं है फिरभी शाहने समग्र संख्या एक साथही लिख दी यह भी अच्छा ही किया। क्योंकि इसमे सर्व साधारण स्वयमेव लौंकामत की सत्यता एवं शिथिलता को समझ सकते हैं।

संभव है शाह वाडीलाल ने कटुसत्य लिख दिया हो परन्तु स्वामि मणिलालजी साधु होने से अपने मत की हलकी लगने के कारण संकुचितरख शाह वाडीलालके सत्यको दवाना चाहा हो परन्तु वास्तवमें दोनोंका आशय एक ही है। श्रीमणिलालजी ने २७ साधु लिखा है तब आपको ओर ओर साधुओ को अलग अलग लिखने की आवश्यकता रही पर वाड़ीलाल ने अलग२ का झगड़ा नहीं रख एक साथ में ५०० साधु लिख दिया फिर भी आपने संकीर्णता धारण करली क्योंकि आचार्यश्री आनन्दविमल सूरि के पास लौंकामत के कुल ७८ साधु और आचार्य हेम-विमलसूरीके पास पूज्यश्री पातजी आदि ४७ साधुओं ने लोंकामत का त्यागकर जैनदीक्षा ग्रहण की थी। इसलिये ही कहा जाता है कि यह भीषण समय लोंकाशाहके हवाई किल्ले को तोड़ने वाला था. अत. एक ओर तो बड़ेबड़े पूज्य लौंकामतका त्याग करनेलगे और दूसरी

और अवशिष्ट लौंकागच्छीय पूज्यों ने मूर्त्तिपूजा को ही स्वीकार करलिया जोकि अद्याऽवधि भी लौंकागच्छ में विद्यमान है।

जहाँ २ लौंकागच्छ के उपाश्रय हैं वहाँ २ श्रीवीतराग की मूर्त्तियों की स्थापना अवश्य है। और कई एक ग्रामों में जहाँ लौंकागच्छ के यतियों का अभाव है वहाँ के उपाश्रयों की मूर्त्तिएँ तत्रत्य मन्दिरों में प्रतिष्ठित करदी गई हैं। परन्तु जहाँ जहाँ लौंकागच्छ यति हैं वहाँ तो आज भी मूर्त्तिएँ हैं। जैसे उदाहरणार्थ ग्रामो एवं नगरों के नाम यहाँ दिये जाते हैं:—

"बीकानेर, फलोदी, जोधपुर, पाली, सादड़ी, देशनोक, मजल, बड़ोदा, भावनगर, लींबड़ी, पटियाला, फिरोजपुर, अंबाला, मूमू, फरीदकोट, लुधियाना, पुगवाड़ा, राहू, टाड़ा, अहीयापुरा, जीरा पटी, गुरुकाजडियाला, जालंधर, मुर्शिदाबाद, बालुचर, मलारकोटला, सरसा, हुसियारपुर, सामरना आदि"

उपर्युक्त इन ग्रामों में तथा और भी अनेक ग्रामों नगरों में लौंकागच्छीय उपासरों में जैनमूर्त्तियें जरूर विद्यमान हैं, और इन जैनमूर्त्तियों के कारण ही आज संसारमें लौंकागच्छ का अस्तित्व टिका हुआ है। अन्यथा ढूंढिया लोग कभी के लौंकाशाह के नामोंनिशान को उठा देते ?

× × ×

पृष्ठ ९० पर शाह लिखते हैं कि:—

"जीवाजी की दीक्षा में एक लाख रुपये खर्च हुआ"

शाह को कोई पूछनेवाला नहीं मिला कि दयाधर्म पालने वालों ने दीक्षा महोत्सव में एक लाख रु० खर्च कर क्या काम किया था ? अगर कहो कि मण्डप बनाया, फूलों से सजावट

की और धाम धूम से महोत्सव किया; तो कहना होगा कि लौंकाशाह के दयाधर्म को उस समय लौंकाशाह के अनुयायी भूल गए थे? अथवा शाह ने केवल अपने मत की समृद्धि दिखाने को ही यह बेसिर पैर की अघटित घटना घसीट मारी है। यदि यह बात सच है तो फिर जैनियों में और लौंकागच्छ में विशेष भेद नहीं था, यह सिद्ध होता है।

× × ×

आगे चल कर ऐ० नों० पृष्ठ ९५ पर शाह फिर एक बिलकुल सफेद गप्प का प्रदर्शन कराते हैं।

× × × *"स्वामी शिवजी अहमदाबाद आए, उस समय अहमदाबाद में, एक नवलखा उपाश्रय था, जिसमें ७००० घरों वाले बैठते थे और इनके अलावा १६ उपाश्रय और भी थे।* × × ×

स्वामी शिवजी का समय वि. सं. १६७० से १७२५ तक का है और तत्कालीन अहमदाबाद का इतिहास सर्वाङ्ग रूप से मिल सकता है। परन्तु शाह की लेखनी कच्ची और कमजोर थी, यदि शाह ७००० की जगह ९००००० घर ही लिख देता तो ठीक था, क्योंकि इससे उपाश्रय का नाम नवलखा सार्थक हो जाता! क्योंकि शाह को कलम चलाने में न तो ७००० घरों के लेख के वास्ते प्रमाणों की जरूरत थी और न नवलाख के लिए ही रहती, फिर समझ में नहीं आता कि शाह ने यह संकोचवृत्ति नाहक क्यों की? नीति में तो लिखा है कि:—"वचने किं दरिद्रता" अर्थात् जहाँ प्रत्यक्ष में लेने देने को कुछ नहीं चाहिए

तो वाणी बोलने में दरिद्रता क्यों दिखावें वहाँ तो मुँह जवानी लाखों करोड़ों क्यों न कहदें।

× × ×

इससे आगे पृष्ट १२७ में स्वामी प्रागजी की नोंध में शाह लिखते हैं:—

× × × *"स्वामी प्रागजी के समय इस धर्म के साधु अहमदाबाद में कदाचित् ही आते थे क्योंकि चैत्य-वासियों का जोर ज्यादा था और इससे बहुत परिसह सहन करने पड़ते थे। यहाँ तक कि कोई श्रावक दयाधर्म को पालन करता हुआ जान पडता तो जाति बाहिर कर दिया जाता था। इस स्थिति का सुधार करने के लिए ही प्रागजी ऋषि अहमदाबाद आए, और सारंगपुर तलिया की पोल में गुलाबचंद हीराचंद के मकान में ठहरे।"* × × ×

पाठको! स्वामी प्रागजी का समय वि० सं० १८३० का है और शिवजी का वि० सं० १७२५ का इस प्रकार इन दोनों साधुओं के बीच में प्रायः एक शताब्दी का अन्तर है। सत्तरहवीं शताब्दी में जैन कुटुम्ब की विशालता होने से प्रति घर ५ मनुष्य हमेशा नहीं तो पर्युषणों के दिनों में तो अवश्य उपासरे में आते होंगे, तब ७००० घरों के ३५००० मनुष्य बैठे उतना विशाल तो एक नवलखा उपाश्रय, तथा दूसरे उन्नीस उससे कुछ छोटे जिनमें सात हजार प्रत्येक में नहीं तो कम से कम सात सौ घर वाले तो बैठ सकें, इतने तो अवश्य होंगे, इस प्रकार कुल मिला कर, २० तो उपाश्रय और उनमें बैठने वाले ७००० श्रावको के घर नवलखा

उपाश्रय के, और सात सौ सात सौ,प्रत्येक छोटे उन्नीस उपाश्रय के मिलाकर १३००० घर ये कुल २० हजार घरोंके एकलाख मनुष्य अहमदाबाद में लौंकों के नहीं पर केवल ढूँढिया मत के शिवजी के समय में होना शाह के अनुमान से सिद्ध होता है, तब संभव है इतने विशाल शहर में उस समय कुछ न कुछ घर तो लौंकामत के और जैन मूर्त्तिपूजकों के भी जरूर ही होंगे, क्योंकि उस समय का इतिहास डङ्के की चोट यह बता रहा है, कि वि० सं० १६९४ में वहाँके श्रीमान् नगरसेठ ने नौ लाख रु०व्यय कर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनाया था । खैर ! मूर्त्ति-पूजकों के घर हों वा न हों, इससे अपने को कोई प्रयोजन नहीं, अपने को तो मूर्त्ति नहीं मानने वालों का ही इतिहास अभी देखना है । इसलिए प्रस्तुत प्रकरण में उसी का खुलासा करना है कि शिवजी के समय वि० सं० १७२५ तक एकनगर में जिस किसी समुदाय के ७००० या २०००० घर हों और २० उपा-श्रय हों और प्रागजी के समय वि० सं० १८३० में अर्थात् केवल १०० वर्षों बाद उस शहर में खास प्रागजी को रहने को न तो एक उपाश्रय ही मिले और न उनके मतावलंबी सौ पचास श्रावक ही मिलें । और उन्हें एक साधारण गृहस्थ के यहाँ ठहरना पड़े, क्या यह कम आश्चर्य की बात है ? सुज्ञ पाठक, शाह की इस कल्पना की सत्यता पर स्वयं विचार कर सकते हैं कि इतने विशाल उपाश्रय का इतने क्षीण समय में ही नष्ट हो जाना तथा इतनी विशाल जन संख्या का उस समय अपने धर्म को मानने पर भी अल्प संख्यक मूर्त्तिपूजकों द्वारा जाति बहिष्कृत किया जाना, व एक शताब्दी में अलोप

हो जाना केवल शाह ही अपनी पुस्तक में लिख सकते हैं। अच्छा होता, यदि शाह इस बीच के १०० वर्षों में एकाध भयंकर भूकम्प होने की भी कल्पना कर लेते, जैसा कि हाल ही में विहार और क्वेटा में घटित हुआ था। परन्तु दुःख है कि इस विषय में शाह की कल्पना वुद्धि ने कुछ देर के लिये आप से रिहाई ले ली, अन्यथा शाह की कोरी कल्पना स्वयमेव सत्य हो जाती, और कहने को यह स्थान मिल जाता कि शिवजी के समय के २० उपाश्रय और हजारों श्रावकों के घर भूकम्प में भूमिसात् होगए। नहीं तो दूसरा तो क्या हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि वे सब लोग और उपाश्रय मूर्त्ति-पूजकों का शरण लिया तो आप का बचाव हो सकता है।

ऐसी ही एक अघटित घटना ऐ० नों० के पृ० १३७ पर शाह ने बुरानपुर के नाम पर फिर गढ़ली है। शाह वहां लिखते हैं कि—

"स्वामी लवजी के समय बुरानपुर में १०००० घर जैनों के थे जिनमें केवल २५ घर लवजी के अनुयायी थे। उन्हें भी जाति से बहिष्कृत कर दिया था। इतना ही नहीं पर उन्हें कुँओं पर पानी भी नहीं भरने दिया जाता था, और नाई धोबी आदि कोई भी लोग उन २५ घरवालों के यहाँ जाकर काम नहीं कर सकते थे।"

१—क्या शाह ने ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध इस नवलाख की लागत के मंदिर का लक्ष्य करके ही तो नवलखे उपाश्रय की कल्पना नहीं की है ?।

शाह एक ओर तो लिखता है कि "दयाधर्म भारत के पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक फैला दिया गया था" और दूसरी ओर वीरानपुर के नामधारी दयाधर्मियों का यह हाल है कि दसहजार घरों में मात्र उनके २५ घर हैं और वे भी जाति बहिष्कृत तथा कुँओं पर पानी नहीं भर सकने वाले इत्यादि।

शाह की इन कल्पित कथाओं में सत्यता का कुछ भी अंश है या नहीं इनका निर्णय हम निष्पक्षपाती शाह मताऽवलंबियों पर ही छोड़ देते हैं। शाह के पूर्व ४५० वर्षों में तो ऐसी अघटित बातें किसी ने नहीं लिखी फिर शाह को ही क्या ज्ञान हुआ कि विना किसी प्रमाण के ऐसी झूंठी गप्पें मार शान्त समाज में अशान्ति फैलाने का उद्योग किया। संभव है शाह का यह विचार हो कि स्थानकवासी समाज को इस प्रकार उत्तेजित कर उन्हें शान्त समाज में क्लेश करने के लिए कमर कस के तैयार किया जाय कि तुम्हारे पूर्वजों को मूर्त्तिपूजक यतियों ने इस प्रकार नाना कष्ट दिये, अब उन का बदला तुम्हे लेना चाहिये। पर अब जमाना बदल गया है और स्थानकवासी समाज आज इतना भोला और अज्ञानी नहीं है कि शाह की लिखी झूंठी गप्पों पर विश्वास कर अपना अहित करने को तैयार हो जायँ।

वास्तव में न तो अहमदाबाद में ढूँढियों का नवलखा उपासरा ही था और न किसी जमाने में अहमदाबाद में ७००८ घर ढूँढियों के थे। तथा न, अहमदाबाद और वुरानपुर के नामधारी दयाधर्मियों को कभी जाति बहिष्कृत किया था। परन्तु सच पूछा जाय तो उस समय के जैनियों ने यह बड़ी भारी भूल की, यदि उसी समय उत्सूत्र प्ररूपक इन निन्हवो को जाति से अलग

कर दिया होता तो आज जैनशासन को जो बुरा अनुभव करना पड़ा है, उसका स्वप्न भी नहीं आता। जैसे कि दिगम्बरी समाज के अलग होते ही उनका जाति व्यवहार अलग कर दिया तो इतना क्लेश कदाग्रह नहीं रहा। दोनों समुदाय अपनी २ जाति में स्वतन्त्र हैं। पर हमारी ही यह कमनसीबी है कि धर्म में भेद होते हुए भी हमने इनके साथ जाति सम्बन्ध शामिल रक्खा, जिससे आज हमको इतनी बड़ी भारी हानि उठानी पड़ी तथा अब भी उठा रहे हैं।

आपसी फूट और कुसम्प बढ़ने के साथ आज आचार पतितता और अन्य देवी देवताओं की पूजा की प्रचुरता बढ़ी है। यदि हम इन नास्तिकों को प्रथम ही से जाति बहिष्कृत या अपने से अलग कर देते तो जैन समाज में ये झूंठे बखेड़े पैदा नहीं होते। ये हानिएँ केवल मूर्त्तिपूजकों के ही पल्ले पड़ी हों सो नहीं, किन्तु लौंकागच्छीयों को भी इस विरोध से पर्याप्त हानिएँ हुई हैं। लवजी धर्मसिंहजी ने अपनी अलग दुकान जमा कर लौंकों की सत्ता कमजोर कर दी, इसी प्रकार स्थानकवासियों में भीखमजी आदि ने अपना पाखण्ड स्वतन्त्र फैलाकर लवजी की लाईन को भी लथेड़ दिया। परन्तु इन सब मतधारियों का यदि मूल देखा जाय तो सब ने जैनाचार्यों के संगठित श्राविक समुदाय को अपनी विषोक्त मत वादिनी छुरी से टुकड़े टुकड़े कर अपना अपना उपासक बनाया है। किसी भी मतधारी ने एक भी जैनेतर को अपना श्रावक बनाया हो यह किसी भी प्रमाण से पुष्ट नहीं होता।

इन नये नये मतधारियों ने जैनों का संगठन छिन्न भिन्न

करके जैनधर्म में कुसम्प और विरोध फैलाकर जैनों से अपना खास इष्ट छुड़ाकर जैनों का आचार व्यवहार दूषित बना कर जैनधर्म को जनता की दृष्टि से गिराने के सिवाय और कुछ भी जैन जगत् का हित नहीं किया है, शाह यदि इस पर भी फूला नहीं समाता है तो इससे बढ़कर शाह की अज्ञानता ही क्या हो सकती है !

प्रिय पाठक वृन्द ! जरा आगे चल कर अब आप शाह के तीन सुधारकों की ओर भी एक निगाह डालिए । शाह के लेखाऽनुसार पूज्य शिवजी बड़े ही प्रभाविक और लौंकाशाह की कीर्त्ति तथा धर्म को चारों ओर फैलाने वाले हुए, तो फिर समझ में नहीं आता कि शिवजी के सुदृढ़ शासन समय में सुधारकों की क्यों आवश्यकता हुई कि इन्हें अपना सुधार करने को डेढ़ चांवल की खिचड़ी अलग पकानी पड़ी । और वह भी तीनों सुधारक एक ही समय में तीनों के नाम से अलग २ तीन मत निकाले । जैसे—

(१) धर्मसिंह का मत—जिसमें श्रावक के सामायिक आठकोटि का मानना जो किन्हीं तीर्थङ्कर गणधर जैनाचार्यों ने या लौंकाशाह और लौंकाशाह के अनुयायियों ने अब तक नहीं माना है ।

(२) लवजी का मत—जिन्होंने मुँहपत्ती में डोराडाल दिन भर मुँह पर बाँधने की रीति चलाई, यह भी तीर्थङ्कर गणधर जैनाचार्य और लौंकाशाह की मान्यता से विरुद्ध थी ।

(३) धर्मदासजी का मत—ये जैन या लौंकागच्छ के तो क्या

पर अपने गुरु धर्मसिंह लवजी आदि साधुओं को भी साधु न समझ कर स्वयं विना गुरु साधु का वाना पहिन कर साधु बनगए।

अब इन तीनों सुधारकों की पारस्परिक ऐक्यता भी जरा देख लीजिये कि शाह के मताऽनुसार तो धर्मसिंह और लवजी, अहमदावाद में इकट्ठे हुए, तथा स्वामी मणिलालजी के मन्तव्याऽनुसार सूरत में इकट्ठे हुए, दोनों के मताऽनुसार वे अलग २ मकानों में ठहरे, उन दोनों के आपस में छः कोटि और आठ कोटी संबन्धी वाद विवाद हुआ। अब विचारना यह है कि जहाँ इस प्रकार एक दूसरा अपने आपको श्रेष्ठ समझ विपक्षी को उत्सूत्र वादी समझे वहां बिचारी एकता का निर्वाह किस कदर हो सकता है? क्योंकि छः कोटि वाला आठ कोटि वाले को मिथ्यात्वा समझता है तो आठ कोटि वाला छः कोटी वाले को उत्सूत्रवादी जानता है, और शाह इस भीषण संघर्ष को एकता का चोगा पहिनाते हैं। कहिये इसका क्या रहस्य है? प्रकृत में शाह के ये तीनों नायक जैन समाज के लिए सुधारक नहीं किन्तु पक्के बिगाड़क ही थे। धर्मसिंहजी के लिए तो यह प्रसिद्ध है कि धर्मसिंहजी को शिवजी ने गच्छ बाहिर कर दिया था। छः कोटि वाले इसका कारण कुछ और ही वतलाते हैं। वे कहते हैं कि जब आचार्यों द्वारा अन्य साधुओं को अनेकाऽनेक पदविएँ मिली, तब पदवी के प्यासे धर्मसिंहजी को अपनी एकान्त अयोग्यता के कारण पदवी से कोरा रहना पड़ा और इससे खिन्न हो जब उन्होंने शासन में विरोध डाल उत्पात मचाना शुरू किया तब शिवजी ने गच्छ से बाहिर फेंक दिया, इस विषय का एक प्राचीन पटावलि

में उल्लेख भी मिलता है जो पाठकों के पठनार्थ नीचे दिया जाता है।

"संवत् सोल पचासिए, अहमदाबाद मँझार।
शिवजी गुरु को छोड़ के, धर्मसिंह हुआ गच्छ बहार॥

यह हाल तो शाह के मान्य सर्वप्रथम सुधारक धर्मसिंहजी का है। अब जरा लवजी का हाल भी सुन लीजिये:—

"लवजी—सूरत के वीरजी वोहरा की विधवा पुत्री फूलांबाई के दत्तक पुत्र थे। लौंकागच्छीय यति बजरंगजी के पास लवजी ने यति दीक्षा ली। बाद में लवजी की अयोग्यता से (आठ कोटि वाले तो कुछ और ही आक्षेप करते हैं) इन्हें गच्छ के बाहिर कर दिया। लवजी ने स्वयं मानसिक कल्पना द्वारा मुँहपत्तीमें डोराडाल दिनभर मुहपर मुँहपत्ती बाँधने की एक नयी रीति सोच निकाली, कई ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि शुरू में तो लवजी व्याख्यानादि विशेष समय ही मुँहपत्ती बाँधते थे जैसे कई यति लोग व्याख्यान समय बाँधते थे पर इतना विशेष कि यति लोग मुँहपत्ती को तीखुणी कर दोनों कानों के छेदों में मुँहपत्ती के कोने अटका देते तब लवजी ने इनको एक प्रकार का कष्ट समझ मुँहपती में डोराडाल मुँहपर बान्धनी शरु की बाद तो इस कुप्रथा ने इतना जोर पकड़ा कि चाहे बोलो चाहे मौन रखो पर मुँहपत्ती तो दिन भर खेंच के मुँहपर बाँधनी ही चाहिये। इस कुलिंग अर्थात् भयंकर रूप को देख के ही लोग इनको ढूंढिये शब्दसे पुकारने लगे खैर लवजी अपने गुरुकी विशेष रूप में निन्दा करने लगे, क्योंकि गुरु निन्दा करने की पद्धति तो लवजी की पूर्व परम्परा से ही चली आती थी।

खैर! लवजी एक वार खंभात गए और वहाँ अपने गुरु की निन्दा करने लगे। यह बात लवजीके नाना वीरजी बोहरा को सूरत में मालूम हुई, उन्होंने खंभात के नवाब पर एक पत्र लिखा, जिसकी नकल स्वामी मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली के पृष्ठ २०५ में दी है उसमें से कुछ वाक्य यहाँ भी उद्धत किये जाते हैं।

"शुं यतिवर्य नो अपमान ? शुं गुरुओ आपेला ज्ञान नो अजीरण ? जे गुरुओ तेने ज्ञान आपी भणाव्यो तेनो उपकार न मानता तेना थी विरुद्ध वर्त्ती नवो मत कहाड़वा लवजी तैयार थया × × × गुरु ने उतारी पड़वा खोटो उपदेश आपेछे माटे त्यां आवे तो लवजी यति ने ग्राम थी कहाड़ी मूंकजो × × ×

प्रभुवीर पटावली पृ० २०५

शाह और स्वामीजी ने अपनी अपनी पुस्तकों में लवजी धर्मसिंहजी को गुरु की आज्ञा से क्रिया उद्धार करने की एक मनगढन्त कल्पना की है। पर ऊपर के वाक्यो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि इन दोनों व्यक्तियों को अयोग्य समझ कर ही इनके गुरुओं ने इन्हें गच्छ बाहिर किया था, तभी तो अपने पूज्य गुरुओं की ये निन्दा करते थे, और इसीसे लवजी के नाना ने नवाब के नाम पत्र लिखा था। और यहाँ तक लिखा दिया कि यदि लवजी ग्राम में आवे तो भी उन्हें बाहिर निकाल देना, अब उनके प्रचार की तो बात ही क्या रही ? और इससे अधिक यति रूपधारी लवजी के विरुद्ध वे क्या लिख सकते थे।

अब रही तीसरे सुधारक धर्मदासजी—पाठक जरा इनका विवेचन भी पढ़लें-"ये सरखज के छींपा (भावसार) थे। ये पहिले एक पातरिये श्रावक ※ से मिले। बाद में धर्मसिंह लवजी से मुलाकात की, परन्तु आपको इन दोनों यतियों से भी सन्तोष नहीं हुआ। सन्तोष नहीं होने के कारण आज तक भी किसी ने नहीं बताया कि इन दोनों पूर्व धर्म गुरुओं में ऐसी क्या त्रुटियें थी जिनसे धर्मदासजी को संतोप नहीं हुआ। हां, श्रीमान शाह ने इस विषय में इतना जरूर लिखा है कि:—

"पहिले दोनों मुनियों में या तो पूर्ण शुद्धता मालूम नहीं हुई होगी, या अपना अलग ही समुदाय कायम कर ज्यादा नाम हासिल करने की इच्छा हुई होगी। इन दोनों में से कोई भी कारण क्यों न हो पर इससे हमें शर्म आती है।"

ऐ० नो० पृ० १४१

वाके ही यह शर्म की बात है 'कि सुधारको की यह मनोदशा, यह अभिमान वृत्ति ऐसी महत्त्वाकाँचा, इससे अधिक फिर शर्म की बात ही क्या हो सकती है कि जिन दोनों सुधारकों को अपनी अलग दुकान जमाए कुछ अर्सा भी नहीं हुआ, और वे धर्मदासजी को अयोग्य लगने लग गए, अर्थात् उनकी मान्यता से धर्मदासजी को सतोष नहीं हुआ यही तो दुर्भाग्य की बात है। शायद, धर्मसिंहजी की आठ कोटि की मान्यता और लवजी की उच्छृंखलता आदि कारणों से इन दोनों को

※ यह कडुआ मत के संवरी श्रावक थे।

गच्छ बाहिर कर देना ही धर्मदासजी का असंतोष हो तो बात बन सकती है। धर्मदासजी के समय जैन-समाज विशाल संख्या में था। लौंकागच्छ के यति श्रीपूज्यजी भी बहुत थे। धर्मसिंहजी लवजी आदि नये सुधारक भी विद्यमान थे। इतने पर भी फिर धर्मदासजी ने विना गुरु के साधु वेश पहिन लिया तो इसका कारण क्या हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। इन लोगों के लिए साधुवेश पहिन कर साधु बन जाना तो एकबच्चों का खेल सा हो गया है। इसी लिए तो श्रीमान् शाह ने जलते हृदय यह पुकार निकाली है देखिये:—

"स्थानकवासी, साधुमार्गी जैन धर्म का जब से पुनर्जन्म हुआ, जब से यह धर्म आस्तित्व में आया, तब से आजतक भी यह जोर-शोर में था ही नहीं। अरे! इसके कुछ नियम भी नहीं थे। यतियों से अलग हुए और मूर्ति पूजा छोड़ी कि

---

१ धर्मदासजी की मृत्यु के लिए स्वामी मणिलालजी अपनी "प्रभुवीर पटावली" नामक पुस्तक के पृष्ट २१९ पर लिखते हैं कि एक साधुने रतलाम में सथारा कियाथा बादमें वह क्षुधाका सहन नहीं कर सका, आखिर उसने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि हम को रोटी खिलाओ अन्यथा मैं रात्रि में भाग जाऊँगा, यह खबर धर्मदास जी को मिली। धर्मदास जी ने साधु के बदले अपना अकाल बलिदान किया। यह संथारा करने वाले करवाने वाले और बीच में पढ कर आप बलिदान होने वालों की बड़ी भारी अज्ञानता है। जैन धर्म में विना अतिशय ज्ञान के संथारा करने करवाने की सख्त मनाई है। परन्तु जैन हैं कौन? जैनाज्ञा विरुद्ध आचरण करने वालों की तो यही दशा होती है।

ढूंढिये हुए × × × मेरे अल्प बुद्धि अनुसार इस तरकीब से जैन धर्म को बड़ा भारी नुकसान हुआ। इन तीनों (धर्मसिंह लवजी धर्मदासजी) के तेरह सौ (१३००) भेद हुए (इसका उल्लेख इसमे पहिले भी हुआ है)।"

ऐ० नों० पृष्ठ १२१

पाठक वर्ग ! शाह के इन शब्दों को ध्यान में लेकर विचार करें कि इन सुधारकों ने जैन धर्म को कैसा नुकसान पहुँचाया और अभी भी पहुँचा रहे हैं। लौंकाशाह ने जैनयतियों की निंदा कर, नयी प्ररूपणा कर, नया मत निकाल जैनों के संगठन के टुकड़े २ किये, और जैनधर्म को सांघातिक चोट पहुँचाई, वैसे ही धर्मसिंहजी लवजी और धर्मदासजी ने भी लौंकागच्छ के यति व श्रीपूज्यों की निंदा कर नयी २ कल्पनाएँ गढ़, लौंकागच्छ को नुकसान पहुँचाया है। यदि ऐसों को सुधारक कहा जाय तब तो भीखमजी को भी सुधारक क्यों न कहा जाय ? क्योंकि उन्होंने भी स्थानक वासियों की निंदा कर अपनी नयी कल्पनाएँ गढ़ दया दान में भी पाप बताया है। भीखमजी के अनुयायी तो यहाँ तक कहते हैं कि:—

"नहीं हुता भीखम स्वामए,
पाखण्ड बैठता घर मांडए।"

यदि तेरह पन्थियों का यह कथन सत्य है तो उस समय यदि भीखमजी नहीं होते तो ढूँढिया, साधुमार्गी, बावीस टोला, एवं स्थानकवासी आदि पाखण्डी घर मांड २ के बैठ जाते !

सुधारक कहे जाने वालों की यह भिन्न २ निम्न दशा देख किस सहृदय को आघात नहीं पहुँचता है तथा इन सुधारक प्रचलित मत से घृणा नहीं होती है !

पाठकों ! क्रिया उद्धार करना कुछ और ही बात है। शाह आदि क्रिया उद्धार करने का जो अनर्गल आलाप करते हैं वस्तुतः यह क्रियोद्धार नहीं है। यह तो क्रियोद्धार की ओट में सुसंगठित जैन समाज की मात्र शिकार खेली गई है। वास्तविक क्रियोद्धार तो पन्यास श्रीसत्यविजयजी गणी ने तथा लौंकागच्छीय यति जीवा जी ने किया था। इन दोनों महापुरुषों ने अपने अपने गुरु की परंपरा का पालन कर, शासन में किसी भी प्रकार से न्यूनाऽधिक प्ररूपणा न कर केवल शिथिलाचार को ही दूर कर उग्र विहार द्वारा जैन जगत् पर अत्युत्तम प्रभाव डाला था। अतः इन असली क्रियोद्धारकों के बारे में आज पर्यंत किसी ने किसी प्रकार का कुछ भी आक्षेप नहीं किया है बल्कि शिथलाचारी भी इनका उपकार मानकर प्रशंसा की हैं।

प्रिय पाठक वर्ग ! क्रियोद्धार करना उसका नाम है जिससे जैनधर्म, जैनजगत्, और जैनशास्त्रों को लाभ पहुँचने की संभावना हो।

अब इस विषय को ज्यादा न बढ़ा, पुनः शाह का निजी खजाने की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। शाह ने ऐ० नोंध के पृष्ट १३५ पर अपने पास की एक पटावली का हवाला देते हुए यह लिखा है कि:—

" × × ये चारों मुनि लवजी, भाणाजी, सुखाजी सोमजी आदि जब स्थंडिल भमि से पीछे लौट रहे थे, तब

इनमें से एक मुनि पीछे रह गए, उन्हें कुछ यति मिले, वे यति रास्ता बताने के बहाने मुनि को अपने मन्दिर में ले गए और तलवार से मारकर मुनि के शव को वहीं गाड दिया × × ।"

+ × × +

शाह की निजी पटावली का तो यह उल्लेख है जो ऊपर लिख चुके हैं, और अब शाह के प्रतिपक्षी इसके विषय में क्या लिखते हैं इसका उल्लेख नीचे करते हैं, पाठक जरा ध्यान से पढ़ें—

"जब लवजी का वह एक साधु एक मुसलमान के घर में गया और उस मुसलमान की औरत के साथ प्रेम में फंस गया भवितव्यता ऐसी बनी कि उसी समय मुसलमान घर पर आया और अपनी औरत की बेइज्जती देखते ही उसको गुस्सा आया और वह क्रोध से लाल बबुला हो गया तथा म्यान से तलवार निकाल कर उस व्यभिचारी साधू के टुकड़े २ कर दिये ।"

एक हस्त लिखित प्रति का उतारा

इन दोनों घटनाओं में कौन सत्य है ? यह तो सर्वज्ञ भगवान् ही जान सकते हैं। परन्तु इतना अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि उस समय के जैन यति, या लौंकागच्छ के यति, न तो कोई पास में तलवारें रखते थे, और न कोई जैन मन्दिरों में या लौंकागच्छ के देरासरों में ही तलवारों के ढ़ेर रहते थे कि जिसने वे झट लवजी के साधु को अन्दर बुलाकर मार डालते । विशेष आश्चर्य तो यह है कि पृथ्वी, पानी और वनस्पति का स्पर्श के

पाप से डरने वाले, एवं रजोहरण से कीड़ी मकोड़ी की "यत्ना" करने वाले लोग अकारण एक ढूँढिये साधु को मन्दिर में ले जाकर तलवार से काट, उसे वहीं समाधिस्थ करदें और उसकी बू तक बाहिर न फैले यह नितान्त असंभव प्रतीत होती है। किन्तु दूसरी घटना जिसमें मुसलमान ने अपनी औरत की बेइज्जती होतो देखी हो, और उसने अपनो जन्मजात असुरता के कारण साधु को मार डाला हो ? तो संभव हो सकती है। क्योंकि एक तो मुस्लिम कौम निर्दय, दूसरा उसके खुद के घर मे उसी की औरत की ढूँढिये साधु द्वारा बेइज्जती, तीसरा तत्कालीन मुसलमानों की सार्वभौम पैशाचिक प्रभुता, चौथा ढूँढिये साधुओ से स्वाभाविक घृणा इत्यादि कारणों के एकत्रित हो जाने से इस घटना का उक्त रूप में घटित होना विशेष असम्भव नहीं जँचता। कारण कर्मगति विचित्र है। जीव को स्वकृताऽकृत भोगने ही पड़ते हैं यह प्रकृति का खास नियम है और बाद में इसी कारण से शायद लवजी ने दया पाली हो तथा शान्ति रक्खी हो तो आश्चर्य नहीं।

स्वामी मणिलालजी ने अपनी "प्रभुवीर पटावली" नामक पुस्तक में स्वामी लवजी का जीवन लिखा है, परन्तु साधु के मारे जाने की घटना का कहीं संकेत तक भी नहीं किया है। ऐसी दशा में वा० मो० शाह का पूर्वोक्त लेख हम कैसे सत्य मान सकते हैं। हाँ, यदि स्वामीजी को दोनों पटावलीकारो के उद्धरण का पता पड़ गया हो, और ढूँढिये साधु समाज की बदनामी के भय से इस प्रसंग को कतई उडा दिया हो तो बात दूसरी है। अथवा शाह की उक्त निजी पटावली स्वामीजी को कल्पित जँची

हो ?-हो न हो किसी कटु कारण से ही स्वामीजी ने इस घटना के लिखने से कन्नी काटी है।

समझ में नहीं आता कि वा० मो० शाह अपने साधुओं का कलंक यतिवर्ग पर डाल कर ढूँढिये साधुओं की क्या उन्नति करना चाहते हैं ?। अब जरा संक्षेप में यह भी देखलें कि शाहने यतियों पर यह व्यर्थ ही आक्षेप किया और यह तनिक भी विचार नहीं किया कि वे यति किस समुदाय के थे ? क्योंकि उस समय जैनयतियों के और ढूँढिया साधुओं के तो आपस में इतना बढ़ा हुआ वैमनस्य था ही नहीं; जो वे अकारण किसी साधु के प्राण हरण कर लेते। जरूर लौंकागच्छीय यति, और उनकी निंदा कर नया मत चलाने वाले ढूंढियों में उस समय भीषण संघर्ष चल रहा था; और इसी कारण से लवजी के नाना ने खंभात के नवाब के नाम पत्र लिखा था कि "लवजी अपने गुरु की निंदा कर रहा है उसको गाँव से निकाल देना" अतएव साधु को मार डालने का यह मिथ्या कलंक यदि लौंकागच्छ के यतियों पर लगाया हो तो संभव हो सकता है। क्योंकि खुद शाह का द्वेष भी विशेष रूपेण लौंकागच्छ के साथ ही प्रगट होता है जो उनको चतुर्विध श्रीसंघ से अलग निकाल कर उनके लिए स्वतंत्र आधे आसन की निन्दामयी कल्पना की है। परन्तु झूठ मूठ ऐसा करना भी सरासर अन्याय ही है। क्योंकि यदि साधु के मारने का यह कलंक प्रधान जैनयतियों से हटा कर लौंकागच्छ के यतियों पर डाला जाता है तो भी जैनधर्म का तो इस में बुरा ही है कारण वे भी जैन और ढूँढियों के गुरु (बाप) ही हैं। यदि कोई अन्यधर्मी आकर पूछे कि आपने नोंध में जो जैनों

द्वारा तलवार रखने का तथा कत्ले आम करने का लिखा है, क्या यही आपका अहिंसाधर्म है ? तो शाह को शर्म के मारे शिर नीचा करना पड़ेगा जैसा कि आज ऐसी रद्दी पुस्तकों की आवृत्तिएँ छपवाने वालों को करना पड़ता है । मैंने भी इस पुस्तक को समालोचना के लिए हाथ में लिया है किन्तु इस पुस्तक स्पर्श रूपी दोष के निवारण के लिए प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ । × ×

खैर ! इससे आगे चलकर शाह अपनी ऐ० नों० के पृष्ठ १३९ पर लिखते हैं × × ×

"कि लवजी के पाट सोमजी बैठे । वे एकवार बुरानपुर के पास गए । वहा एक रङ्गरेज ने किसी यति की खटपट से उन्हें जहर मिले हुए लड्डू वेहरा दिए और उनके प्राण हरण किए ।"

रंगरेज तो प्रायः मुसलमान ही होते हैं, और लवजी के साधु शायद मुसलमानों के यहाँ का आहार पानी भी लेते होंगे तभी तो रंगरेज ने सोमजी ऋषि को लड्डू वेहराया, और उन्हो ने वे लड्डू खाकर अकाल ही में कराल काल की शरण ली । परन्तु प्रश्न तो यह होता है कि ढूँढियों के तो मुसलमानों के साथ और भी अनेक प्रकार के सम्बन्ध है, फिर उनको जहर क्यों दिया यह इतना द्वेष किस कारण था ? कुछ समझ नहीं पड़ता । शायद मुसलमान की औरत के साथ लवजी के साधु का अनाचार करने का किस्सा बहुत नजदीक का था इसी से रंगरेज ने जातिगत अपमान के कारण सोमजी को जहर मिले लड्डू दे दिये हों तो कोई आश्चर्य नहीं । पर हमारे शाहको तो यथा तथा लौंकागच्छीय

यतियों की निन्दा कर उनको हलका दिखाना ही है, पर समझ में नहीं आता कि ढूँढिये साधु इस प्रकार का षड्यंत्र रच कर अपनी इज्जत को कहाँ तक बढ़ाना चाहते हैं। और ऐसे निंद्य कृत्यों से अपनी कैसी उन्नति करना चाहते हैं। स्वामी मणिलालजी ने तो अपनी "प्रभुवीर पटावली" में श्रीमान् लौंकाशाह की मृत्यु भी जहर के प्रयोग से होनी लिखी है।

ऐ० नों० पृष्ठ १२८ पर शाह ने अहमदाबाद में मूर्त्तिपूजक और स्थानकमार्गी साधुओं के बीच हुए शास्त्रार्थ का उल्लेख करते हुए लिखा है कि:—

"आखिर संवत् १८७८ में दोनों ओर का मुकद्दमा कोर्ट में पहुंचा। सरकार ने दोनों में कौन सच्चा और कौन झूठा? इसका इन्साफ करने के लिए दोनों ओर के साधुओं को बुलाया स्था० ओर से पूज्य रूपचन्दजी के शिष्य जेठमलजी आदि २८ साधू उस सभा में रहने को चुने गये और सामनेवाले पक्ष की ओर से वीरविजय आदि मुनि और शास्त्री हाजिर हुये। मुझे जो याद मिली है उससे मालूम होता है कि मूर्तिपूजकों का पराजय हुआ और मूर्ति विरोधियों का जय हुआ। शास्त्रार्थ से वाकिब होने के लिए जेठमलजी कृत समकितसार पढ़ना चाहिये × × × फैसला १८७८ पौष सुदि १३ के दिन मुकद्दमा का जजमेन्ट (फैसला) मिला।"

ऐ० नों० पृ० १२९।

× × ×

यह तो हुई शाह को मिली हकीकत की बात, अब शाह खुद इस विषय में क्या कहता है जरा उसे भी सुन लीजिये:—

"दोनों पक्ष अपनी जीत और दूसरे की हार प्रकट करते हैं परन्तु किसी प्रकार के लिखित प्रमाण के अभाव में मैं किसी तरह की टीका करने को प्रसन्न नहीं हूं।"

ऐ० नों० पृ० १३०।

इस प्रकार पूर्वोक्त शास्त्रार्थ के बारे में श्रीयुत शाह का "फैसला" एक अजब ढंग ही दिखाता है। क्योंकि शाह खुद लिखते हैं कि "इस विषय में लिखित प्रमाण का नितान्त अभाव है" तो फिर ऊपर लिखी हकीकत क्या शाह के "गप्प पुराण" का ही एक अध्याय है? आगे उस फैसले से पूर्णतया परिचित होने को शाह फिर जेठमलजी के "समकितसार नामक" ग्रन्थ को पढ़ने की सलाह देते हैं परन्तु आश्चर्य और दुःख इस बात का है कि समकित सार तो जेठमलजी ने वि० सं० १८६५ में बनायाथा और शास्त्रार्थ का फैसला हुआ है वि० सं १८७८ की पौष सुदि १३ को। कहिये क्या खूब रही! १३ वर्ष भविष्य की बात जेठमलजी * अपने ग्रन्थ में क्यों कर लिख गए, क्या जेठमलजी को भी शाह के सदृश भविष्य का विभंग ज्ञान था? अथवा आपकी लेखन शैली की सत्यता, प्रभु साक्षी से की हुई प्रतिज्ञा की प्रामाणिकता और नोंध सरीखे ऐतिहासिक ग्रन्थ की ऐतिहासिकता क्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती है? वाह रे? सत्य-दयापालकों! इसी बूते पर, ऐसी निरर्गल झूठी बातें लिख

---

* सं० १८७८ पहिले ही स्वामि जेठमलजी का देहान्त हो गया था।

तुम जगत् में सच्ची जैनजाति को कलंकित करने चल पड़े हो। मुख्य में तो पं० श्री वीरविजयजी और जेठमलजी के जो सं० १८७८ में नहीं पर सं १८६५ मे शास्त्रार्थ हुआ इसी कारण जेठमलजी ने समकित सार की रचना भी की" यह आपस ही में शास्त्रार्थ हुआ था। सरकार मे जाने की बात शाह ने अपनी ओर से नयी गढी है। और इस शास्त्रार्थ में जेठमलजी पराजित होकर पिछली रात में उस नगर से भाग गए थे ऐसी दशा में शास्त्रार्थ का मुकद्दमा सरकार तक कैसे जा सकता था? और इसीसे तो शाह के पास कोई सच्चा प्रमाण भीनहीं है जिसका कि वे यहाँ हवाला करते। किन्तु इसका अंतिम और वास्तविक निर्णय करना हो तोआज भी आसानी से हो सकता है। क्योंकि श्री०पं० वीरविजयजी तथा जेठमल जी खुद की अविद्यमानता में भी उन स्वर्गीय आत्माओं के रचित ग्रन्थ हमारे सामने हैं—केवल आवश्यकता है एक मात्र निष्पक्ष और निर्लेप विद्वान् की जो कि इन दोनो महाशयों के स्वीयकृत साहित्य को देख इस बात की घोषणा कर सकें कि अमुक जित और अमुक पराजित हैं। किन्तु हमारा यह सच्चा और पूर्ण दृढ़ विश्वास है कि ऐसा नीर-क्षीर न्याय यदि हो तो श्रीमान् पं० वीरविजयजी की उस अप्रतिम प्रतिभा के सामने बिचारे जेठमल जी की किंकर्त्तव्य विमूढ बुद्धि कभी नहीं टिक सकती क्योंकि जेठमलजी ने मूर्त्तिके खंडन विषय में अपने समकितसार में जो लीचर और कमजोर दलीलें पेश की है उन्हें खुद स्थानकवासी भी आज नगण्य एवं उपहास योग्य मानते हैं। जैसे स्वामी शंकराचार्य ने अपने ग्रंथो में जैनो की सप्तभंगी वाले स्याद्वाद सिद्धान्त का खंडन किया है और आज उन्हीं के अनुयायी कहते

हैं कि "भगवान् शंकराचार्य ने जैनो के स्याद्वाद का सर्वतो भावेन समीक्षण नहीं किया किन्तु एकाङ्ग का ही अवलोकन कर अपना निर्णय दे दिया" इसी प्रकार जेठमलजी ने भी मूर्त्ति के मार्मिक महत्त्व को न जान कर केवल अपनी कुयुक्ति प्रदर्शनी ही कायम की है। क्योंकि जेठमलजीने शाश्वती जिनप्रतिमाओं को कामदेव की प्रतिमा बतलाई है और स्थानकवासी विद्वान् उसी प्रतिमाओ को तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ मानते हैं। यह तो मात्र एक उदाहरण है। अन्यथा ऐसी २ अनेक बातें हैं जिनका जेठमलजी को तात्विक ज्ञान था ही नहीं। सच्चे सिद्धान्त के समर्थन में क्या स्वपक्षी और क्या प्रतिपक्षी दोनों आखिर एकमत हो ही जाते हैं तभी तो किसी ने कहा है कि—

"सचाई छिप नहीं सकती बनावट के उसूलों से।
कि खुशबू आ नहीं सकती कभी कागज के फूलों से॥"

× × × ×

ऐ० नों० पृष्ट १६५ मे श्रीमान् शाह ने अपनी जुम्मेवारी का बचाव करते हुए एक पंजाब की पटावली का उल्लेख किया है। वह भी खास विचारणीय है क्योंकि इस करतबी मत में कैसे २ करतबी जाल रचे जाते हैं? इसका पाठकों को सम्यग् ज्ञान हो जाय। पंजाब की पटावलीकारों ने अपनी पटावली ठेठ भगवान् महावीर प्रभु से मिलादी है। इसी प्रकार कोटा समुदाय वालों ने भी अपनी पटावली प्रभुमहावीर से जाकर मिला दी है। यद्यपि इसका उल्लेख शाह ने तो नहीं किया है किन्तु वह पटावली मेरे पास वर्त्तमान में मौजूद है।

आज स्थानकवासियो के जितने समुदाय, टोले और सिंघाड़े

हैं वे सब के सब अपने आदि पुरुष धर्मसिंहजी लवजी और धर्मदासजी को मानते हैं। और धर्मसिंहजी लवजी और धर्मदासजी अपना मूल उत्पादक श्रीमान् लौंकाशाह को बताते हैं तथा लौंकाशाह के पूर्व जैनश्वेताम्बरसमुदाय में मूर्त्ति नहीं मानने वालों का कहीं अस्तित्व भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। स्वामी मणिलालजी ने "प्रभुवीर पटावली" लिखी है उसमें भी लौंकामत व स्थानकवासी समुदाय का मूल उत्पादक श्रीमान् लौंकाशाह को ही लिखा है तथा इस विषय में श्रीमान् शाह और श्रीसन्तबालजी भी सहमत हैं।

किन्तु अब जरा पंजाब की पटावली की ओर दृष्टिपात कर देखिये कि उन्होंने भगवान् महावीरप्रभु से २७ वें पाट पर आगम पुस्तिकारूढ करनेवाले नन्दीसूत्र के रचयिता श्रीदेवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणजी को माना है। स्थानकवासी समुदाय ३२ सूत्रों में नन्दीसूत्र को भी एक माननीयसूत्र मानते हैं और नन्दीसूत्र की स्थविरावली में भगवान् महावीर से २७ वें पाट पर देवर्द्धिगणि क्षमा श्रवण का नाम है। पंजाब की पटावली आधुनिक लोगों ने कल्पित तैयार की है पर वे पटावली की पृथक् कल्पना करते हुए अपने मान्य श्रीनन्दीसूत्र को सर्वांश में ही भूल गए। अतः श्रीनन्दीसूत्र के २७ पाट पञ्जाबकी पटावलि से नहीं मिलते हैं और पंजाब की पटावलि में जो जैनपटावलि से लिये हुये नामों को अलग करदें तो एक भी नाम श्रीनन्दीसूत्र की थेरावलि से नहीं मिलते हैं फिर भी तुर्रा यह कि पंजाबवाली पटावलि से कोटावाली पटावलि नहीं मिलती है पंजाब और कोटावाली पटावलियों से स्वामिश्री मणिलालजी की प्रभुवीर

पटावलि में मुद्रित हुई पटावलि नहीं मिलती हैं जिसका नमूना यहां बतला देना अनुचित न होगा।

निम्नलिखित कोष्टक में पहला नम्बर स्थानक० साधू अमोलखर्षिजी कृत श्रीनन्दीसूत्र का हिन्दीअनुवाद के २७ पाटों के आचार्यों का नाम है। दूसरे नंबर में पंजाब पटावलि के, तीसरे नंबर में कोटावालों की पटावलि के, चौथा नंबर में स्वामी मणिलालजीवाली पटावली के २७ पट्टधरों की नामावली हैं।

स्था० सा० अमोल के नन्दी सूत्र के २७ पाट	पंजाब की पाटावलि के २७ पाट	कोटावालि पटावली के २७ पाट	स्था० मणिलालजी के २७ पाट
१—सौधर्माचार्य	सौधर्माचार्य	सौधर्माचार्य	सौधर्माचार्य
२—जम्बुस्वामि	जम्बुस्वामि	जम्बुस्वामि	जम्बुस्वामि
३—प्रभवस्वामि	प्रभव ,,	प्रभव ,,	प्रभव ,,
४—शय्यम्भव	शयम्भव ,,	शयम्भव ,,	शयम्भव ,,
५—यशोभद्र	यशोभद्र ,,	यसोभद्र ,,	यशोभद्र ,,
६—संभुतिविजय	संभुतिविजय	संभुतिविजय	संभुति विजय
७—भद्रबाहुस्वामि	भद्रबाहुस्वामि	भद्रबाहु स्वामि	भद्रबाहु स्वामि
८—स्थुलीभद्र	स्थुलिभद्र	स्थुलिभद्र	स्थुलिभद्र
९—महागिरि	आर्य महागिरि	आर्य महागिरि	आर्य्य महागिरि
१०—बाहुल स्वामि	बलीसिंह	बलिसिंह	आर्य्य सुहस्ती
११—सादण स्वामि	भुवनस्वामि	सौवन स्वामि	सुप्रतिबुद्ध
१२—श्यामाचार्य	वीरस्वामि	वीर ,,	इन्द्र दिन
१३—संडिलाचार्य	संडील ,,	छडिल ,,	आर्य्य दिन
१४—समुद्राचार्य	जीतधर ,,	जीतधर ,,	वज्र स्वामि
१५—आर्य मंगु	आर्य्य समुद्र	आर्य्य समुद्र	वज्रसेन
१६—धर्माचार्य	नन्दिल स्वामि	नन्दिजी ,,	भद्रगुप्त

१७—भद्रगुप्ताचार्य	नाग हस्ति ,,	नाग हस्ती ,,	वज्र (फल्गुनी)
१८—वज्रस्वामि	थंडिलाचार्य	रेवंत ,,	आर्य रक्षित
१९—आर्यरक्षित	हेमवंताचार्य	सिंह गणि ,,	नन्दिल
२०—आर्य नन्दिल	नागजीताचार्य	थंडिल ,,	नाग हस्ती
२१—आर्य्यनागहस्ति	गोविन्दस्वामि	हेमवंत ,,	रेवती
२२—रेवंताचार्य	नागजीत	हेमवंताचार्य	सिंहाचार्य
२३—सिंहाचार्य	गोविन्दाचार्य	नागजी स्वामि	खंदिलाचार्य
२४—खंदिलाचार्य	भूत दिनाचार्य	गोविन्दजी ,,	नागजीताचार्य
२५—नागार्जुन	छोहगणि	भूतादिन ,,	गोविन्दाचार्य
२६—हेमवंताचार्य	दुसगणी	दोसगण ,,	भूतादिनाचार्य
२७—गोविन्दाचार्य	देवर्द्धिगणि	देवड्ढगणि	देवड्ढगिण

उपरोक्त तालिका से पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि इन कल्पित मत में किस प्रकार कल्पित पटावलियों की रचना कीगई है इन २७ पाटवरों में ९ नाम जो जैनपटावलियों से लिये गये वे तो सबके लिए समान हैं और शेष नाम न तो श्रीनन्दीसूत्र से मिलते हैं और न तीनों कल्पनायें करने वालों के आपस मे ही मिलते हैं जब नंदीसूत्र जो स्थानकवासियों के माना हुआ,' के नामों से ही इन लोगों में किसी का भी नाम नहीं मिलता है तो २७ पाट से आगे ज्ञानजी यति (ज्ञानसागरसूरि) और लौंका-शाह तक के पाट नामावली के लिए तो कहना ही क्या है परन्तु जहां कल्पना ही के किल्ले बाँधे जाते हैं वहां सत्यता का तो अंश ही क्यों हो, यदि इन कल्पित किल्ले बनाने वालों में थोड़ा भी बुद्धि का अंश होता तो कम से कम २७ पाट तो नन्दीसूत्र

के अनुसार ही रखने कि इन २७ नामों में तो किसी को न तो बोलने को स्थान मिलता और न स्थानकवासियों को मुँह छिपा के लाजवाब ही होना पडता परंतु इतनी बुद्धि लावे कहाँ मे जो जिसके दिल में आया वही घसीट मारा क्या किसी स्थानकवासी भाइयों में यह ताकत है कि पंजाब या कोटा की पट्टावलियों में लिखे हुए दश पाट के अलावा किसी आचार्यों के एक भी विश्वासनीय प्रमाण जनता के सामने रख सके ?

अब आगे चल कर यति ज्ञानजी की ओर जरा दृष्टि डाल कर देखिये। पंजाब की पटावलीकार यति ज्ञानजी को अपने पूर्वज होने का उल्लेख किया है श्रीसंतबालजी और वा० मो० शाह ४५ दीक्षा के उम्मेदवारों को यतिज्ञानजी के पास दीक्षा दिलवाई है और पंजाब को पटावली यतिज्ञानजी के पूर्व उनके गुरु परम्पराभी दी उनको हम आगे चलकर वतलावेंगे।

वास्तव मे यतिज्ञानजो स्थानकवासियों ने ही लिखा है पर आपका नाम आचार्य ज्ञानसागरसूरि हैं और आप वृद्धपोमाल के आदि आचार्य विजयचन्द्र सूरि की परम्परा में हैं। विजयचन्द्र सूरि प्रसिद्ध तपागच्छ आचार्य जगचन्द्रसूरि 'कि जिन्हो को मेवाड़ के महाराणा ने तपाविरुद अर्पण किया था' गुरु भाई थे। अब हम यतिज्ञानजी के पूर्वजों की नामावली तथा स्वामि मणिलालजी द्वारा प्रभुवीर पटावलि की पटावलि, और पंजाब की पटावलि उद्धृत करं पाठकों का ध्यान निर्णयकी ओर आकर्षित करते हैं।

लघु पोसालिया विजय चन्द्रसूरि की पटावलि	पंजाब के स्थानकवासियों की पटावलि	स्था० साधु मणिलालजी की पटावलि
४५—विजयचन्द्रसूरि	४६—हरिसेन	३४—वर्द्धनाचार्य
४६—क्षमाकीर्तिसूरि ⊛	४७—कुशलदत्त	३५—भूराचार्य
४७—हेमकलश सूरि	४८—जीवनर्षि	३६—सुदनाचार्य
४८—यशोभद्र सूरि	४९—जयसेन	३७—सुहस्ती
४९—रत्नाकर सूरि †	५०—विजयर्षि	३८—वरदनाचार्य
५०—रत्न प्रभसूरि	५१—देवर्षि	३९—सुबुद्धि
५१—मुनि शेखर सूरि	५२—सूरसेनजी	४०—शिवदत्ताचार्य
५२—धर्मदेवसूरि	५३—महासेनजी	४१—वरदत्ताचार्य
५३—ज्ञानचन्द्र सूरि	५४—जयराजजी	४२—जयदत्ताचार्य
५४—अभयसिंह सूरि	५५—गजसेनजी	४३—जयदेवाचार्य ४४—जयघोषाचार्य
५५—हेमचन्द्र सूरि	५६—मिश्रसेनजी	४५—वीरचक्रधर
५६—जयतिलकसूरि⊛	५७-विजयसिंहजी १४०१	४६—स्वातिसेनाचार्य
५७—रत्नसिंह सूरि	५८-शिवराजजी १४२७	४७—श्रीवंताचार्य
५८—उदयचल सूरि	५९—लालजीमल १४७१	४८—सुमतिआचार्य
५९—ज्ञानसागर सूरि (ज्ञानजी यति)	६०-ज्ञानजी यति १५०१	(लौंकाशाह के गुरु)
	ऐ० नो० पृष्ठ १६३	प्रभु वी० पृ० १५६

बुद्धिमान् ! स्वयं समझ सकते हैं कि यतिज्ञानजी की परम्परा मिलाने के लिए पंजाब की पटावलि किस प्रकार की

⊛ आवश्यक भाष्य टीका के कर्ता † वि० सं० १३७१ श्री समराशाह ने शत्रुञ्जय का पन्द्रहवाँ उद्धार के समय आप वहाँ प्रतिष्ठा में शामिल थे। और आपकी कृतियों में रत्नाकर पचीसी बहुत प्रसिद्ध है ⁕ जिन तिलक सूरि के पटधर माणक्य सूरि हुए आपके विषय मुनि सुन्दरसूरी रचित गुरावली के श्लोक १४० से १४४ में वर्णन है।

कल्पना का ढांचा तैयार किया है फिर भी मजे की बात तो यह है कि (५७) का पाट वि० सं १४०१ (५८) पाट १४२७ (५९) पाट १४७१ (६०) पाट १५०१ का समय बतलाया गया है कि अंध परम्परा वाला कोई शंका भी न कर पावे। पर साथ में हमारे स्थानकवासी भाई इतनी कृपा करते कि इन १०० वर्षों में चार आचार्योंने अमुक अमुक ग्रन्थों की रचनाकी या दूसरा कोई भी कार्य किया ताकि जनता को इस कथन पर कुछ विश्वास रहता जैसे कि आचार्यविजयचन्द्रसूरि से आचार्य ज्ञानसागरसूरि (यतिज्ञानजी) तक के समय में जो आचार्य हुए और उन्होंने ग्रन्थ रचना की के उल्लेख मिलते हैं, इतना ही क्यों इन तीन शताब्दी में जैनाचार्यों के निर्माण किये हुए सैकड़ों ग्रंथ शिलालेख आज भी उपलब्ध हैं पर पंजाबपटावली कराके चार आचार्यों के समय (वि. सं १४०१ से १५०१) तक के भी जैनाचार्यों के अनेक ग्रन्थ व शिलालेख मिल सकते हो तो फिर इन स्थानकवासियों के माने हुए १००० वर्षों के आचार्यों (देवर्द्धि से ज्ञानजी का इतिहास क्षेत्र में पता तक भी नहीं मिले यह कितने दुःख और आश्चर्य की बात है !

आगे चलकर हम पंजाब की पटावलि और स्वामी मणिलालजी की पटावलि के नामों को तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो उसमें भी एक दो नाम तक भी नहीं मिलते हैं अतएव यह विना संकोच और निशंकतया कहना चाहिये कि लौंकाशाह पूर्व की जो पटावलि पंजाब व कोटा समुदाय तथा स्वामी मणिलालजी ने छपवाई है वह विलकुल कल्पित और विचारे भोले भाले स्थानकमार्गियों को धोखा देने के लिये ही बनाई है इससे न तो

स्थानकवासियों के सिर पर गृहस्थ गुरु होने का कलंक धुप सकता है और न अर्वाचीन के प्राचीन ही सिद्ध होता है पर इसके खिलाफ जो थोड़ा बहुत लोगो को विश्वास था वह भी अब शायद ही रहेगा।

आगे चलकर पंजाब की पटावलीकार ने देवर्द्धिगणि क्षमा श्रणजी के ३४ वें पाट अर्थात् भगवान् महावीर के ६१ वे पाट पर यतिज्ञानजी को कायम किया है जिनका असली नाम ज्ञान सागर सूरि था और श्रीदेवर्द्धिगणि तथा यतिज्ञानजी के बीच में जितने आचार्यों के नाम लिखे हैं वे सब के सब कल्पित हैं। किसी एक के अस्तित्व का जरा भी प्रमाण नहीं मिलता है। क्योंकि मिले भी कैसे ? जब ज्ञानजी यति के पूर्व कोई भी मनुष्य मूर्त्ति विरोधी था ही नहीं तो ऐसा होना सर्वथा उचित भी है। फिर आगे चल कर ज्ञानजीयति से क्रमशः पूज्यसोहनलालजी का नाम लिखा है, किन्तु इस विषय में हम यहाँ कुछ भी कहना नहीं चाहते हैं। कारण। ज्ञानजीयति के समय लौंकाशाह हुए हैं और लौंकाशाह के बाद से आज तक इनका अस्तित्व जिस किसी रूप में विद्यमान ही है।

स्थानकवासी समाज के साहित्य में अनेक समुदाय हुए और आज भी विद्यमान हैं किन्तु सिवाय पंजाब व कोटा समुदाय के सब अपनी २ पटावलियें लौंकाशाह से मिला कर खतम कर लेते हैं, किन्तु पंजाब की पटावली ने लौंकाशाह का तो उल्लेख तक भी नहीं किया और उन्होंने अपने को सीधा महावीर प्रभु से मिला दिया है। ऐसा करने मे शायद दो कारण हो सकते हैं।

(१) लौंकाशाह को वे गृहस्थ मानते हैं और गृहस्थ को अपना धर्म संस्थापक गुरु मानना वे पसन्द नहीं करते हों।

(२) यदि लौंकाशाह को दूसरों की तरह ये भी अपना गुरु मान लें तो एक जबर्दस्त आपत्ति आ खड़ी होती है। क्योंकि या तो लौंकाशाह के पूर्व जो आचार्य हुए हैं उन सब को अपना धर्माचार्य मानना पड़े कि जिन्होंने अनेकों मन्दिर मूर्त्तियों की प्रतिष्ठाएँ कराईं! या २००० वर्षों तक भगवान् के शासन का विच्छेद मानना पड़े इन आपदाओं को अपने पर से टालने के लिये ही इन लोगों ने यह कल्पित नामावली तैयार कर अपनी पटावली सीधी महावीर से मिलादी है। विद्वान् इसे मानें या न मानें परन्तु पञ्जावी स्थानकवासियों का तो इस पटावली से लौंकाशाह गृहस्थ को धर्म गुरु मानने का अपयश टल गया और न लौंकाशाह के पूर्ववर्त्ती मूर्त्ति पूजक आचार्यों को अपना उपदेष्टा मानना पड़ा, तथा शेष में २००० वर्षों तक शासन विच्छेद का भय भी जाता रहा।

किन्तु स्थानकवासी साधु मणिलालजी तो इसमें भी अनेक झंझटें देखते हैं, क्योंकि पञ्जाब की पटावली के २७ पाट और श्रीनन्दीसूत्र के २७ पाट मिलते नहीं हैं। नन्दीसूत्र के २७ पाटों में जो नाम हैं उनमें से कई नाम पंजाब की पटावली में नहीं हैं और जो पञ्जाब की पटावली में २७ पाट हैं वे कई नन्दीसूत्र में नहीं हैं। दूसरा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण और ज्ञानजोयति के बीचमें जितने आचार्य पंजाब वालों ने बताये हैं उनके अस्तित्व का प्रमाण भी इनसे उपलब्ध नहीं होता। ऐसी दशा में यह

कब संभव है कि इनका सफेदझूठ अब सत्य मान लिया जाय ? । क्योंकि आजकल वह जमाना नहीं है कि भोली भाली औरतों या भद्रिक लोगों के सामने कह दिया जाय कि हमारे आचार्य स्वल्प संख्या में थे, और वे दूर २ प्रदेशों में रहते थे। और इसे आज कल के लोग प्रमाणाऽभाव से ही सत्य मान लें ? यह एक बारगी ही असंभव है। आजकल तो इतिहास की इतनी शोध खोज हो रही है कि प्रत्येक प्रान्त के कोने २ का इतिहास प्रकाश में आ रहा है। परन्तु कहीं भी इस बात का पता नहीं चला कि लौंकाशाह के पूर्व भी किसी प्रान्त, जगल पहाड़, नगर, गाँव, गुफा या चूहे के बिल में भी ऐसा एक मनुष्य हो, जो जैन कहला करके भी जैन मन्दिर मूर्त्तियों का विरोधी हो और जैनाऽऽगम तथा जैनाचार्यों को मानने से इन्कार करता हो ? क्या हजार वर्षों का अर्सा में एक धर्म अखिल भारतीय जैनों का विरोध करने वाला एक प्रकार गुप्त रह सकता है ? कदापि नहीं।

तथा मूर्त्ति पूजक समुदाय में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है कि इन २००० वर्षों में किसी ने ऐसे मत के लिए दो शब्द भी लिखे हों "जैनों में एक ऐसा समुदाय है जो मूर्त्तिपूजा नहीं मानता है" एवं जैनधर्म में भगवान् महावीर के बाद २००० वर्षों में पूर्वधर श्रुतकेवली और बड़े ही धर्म धुरन्धर विद्वान् हुए जिन्होंने विविध विषयों पर नाना निबन्ध लिख जैनों का साहित्य कोश सहस्र सहस्र रश्मियों के सदृश चमका दिया, परन्तु वह सारा का सारा साहित्य मूर्त्तिपूजक समुदाय की ओर से ही लिखा मालूम होता है। यदि उस समय मूर्त्ति विरोधी समुदाय

का जन्म मात्र भी हुआ होता तो उसके समय का एकाध पुस्तक आज मूर्त्ति विरोध में लिखी हुई भी जरूर मिलती, परन्तु इसका सर्वथा अभाव ही है। मान लें कि मूर्त्तिपूजक समुदाय के अधिक आचार्य पूर्वधर थे इसमें उन्होंने साहित्य संसार में अपनी प्रतिभा को पूर्णतया चमत्कृत कर दिया, किन्तु यदि मूर्त्ति विरोधी वर्ग उस समय हो तो उसके सबके सब आचार्य तो मूर्ख होंगे हां नहीं जो उस समय चोर सी चुपकी लगा बैठ गए।

वस्तुतः उपर्युक्त इन कारणों से ही निष्कर्ष निकलता है कि लौंकाशाह के पूर्व जैन जगत् में ऐसी एक भी व्यक्ति नहीं थी जो मूर्त्तिपूजा मानने से विरोध करती हो, क्योंकि यह प्रमाणा-भाव से स्वतः परिस्फुट हो जाती है, ऐसी हालत में पंजाब की पटावली जैसी कल्पित पटावलियें बनाने से वे सिवाय सभ्य समुदाय को हंसाने के दूसरा क्या स्वार्थ सिद्ध कर सक्ते हैं, कुछ समझ में नहीं आता। यदि कुछ काल के लिए अन्तःसार विहीन हृदय वाले मनुष्य और औरतें ऐसी निःसार बातों को मान भी लें तो क्या हुआ पर अन्त तो गत्वा प्रमाणाऽभाव से ये बात चिर समय के लिए तो नहीं टिक सकती।

यद्यपि इन सब प्रश्नों को हल करने के लिए स्था० स्वामी मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावलि में लौंकाशाह को यति सुमति विजय के पास दीक्षा दिलवादी है और इससे गृहस्थ गुरु को मानने के आक्षेप का निराकरण कर दिया। अब न लौंकाशाह के पूर्व किन्हीं भी आचार्यों के ऐतिहासिक प्रमाणों की आवश्यकता रही और न धर्म स्थापक गृहस्थ गुरु का आक्षेप ही रहा है किन्तु श्री संतबालजी इस बात को कवई स्वीकार नहीं करते

हैं यह आपत्ति जरूर शेष रह जाती है। देखें स्वामीजी इसका क्या प्रतिवाद करते हैं ?

श्रीमान् संतबालजी का यह दृढ़ निश्चय है कि लौंकाशाह ने अपनी जिन्दगी में कभी किसी प्रकार की दीक्षा नहीं ली, अपितु गृहस्थ दशा मे ही काल किया, और यह मत केवल मुनि श्री संतबालजी का ही नहीं किन्तु अनेक ऐतिहासिक प्रमाण, लौंका-गच्छ के श्रीपूज्यों और यतियों को पटावलिएँ आदि इस मान्यता से पूर्ण सहमत हैं। और हाल ही में स्थानकवासियों की जो कान्फ्रेन्स अहमदाबाद में हुई थी उसमें भी स्वामी मणिलालजी को उक्त पुस्तक "प्रभुवीरपटावली" को अव-लोकन कर उसे सर्व सम्मति से अप्रामाणिक घोषित किया है। वामी मणिलालजी वि० सं० १६३६ में तपागच्छीय यति कान्ति विजय द्वारा लिखित दो पत्रों पर पूर्ण विश्वास रखते हैं चाहे वे पत्र कल्पित ही क्यों न हो और स्वयं श्रीमान् सन्तबालजी भी इन्हें बनावटी क्यों न माने, परन्तु मुनिश्री मणिलालजी की श्रद्धा उन पर से तनिक भी नहीं टलती है।

अब हम निम्न लिखित पैरेग्राफों में पंजाब और कोटा की कल्पित पटावलियों पर थोड़ा बहुत विचार विमर्श करते हैं पाठक इसे ध्यान से पढ़ें कि इन पटावलियों में सत्यता का सहारा कहाँ तक लिया गया है।

(१) मूर्त्तिपूजा की दृष्टि से देखा जाय तो स्थानक-वासियों की मान्यताऽनुसार भी प्रभु महावीर की दूसरी शताब्दी में सुविहित्त आचार्यों द्वारा मूर्त्तिपूजा प्रचलित हुई और इस प्रवृत्ति

से जैनाचार्यों ने जैनसमाज पर महान उपकार किया[1], और यह प्रवृत्ति लोंकाशाह के समय तक तो अविच्छिन्न धारा प्रवाह चली आई थी। इन २००० वर्षों में किसी ने भी इस प्रवृत्ति का विरोध नहीं किया। इस हालत में इस उपर्युक्त मान्यता से विरुद्ध विचार रखने वाली ये दोनों कल्पित पटावलियें कुछ भी महत्व शेष नहीं रख सकती हैं? ※

(२) ऐतिहासिक दृष्टि से ये पटावलियें बिलकुल कल्पित सिद्ध होती हैं। कारण इन पटावलियों में जो नाम हैं उनमें से यदि जैन पटावलियों से लिए गए नामों को अलग रख शेष नामों के लिए इतिहास टटोलाजाय, तो उनके लिए इतिहास में कहीं गंध तक भी नहीं मिलती। और न स्वयं पटावली कार आज तक इन नामों के लिए कोई प्रमाण दे सके हैं। इस दशा में इन की सत्यता पर स्वयं सन्देह हो जाता है।

(३) खण्डन मण्डन की दृष्टि से यदि इन पर विचार किया जाय तो प्रभु महावीर के बाद २००० वर्षों के साहित्य में मूर्त्तिमानने और न मानने का वादाविवाद कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। केवल जैन श्वेताम्बर और दिगम्बरो के, जैन और वेदान्तियों के, जैन और बौद्धों के तथा अनेक गच्छ गच्छान्तर एवं मत मतान्तरों के आपसी वादविवाद का ही वर्णन यत्र तत्र नजर आता है। किन्तु इन पंजाब आदि की पटावलियो में यह

---

१ देखो प्रभुवीर पटावली पृष्ठ १२१।

※ स्वामी सन्तबालजी तो वीरात् ८४ वर्षोंमें ही मूर्त्तिपूजा के अस्तित्व का डिण्डिम घोष करते हैं फिर ये पटावलियें किस मर्ज की दवा है? कुछ समझ नहीं पड़ती है।

सब न हो कर इन मे विरुद्ध अर्वाचीन समय में मूर्त्ति विरुद्ध आन्दोलन की चर्चा ही विशेष है। तथा २००० वर्षों के साहित्य में, इन कल्पित पटावलियों में लिखे कल्पित आचार्यों के नाम का कहीं निर्देश भी नहीं है। फिर हम क्यों न मानें कि ये बिलकुल बनावटी वागजाल मात्र हैं।

(४) साहित्य की दृष्टि से यदि इन को देखा जाय तो २००० वर्षों में जिन पूर्ववृत्ति जैनाचार्यों ने हजारों ग्रन्थों का निर्माण किया था, उनके नामों के विरुद्ध इन पटावलियों में दिये गए कल्पित नामों के आचार्यों ने कोई भी ग्रंथ निर्माण किया हो ऐसा आज तक भी कहीं से सुनने में नहीं आया, इस दशा में लाचार हो मानना पड़ता है कि ये पटावलियें सोलहों आनें कल्पित एवं झूठी है।

(५) वास्तु निर्माण विधि से इन पर विचार विनिमय करें तो श्वेताम्बर और दिगम्बर समुदाय के मन्दिर, मूर्त्तिएँ, गुफाएँ, उपाश्रय और धर्मशालाएँ जहाँ आज भारत के कोने २ में मिलती हैं सो ही नहीं किन्तु सुदूर यूरोप आदि विदेशों में भी उनका अस्तित्व अक्षुण्णतया उपलब्ध होता है। वहाँ इन पंजाब आदि की पटावलियों में प्राचीन समय का किसी झोंपड़े का भी प्रमाण नहीं प्राप्त है। तब बाध्य हो मानना पड़ता है कि ये केवल मिथ्यावादियों का ही क्षणिक वाग् विनोद है।

(६) साधु साध्वियों के लिहाज से यदि इनकी समीक्षा की जाय तो भगवान् महावीर के बाद २००० वर्षों में जैन श्वे० दिगंबरों के हजारों साधु सध्वियों का होना इतिहास से सिद्ध है, पर पंजाब की पटावली के आचार्यों की नामावली में का

तथा उनके कोई भी साधु किसी भी इतिहास में आज तक नजर नहीं आया।

(७) श्रावकों की हैसियत से यदि इनकी पर्यालोचना की जाय तब, भी जैन श्वे० दि० समुदाय के उपासकों, तथा श्रावकों की संख्या करोड़ों तक थी, और बहुत से श्रावकों ने जैन शासन की सेवाएँ की, उनका इतिहास आज विस्तृत रूप से हमें प्राप्त है, पर पजाब की पटावली में जो नूतन आचार्यों की नामावली है, उसमें के आचार्यों का न तो कहीं अस्तित्व पाया जाता है और न, उनके उपासक-श्रावकों का होना कहीं साबित होता है, तब निःसंकोचतया यह बात क्यों न मानली जाय कि ये पटावलिएँ स्थानकवासी दोनों समुदायों ने बिलकुल कल्पित अर्थात् जाली तैयार की है। इतने पर भी यदि पञ्जाब और कोटा की समुदाय वाले इन पटावलियों पर विश्वास रखते हों तो उनको चाहिए कि इनकी प्रामाणिकता बताने को जनता के सामने कुछ विश्वसनीय प्रमाण पेश करें।

अस्तु! उक्त प्रकार से इन सब पटावलियों की प्रसंगोपात्त कुछ समालोचना कर अब हम पाठकों को यह बतला देना चाहते हैं कि श्रीमान् शाह ने अपनी नोंध में, मेरे इस निबन्ध में बताई गई अनेक त्रुटियों के अलावा भी छोटी बड़ी कई ऐसी गप्पें मारी हैं, जिन पर सभ्य संसार को बजाय तसल्ली आने के यकायक हँसी आजाती है और नोंध की सत्यता में स्वतःसन्देह हो जाता है। पर हम निबन्ध बढ़ जाने के भय से उन्हे योंही व्यर्थ समझ छोड़ देते हैं। कारण, जब नमूने के तौर पर हमने प्रकृति निबंध में कई एक बातों की समालोचना कर भली

प्रकार यह बता दिया है कि श्रीमान् वा० मो० शाह को न तो कोई इतिहास का ज्ञान था और न सामाजिक ज्ञान भी था। केवल अपनी हठधर्मी तथा मिथ्यामतवादिता के मोह में फँस, आठकोटि के उपासक हो ने से आठ कोटि समुदाय का जरूर पक्ष किया है, और मन्दिर मूर्त्तियों तथा जैनाचार्यों के प्रति अपने जन्म जन्मान्तरों की चिर सञ्चित पक्षपात पूर्ण मनोवृत्ति का परिचय देने को काले कलेजे से भयंकर जहरीला विष वमन कर अपने दहजते दिल को इस नोंध द्वारा चिरशांति कराई है। किन्तु दुःख है कि सांप्रत का जमाना केवल मिथ्या हठवादिता का न हो कर सत्याऽन्वेषण का है अतःऐसी निकम्मी और अकिंचन पुस्तकों की सभ्य समाज में तो कोई कीमत हो नहीं हो सकती। हाँ! जो शाह के सदृश क्षुद्र विचार वाले जीव हैं वे इसे जरूर कलेजे से लगा सकते हैं।

शेष में मैं मेरे इतिहास लेखक सज्जनों की सेवा में यह निवेदन करता हुआ कि "आप लेख लिखने के पूर्व उस लेख की सहायक सामग्री को पूर्णतया अपने पास जुटा कर कोई लेख लिखें तो विश्वास है विद्वद्वर्ग में वह विशेष आदरणीय हो सकता है" बस मैं मेरे इस लेख को यहाँ ही समाप्त करता हूँ।

ॐ शान्तिः ३

परिशिष्ट

जैसे कडुआशाह, बीजाशाह, और गुलाबशाहादि के मत गृहस्थों के चलाए हुए हैं वैसे ही लौंकामत भी लौंकाशाह नामक गृहस्थ का चलाया हुआ है। लौंकाशाह के मत में नामधारी साधु हुए परन्तु उनका गुरु कोई नहीं था और न उन्होंने किसी सद् गुरु के पास जाकर कभी दीक्षा ली थी। शास्त्रकारों का स्पष्ट आदेश है कि छदोपस्थापनीयचारित्र, बिना गुरु के हो ही नहीं सकता है। पर लौंकाशाह के मत में जितने पंथ चले वे सब के सब बिना गुरु वेश धारण करके ही गृहस्थों के चलाये हुए हैं। बतौर नमूना के कुछ देखिये !:—

(१) लौंकाशाह की मौजूदगी में लौंकाशाह वृद्ध और अपंग होने के कारण स्वयं तो दीक्षा ले नहीं सका, किन्तु भाणादि तीन मनुष्यों को बिना गुरु साधु वेश पहिना कर साधु बना दिया, जिनकी प्रवृत्ति आज तक चालू है।

(२) वि० सं० १५६६ में रूपजीऋषि, उस समय लौंकामत के यति होते हुए भी बिना गुरु साधु का वेश पहिन कर साधु बन गए। देखो ! प्र० प० पृ० १८१

(३) जीवराजजी स्वामी वि० सं० १६०८ में लौंकागच्छीय यतियों से निकल कर बिना किसी गुरु के पास, दीक्षा लिए ही आप स्वयं ही साधु बन गए थे। प्रभु० वी० प० पृ० १८१

(४) धर्मसिंहजी ने वि० सं० १६८५ में अपने गुरु शिवजी

को छोड़कर, विना गुरु स्वयं साधु बन, अनन्ततीर्थङ्करों और खास लौंकामत की प्ररूपणा को परित्याग, अपनी मनोकल्पना से ही श्रावक के लिए आठकोटि के सामायिक की बिलकुल नयी शास्त्र विरुद्ध प्ररूपणा की ।

(५) स्वामी लवजी ने वि० सं० १७०८ में अपने गुरु बजरंगजी को शिथिलाचारी भ्रष्टाचारी आदि कह कर आप बिना गुरु के ही साधु बन तीर्थङ्कर, गणधर और, खास लौंकामत की आज्ञा का उल्लंघन कर डोराडाल दिन भर मुँहपर मुँहपत्ती बाँधने वाला एक नया मत प्रचलित किया ।

(६) धर्मदासजी वि० सं० १७३६ में गृहस्थ होते हुए भी उस समय जैनयति, लौंकायति, धर्मसिंह यति, और लवजीयति आदि सब को धता बताकर स्वयं विना गुरु स्वतन्त्र साधु बन गए ।

(७) स्वामी हरदासजी भी अपने गुरु को छोड़ स्वयं साधु बन गए ।

(८) यति गिरधरजी भी इसी भांति विना गुरु के साधु बन गये थे ।

(९) तथा यह कुप्रवृति आज पर्यन्त भी इन लोगों में विद्यमान है । जैसे अन्याऽन्य यतियों में जिस किसी गृहस्थ का कुछ अपमान हुआ यह पुजाने की भावना के वशीभूत होने पर बिना गुरु ही साधु वेश के वस्त्र धारण कर साधु बन जाता है, इस प्रकार खास जैनधर्म में साधु नहीं हो पाता है, प्रधान जैनधर्म में तो गुरु से विधि विधान होने पर ही दीक्षा दी जाती है किंतु लौंकामत और स्थानकवासियों में तो पूर्वोक्त प्रकार से जिसके मन आई वह स्वयं वेश पहिन साधू बन जाता है । उदाहरणार्थः—ऊपर

कई प्रमाण दे आये हैं और अधुना हमारे पूज्य हुकमीचंदजी महाराज पूज्य श्रीलालजी महाराज जावदवाले शोभालालजी तथा अन्य भी ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि वे बिना गुरु दीक्षित बन जाते हैं किंतु प्रधान जैनियों में तो बड़े से बड़ा गृहस्थ विद्वान या उच्च से उच्च ब्राह्मण और साधु वेशधारी स्थानकवासी तेरहपन्थी भी क्यों न हो पर वह गुरु महाराज की अनुमति से ही दीक्षा ले सकता है स्वतंत्र रूप से नहीं और ऐसा होने पर ही वह साधू माना जाता है। देखिये शास्त्रों में:—

"शिवराज ऋषि, पोगल संन्यासी, खंदकसंन्यासी, अंबडपरिव्राजक आदि यद्यपि अन्यान्य मतों के महान् नेता थे तथा महात्मागौतम आदि ब्राह्मण थे किंतु इन्हे भी यथाविधि गुरु से ही दीक्षा लेनी पड़ी थी"।

(१) लौंकागच्छ के पूज्यमेघजी ५०० साधूओं के साथ लौंकामत को त्याग, जैनाचार्य विजयहीरसूरिजी के पास आए, किन्तु इन्हें भी पुनः जैन दीक्षा लेकर ही जैन साधुओं में शामिल होना पड़ा।

(२) लौंकागच्छ के पूज्य श्रीपालजी ४७ शिष्यों के साथ जैनाचार्य हेमविमलसूरिजी के पास आए तो उनको पुनः दीक्षा दीगई थी।

(३) लौंकागच्छीय पूज्यआनंदजी आदि ७८ साधू आचार्य आनन्दविमलसूरि के पास आकर पुनः दीक्षित हुए थे।

(४) स्वामी बुटेरायजी स्थानकवासी समुदाय को त्याग कर संवेगपक्षी समुदाय में आये तो गणि श्रीमणिविजयजी महाराज ने उन्हें पुनः दीक्षा दी।

(५) स्वामी मूलचन्द्रजी स्था० मत त्याग कर आए तो उनको भी गणि श्रीमणिविजयजी ने पुनः दीक्षित किया। इसी प्रकार स्वामी वृद्धिचंद्रजी और नीतिविजयजी आदि को भी पुनः दीक्षा दीगई थी।

(६) स्वामी आत्मारामजी अपने २० शिष्यों के साथ स्थानकवासी मत का परित्याग कर संवेगीपक्ष में आए तो पूज्य गणिवर बुद्धिविजयजी महाराज ने उन सबको पुनः दीक्षा दी।

(७) स्वामी रत्नचंद्जी स्था० समुदाय को त्याग कर सनातन जैन धर्म में आये तो उन्हे जैनाचार्य विजयधर्म सूरिजी ने पुनः दीक्षा दी थी।

(८) स्वामी अजीत० आदि ६ साधू जब स्था० मत को तिलाञ्जलि दे पुनः स० जैनधर्म में आए तब उन्हे आचार्य बुद्धिसागरसूरि ने सबके साथ दीक्षित किया।

(९) यदि स्थानकवासी मत का परित्याग कर पुनः जैनधर्म की दीक्षा लेने वाले साधुओं की नामावली मात्र भी लिखी जाय तब तो एक खासा ग्रन्थ बन सकता है। स्थानकवासी मत से वापिस सवेगपक्ष में दीक्षित हुए साधु परिवार की संख्या इस समय भी प्रभु कृपा से ५०० के करीब है।

(१०) इस ग्रन्थ का लेखक भी पूर्व में स्थानकवासी मत का साधु ही था, पर जब उस मत का त्याग कर आया और परमयोगिराज पूज्य मुनिश्री रत्नविजयजी महाराज के पास पुनः दीक्षित हुआ। क्योंकि यह खास भगवान् महावीर प्रभु का शासन है और महावीर शासन की मर्यादा का पालन करना महावीरकी संतान का परम कर्त्तव्य है। जो भगवान् महावीर के शासन की

मर्यादा का यथेष्ट पालन करते हैं वे ही महावीर की 'तान: कहलाने के योग्य हैं।

× × × ×

यों तो इस मत के लोग मुँह से दया दया की पुकार किया ही करते हैं। परन्तु वास्तव में इन लोगों के हृदय बड़े ही कठोर होते हैं। इनका मुख्य कारण इस मत पर अनार्य मुस्लिम संस्कृति का आंशिक प्रभाव पड़ना है। जरा बतौर नमूना के देखिये :

(१) श्रीमान् लौंकाशाह ने एक जैनकुलमें जन्म लिया और त्रिकाल सामायिक तथा परमेश्वर की पूजा करने वाले थे इनके पूर्वजों को जैनाचार्यों ने मांस मदिरा और दुराचार व्यभिचार आदि दुर्व्यसनों से छुड़वा कर जैन बनाया था। क्या इस प्रकार जैनो के आभार से लदा हुआ निर्मलाऽन्त : () करण लौंकाशाह सहसा बिना किसी अनार्य संस्कृति के प्रभाव के पड़े क्या जैनाऽऽगम, जैन साधु, सामायिक, पौसह प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, दान और देवपूजा के विरुद्ध होसकता है ? कदापि नहीं। वीर वंशावलीसे पाया जाता है कि एक ओर तो यतियों द्वारा लौंकाशाह का अपमान और दूसरी ओर आपके मित्र लेखक सैयद का संयोग मिलना, इत्यादि कारणों से आवेश में आया हुआ मनुष्य क्या नहीं कर सकता है क्योंकि उस समय उसे कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य का कुछ भी ज्ञान शेष नहीं रहता। जैसे कि स्वामी भीखमजी ने अपमान के कारण कितना अनर्थ कर डाला। यह बात तो साधारण है कि बिना किसी अनार्य संस्कृति का प्रभाव पड़े ऐसा कृतघ्नी और कठोर हृदय कैसे हो सकता है ? जिस प्रकार लौंकाशाह और आपके अनुयायियों को यवनों का संसर्ग हुआ उसकी संक्षिप्त तालिका निम्न लिखित है।

(२) धर्मसिंह पर दरियाखान पीर का प्रभाव पड़ा था। तभी तो वे शिवजी जैसे प्रभाविक गुरु की निंदा कर उनसे अलग हुए थे।

(३) लवजी का जीवन चरित्र पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मुस्लिम रङ्गरेज के यहाँ से लड्डू ले खाया करते थे, और इसी कारण सोमजीऋषि की अकाल मृत्यु हुई थी, बिना अनार्य संस्कृति के प्रभाव के क्या कोई यवन के घर का लड्डू ले सकता है ? नहीं।

(४) लवजी के अनुयायी बुरानपुर के श्रावक जब, दिल्ली गए; और उन्हे दिल्ली में से बाहिर निकाल दिया, तो वे अपनी अधमता के कारण जैन या हिन्दू घरों में स्थान नहीं पासके, तब वे स्वेच्छ जा कर मुसलमानों के कब्रिस्तान में ठहरे। यह भी उनका प्रच्छन्न यवन संसर्ग का ही द्योतक है।

(५) आज कल भी इस मत के अनुयायी लोग मुसलमानों के 'ताजिया' के नीचे से अपने बाल बच्चों को निकालते हैं और ऐसा कर उनकी दीर्घायु कामना करते हैं तथा यवनो के बनाए ताबीज आदि भी अपने पास रखते या गलों में बाँधते हैं।

× × × ×

उपरोक्त वर्णन के बाद अब हम शाह ने जिन जैनाचार्यों के चमत्कारों की हँसी उड़ाई है, उन्हीं चमत्कारों को अपने माने हुए महात्माओं के साथ जोड उनकी विशेषता बताई है। उसे बताते हैं उदाहरणार्थ देखिये:—

(१) जैनाचार्य जिनचन्द्रसूरि को मणिधर जिनचंद्रसूरि का उल्लेख देख शाह ने अपनी ऐतिहासिक नोंध पृ० ९७ में

सिंघराजजी को भी लिख दिया कि आपके मस्तक में मणि थी। जब देहान्त होने पर उनका दाह कर्म हुआ तब मस्तक से उछल कर मणि जमुना में गिर गई। परन्तु यह बात स्वामी मणिलालजी को शायद अनुचित जान पड़ी हो। इसमे उन्होंने अपनी प्रभुवीर पटावली में इसे स्थान नहीं दिया है। साथ ही मणिलालजी की पटावली पढ़ने से यह भी ज्ञात होता है कि हमारी तरह स्वामीजी को भी इसकी प्रमाणिकता में सन्देह है क्योंकि उनका भी विश्वास है कि शाह की नोंध ऐसी बातों में सिवाय "गप्प" के विशेष तथ्य हो ही क्या सकता है। शाह प्रमाणों से तो उतने ही दूर भागे हैं जैसे कोड़ा देख घोड़ा भागा करता है।

(२) शाह ने नोंध के ९३ पृष्ठपर लिखा है कि "एक तीजांबाई श्राविका के कोई पुत्र नहीं होता था अतः वह एक बार लुंपकाचार्य रत्नसिंहजी की वन्दना करने को आई, और उन आचार्य के कहने मात्र से तीजांबाई के पाँच पुत्र हुए। परन्तु तेरह पंथियो से यदि पूछा जाय कि वे पांच पुत्र भविष्य में आरम्भ सारंभ करेंगे और विषय वासना भोगेंगे उसका पाप किसे लगेगा ? शायद इस निमित्त भाषण समय मुँह बन्धा हुआ होगा।

(३) बुरानपुर के लवजी के श्रावक दिल्ली गए, वहाँ काजी के पुत्र को सर्प काटा, उसे कब्रिस्तान में लाए। वहाँ बुरानपुर के श्रावक ठहरे हुए थे, उन्होंने 'नवकार मन्त्र' से काजी के पुत्र का जहर उतार दिया, और काजी ने उन श्रावकों को भोजन खिलाया तथा उनका सब दुःख दूर कर दिया। फिर भी वे श्रावक सोमजीर्षि का जहर क्यों नहीं उतारा यह समझ में नहीं आता है।

(४) सिरोही की राज सभा में शिव धर्मियों और यतियों के आपस में शास्त्रार्थ हुआ उनमें जैन यति हार गए, तब लुंपक कुँवर जी आए और उन्होंने शैवों को परास्त किया, पर कृतघ्नी लोगों ने उस समय के इतिहास में इस विषय के दो शब्द भी कहीं नहीं लिखे।

(५) शाह ने जिन व्याकरण, काव्य, न्याय छन्द और अलंकारादि शास्त्रों की निन्दा की है उन्हीं शास्त्रों के विशेषणों के साथ धर्मसिंहजी आदि अपने नेताओं की विद्वता जाहिर की है। पर धर्मसिंहजी आदि की विद्वत्ता पर सच्चा प्रकाश डालने वाला कोई भी साधन शाह को प्राप्त नहीं है। हाँ, धर्मसिंहजी ने श्रीपार्श्वचंद्रसूरिकृत टब्बा में मूर्त्ति विषयक अर्थ का फेर फार कर अपने नाम से टब्बा जरूर बनाया है। और वह दरियापुरी टब्बा के नाम से पहिचाना जाता है। पर यह चोरी का काम तो अपठित आरजियाँ (साध्वियों) भी कर सकती हैं। इस में धर्मसिंहजी की क्या विद्वता हुई। दूसरा कार्य धर्मसिंहजी ने कई सूत्रों के टब्बों की सूची (हुन्डी) और कई कोष्टक (यन्त्र) भी बनाए हैं जो कि आजकल का एक साधारण छात्र भी बना सकता है। किन्तु शाह इस पर भी फूले नहीं समाते हैं। शाह यदि ऐसों ही को विद्वान् समझते हैं तो ये विद्वान् शाह को ही मुबारिक हों।

(६) जैसे बादशाह के पास जैन श्रावक थानमल और कर्मचन्द बछावत आदि रहते थे, इसी प्रकार शाह ने एक सरवा नामक श्रावक की घटना घड़डाली है, किन्तु इतिहास में सरवा की गंध तक भी नहीं मिलती है।

(७) जैसे जैनाचार्यों को बादशाह की ओर से पट्टे, परवाने, पालखी, छत्र चामर आदि मिले हैं उसको तो शाह ने निन्दा की है किन्तु अपनी ओर स्वामी शिवजी के लिए पूर्वोक्त बहुमान मिलने का बड़े आदर से उल्लेख किया है।

इत्यादि कई एक ऐसी बाते हैं जिन्हे शाह ने एक पक्षवालों के लिए तो निन्दाऽऽत्मक और अपने पक्ष के लिये प्रशंसाऽऽत्मक लिखा है। परन्तु ऐसे पक्षपाती, दृष्टि रागि, और मन गढन्त घटनाएँ घड़ने वाले शाह पर सुज्ञ समाज को कैसी श्रद्धा रह सकती है इसे विद्वद्वर्ग स्वयं सोच सकते हैं। हाँ, यह जरूर है जिन्होंने अपनी बुद्धि का दिवाला निकाल कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य विवेक शून्य द्धि का आदर किया है, वे क्षण भर के लिए (ऐ० नों० जैसी पुस्तकों) भले ही आदर देद किन्तु जब असलियत का पता हो जायगा तब तो उनको स्वयं ही छोड़ना पड़ेगा। वा० मो० शाह ने यह पुस्तक लिख अपने समय, शक्ति, बुद्धि और धन का हमारी समझ में तो दुरुपयोग ही किया है। परस्पर में लड़ाने भिड़ाने वाली मिथ्या बातों के प्रकाशन से आज तक भी जगत् में कोई यश का पात्र न तो हुआ है और न होने की सभावना है खैर! इस लेख को अब हम विशेष न बढ़ा सब की कल्याण कामना करते हुए शासनदेव से यही प्रार्थना करते हैं कि सबको सद्बुद्धि प्रदान करे।

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ इति ॥

ऐतिहासिक नोंध की ऐतिहासिकता

प्रस्तावना

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी संसार और विशेषतः जैन समाज के लिए भीषण उत्पाद का दुःखद समय था। क्योंकि जिस महान् दुःख का अनुभव बारह वर्षीय दुष्काल एवं चैत्यवासियों के साम्राज्य में नहीं करना पड़ा, उसी का अनुभव सोलहवीं शताब्दी में करना पड़ा। इसका मुख्य कारण यह था कि—जैसे दीपक बुझते समय अपने प्रकाश को चतुर्गुण फैला कर तत्क्षण ही सदा के लिए बुझ जाता है वैसे ही भगवान की राशि पर बैठे हुए भस्मग्रह ने अपनी स्थिति के अन्तिम समय में जैन समाज को अपनी क्रूरता की एक फटकार दिखलाई, उसी समय महाविकराल एवं कलहकारी धूम्रकेतु नाम का अपर ग्रह श्रीसंघ की राशि पर सवार हुआ जिसका कि स्वभाव उत्पात मचाने का ही है। इधर "असंयति पूजा नामक अच्छेरा" का भी श्रीसंघ पर असर हुआ। बस, इन तीनों अशुभ कारणों के एकत्र मिल जाने से जैन समाज में भेद डालकर असंयमी गृहस्थों ने अपने स्वयं को पुजवाने की पुकार उठाई। इसमें एक ओर तो लौंकाशाह गृहस्थ था; और दूसरी ओर था कडुआशाह। इन दोनों व्यक्तियों ने जैनधर्म में ऐसा उत्पात मचाया कि तब का बिखरा हुआ जैन समाज आज तक भी सम्यक् रूपेण एकत्रित नहीं हो सका। जैन धर्म को जो हानि इन दोनों गृहस्थों ने पहुँचाई है वह पूर्व में किसी ने नहीं पहुँचाई थी। अतः इन दोनो गृहस्थों का पूर्व में कुछ संक्षिप्त परिचय करा देना अति आवश्यक

ई कि कलिकाल के काले प्रभाव से जैनशासन को उन्मूलन करनेवाले कैसे २ अज्ञ लोग हो गुजरे हैं—यह सर्व साधारण जान जायँ।

लौंकाशाह दशाश्रीमाली बनिया था; आपका जन्म वि० सं० १४८२ से लींबड़ी (काठियावाड़) शहर में हुआ था। इधर कडुआशाह ओसवाल था। इनका जन्म नाडोलाई (मारवाड़) गाँव में वि० सं० १४९५ को हुआथा। ये दोनों महापुरुष (!) जब किसी कारणवश अहमदाबाद को गये, और वहाँ जैन यतियों द्वारा इनका कुछ अपमान हुआ तो इन्होंने अपने नाम से नया मत निकाला। लौंकाशाह ने अपनी २७ वर्ष की वय अर्थात् सं० १५०८ में, तब कडुआशाह ने अपनी २९ वर्ष की वय अर्थात् सं० १५२४ में यह घोषणा की कि इस समय जैनों में कोई सच्चा साधु है ही नहीं, और न कोई ऐसा साधु शरीर ही है जो जैनागमों में प्रतिपादित साधु आचार को पाल सकें। इत्यादिः—

उस समय सात करोड़ जैन एवं हजारों साधु तथा सैकड़ों विद्वान् आचार्य विद्यमान थे। यदि ये दोनों व्यक्ति किसी जैन विद्वान् के पास जाकर श्री भगवतीसूत्र २० वाँ शतक सुनकर समझ लेते तो यह दुःसाहस कदापि नहीं करते। क्योंकि भगवान महावीर ने स्वयं श्रीमुखसे यह फरमाया है कि चतुर्विध संघ रूपी मेरा शासन पंचम आरा में २१००० वर्षों तक अविच्छिन्नरुप से चलता रहेगा। फिर दो हजार २००० वर्षों में ही हजारों साधु एवं सैकड़ों आचार्यों के होते हुए भी साधु संस्था की नास्ति बतलाना अज्ञानता के सिवाय और क्या है ?

यदि कोई सज्जन यह प्रश्न करें कि कडुवाशाह के समय

जैन-साधुओं में आचार शैथिल्य अधिक आगया होगा, इससे लौंकाशाह आदि को नये मत निकालने पड़े। इसके प्रत्युत्तर में यही कहना पर्याप्त होगा कि चैत्यवासियों के साम्राज्य में जो आचार शिथिलता जैनसाधुओं में व्यापक थी, वह शिथिलता तो सोलहवीं शताब्दी में हाजिर नहीं थी। और चैत्यवासियों के साम्राज्य में भी शासन रक्षक हरिभद्रसूरि जैसे धुरंधर विद्वान् विद्यमान् थे, उन्होंने चैत्यवासियों के विरोध में खड़े होकर अर्थात् धर्मरक्षा के निमित्त पुकार उठाई, और अपने कार्य में सफलता भी प्राप्त की परन्तु नया मत निकालने की उस समय किसीने भी धृष्टता नहीं की जैसे कि लौंकाशाह आदि ने अपने समय में की थी।

शास्त्र और इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो यह पता पड़ता है कि सदा सर्वदा साधुओं का आचार व्यवहार एक सा नहीं रहता है। खास भगवान् महावीर के विद्यमानत्व में भी, एक साधु के संयमपर्यव, दूसरे साधु के संयमपर्यव में अनन्त गुणा हानि वृद्धि थी। इसी से तो श्रीभगवती सूत्र २५ वें शतक में पांचप्रकार के संयति और छः प्रकार के निग्रन्थ बतलाए हैं, और इनके पर्यव में अनन्त गुण हानि वृद्धि बतलाई है। पर इन बातों का सम्यग्ज्ञान उन गृहस्थों को कहाँ था ? यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि उस समय के जैनयतियों में आचार शैथिल्य अधिक होगा तो इसका अर्थ यह तो नहीं होता है कि ऐसी दशा में गृहस्थ लोग कदाग्रहकर जैनागमों से विरुद्ध नया धर्म निकाल शासन में विरोध बढ़ावें। आवश्यकता तो यह थी कि यदि आचार शिथिलता थी तो उसे ही सुधार कर ठीक करना था।

जब कडुआशाह ने साधुसंस्था का नास्तित्व बता, चतुर्विध संघ का द्विविध संघ कर डाला, तब लौंकाशाह को भाणादि तीन मनुष्य मिले। उन्होंने विना गुरु साधु का वेश पहिन कर स्वयं को साधु घोषित किया। पर लौंकाशाह ने जिस आचारशिथिलता के कारण नया मत निकाल शासन में भेद खड़ा किया था, उस शिथिलता ने उनके बाद ५०-६० वर्षों में उसके मत को भी धर दवाया और धर्मसिंह लवजी को जैनों का वेश बदल फिर नया मत निकालना पड़ा, और जब लवजी के साधुओं में भी शिथिलता का जोर वढ़ा, तब तेरह पन्थी भीखमजी को वेश बदल कर फिर से मत निकालना पड़ा। इस तरह असंयमी इन गृहस्थों के अनेक वार वेश बदलने और नये नये मत निकालने से जैन समाज को असह्य हानि उठानी पड़ी है, तथापि वीर शासन में जैनसाधुओं का अस्तित्व अद्यावधि विद्यमान है और भविष्य में पाँचवें आरे के अन्ततक स्थायी रहेगा।

लौंकाशाह को तो वहुत लोग जानते हैं कि लौंकाशाह एक साधारण लहीया था और इसका अपमान होने से इसने एक नया मत निकाला। परन्तु कडुआशाह कौन था? और इसने किस लिए नया मत निकाला, तथा इसके मत का मूल सिद्धान्त क्या था, यह वहुत कम लोग जानते हैं। विक्रम की १७ वीं शताब्दी में श्रीधर्मसागरोपाध्याय नाम के प्रखर विद्वान् हुए हैं। उन्होंने "उत्सूत्र कंद कुदाल" नामक एक ग्रन्थ लिखा है और उसमें जैसे लौंकाशाह को उत्सूत्र प्ररूपक वतलाया है वैसे ही कडुआशाह को भी उत्सूत्र वादी लिखा है। फिर भी कडुआशाह ने पंचांगी संयुक्त जैनागम एवं मन्दिर, मूर्त्ति तथा जैनों का

आचार व्यवहार मान्य रक्खा है अतः उसका उतना तिरस्कार नहीं हुआ जितना कि लौंकाशाह का।

कडुआशाह स्वयं लौंकाशाह को घृणा की दृष्टि से देखता था। यहाँ तक कि कडुआशाह ने अपने नये मत के लिये जो नियम बनाए, उनमें एक यह भी नियम बनाया है कि लौंकामत वालों के वहाँ से अन्न-जल नहीं लेना चाहिए। इस निषेध का कारण शायद यह हो सकता है कि लौंकाशाह जैनधर्म के मुख्य-स्तंभ रूप जैनशास्त्र और जैनमन्दिर मूर्त्ति को नहीं मानता था। इतना ही नहीं पर वह तो सामयिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान, और देवपूजा को भी नहीं मानता था, इसी कारण ऐसे अधममत का अन्नजल ग्रहण करना कडुआशाह ने अच्छा नहीं समझा होगा ?।

कडुआशाह के मत की एक संक्षिप्त पटावली श्रीमान् बाबू पूर्णचन्द्रजी नाहर कलकत्ता वालों के ज्ञान भण्डार में विद्यमान है। उसकी नकल "जैन साहित्य संशोधिक" त्रैमासिक पत्रिका वर्ष ३ अंक ३ के पृष्ट ४९ में मुद्रित हो चुकी है, उसीका सारांश लिख आज मैं पाठकों के अवलोकनार्थ सेवा में उपस्थित करता हूँ। आशा है कि इसको आद्योपान्त ध्यान से पढ़कर उस समय की परिस्थिति और ऐसे असंयमी गृहस्थों के मत निकालने के कारण को ठीक समझ कर इन उत्सूत्रवादियों के मत के पाप से अपने आप को बचावेंगे।

उपकेशगच्छीय मुनि ज्ञानसुन्दर
पाली (मारवाड़) १-५-३६ ईस्वी

श्री सिद्धसूरीश्वर सद्गुरुभ्यो नमः

कडुआ-मत पटावली का सार

कडुआशाह एक ओसवाल, आँचलगच्छ का श्रावक था। इनका जन्म नाडोलाई (मारवाड़) गाँव के शाह कहनजी की भार्या कनकादे की कुक्ष से वि० सं० १४९५ में हुआ था। आँचलगच्छ के यतियों के पास अभ्यास करने पर कडुआशाह को वैराग्य उत्पन्न हुआ, पर जब माता पिता से आज्ञा न मिली तो एक दिन घर से चुपचाप निकल वि० सं० १५२४ को अहमदाबाद चला गया। वहाँ रूपपुरा में आगमगच्छीय पं० हीरकीर्त्तिजी से समागम हुआ, और कडुआशाह ने कुछ दिन तक उनके पास रह कर ज्ञानाऽभ्यास किया। तव लोंकाशाह की भाँति इनकी बुद्धि में भी कुछ विकार पैदा हुआ, और जनता के समक्ष यह घोषणा की कि, इस समय कोई सच्चा साधु है ही नहीं, और न इस कलिकाल में शास्त्र प्रतिपादित कठिन साधु-आचार-व्यवहारों का पालन ही हो सकता है, अतः दीक्षा की भावना रखते हुए "संवरी श्रावकपना" पालनो ही अच्छा है। तथा इसी बात पर स्वयं कडुआशाह ने भी बालब्रह्मचर्य, अकाञ्चनत्व एवं अममत्व को धारण कर गाँव गाँव में परिभ्रमण करना शुरू किया और निम्न लिखित बोलों की मर्यादा स्थिर की। जैसेः—

१—मन्दिर में पगड़ी उतार कर देव-वन्दन करना ❀।

❀ यह नियम उसने 'संवरी श्रावक' के लिए बनाया होगा कि साधारण श्रावक से संबरी श्रावक की इतनी विशेषताहो।

२—श्रावक की प्रतिष्ठा[1]—वन्दनीक समझना।
३—पूर्णिमा की पक्खी और चतुर्थी का पर्युषण करना[2]।
४—मुँहपत्ती चरवला हाथ में रखना[3]—
५—बहुधा (बहुत वार) सामायिक भी करना[4]।
६—पर्व सिवाय भी पौषध करना[5]।
७—विद्वल[6] टालना (कच्चा दही, छास में चणा माठ, मूंगादि का बना पदार्थ कच्चा या पक्का डालने से असंख्य जीवोत्पत्ति होती है)।
८—माला अरोपण नहीं मानना।

---

१ कडुआशाह ने कई एक प्रतिष्ठाएँ भी कराई थी, इसलिए यह नियम बनाना पड़ा हो कि श्रावक की कराई प्रतिष्ठा भी वन्दनीय समझी जानी चाहिए!

२ शास्त्रीय विधानाऽनुसार पूर्णिमा की पक्खी तब आचार्यों को मान देने को चतुर्थी का पर्युपण भी स्वीकार किया। इससे ज्ञात होता है कि कडुआशाह को गच्छ का आग्रह नहीं था।

३ कडुआशाह जो आँचलगच्छ का श्रावक होने पर भी आँचलगच्छ की मान्यता जो श्रावक को चरवला मुंहपत्ति नहीं रखनी चाहिये यह ठीक न समझ कर यह नियम बनाया मालूम होता है।

४ शायद लौंकाशाह ने सामायिक को भी अस्वीकार किया था, इसी लिए कडुआशाह को यह नियम बनाना पड़ा हो।

५ लौंकाशाह पौषध को भी नहीं मानता था, इसीलिए कडुआशाह ने पर्व के सिवाय भी किसी दिन पौषध व्रत करने का यह नियम बनाया हो।

६ लौंकामत वाले विद्वल नहीं टालते थे, अतः कडुआशाह को यह नियम भी बनाना पड़ा हो।

९—स्थापना प्रमाण (सामायिकादि क्रिया स्थापनाजी के सामने होनी जरूर है)[1]।

१०—तीन स्तुति कहना।

११—वासी कटोल का त्याग रखना[2]।

१२—पौपह तिविहार चौ विहार हो सकता है।

१३—पंचांगी शास्त्रऽनुसार मान्य रखना[3]।

१४—सामायिक लेकर इर्यावहि करना[4]।

१५—वीर प्रभु के पंच कल्याणक मान्य रखना[5]।

१६—दूसरा वन्दन बैठा रह कर देना।

१७—साधु कृत्य विचार।

१८—अधिक श्रावण हो तो दूसरे श्रावण पर्युषण और अधिक कार्त्तिक हो तो दूसरे कार्तिक में चौमासी।

१९—स्त्रियें भी प्रभु की पूजा कर सकें[6]।

१—लौंकामत के अनुयायी स्थापना भी नहीं मानते थे; तदर्थ यह नियम बनाया हो।

२—लौंकाशाह के मत वाले लोग वासी लेकर खा रहे थे, इसलिये यह नियम भी बनाया हो।

३—लौंकाशाह पंचांगी मानने से इन्कार था, वास्ते कडुआशाह ने यह नियम बनाया हो।

४—यह क्रिया खरतरगच्छ से मिलती है।

५—यह मान्यता खरतरगच्छ से विरुद्ध और शेष गच्छों से मिलती है इससे पाया जाता है कि यद्यपि कडुआशाह को गच्छों का पक्षपात नहीं पर मनमानी क्रिया करता था।

६—यह खरतरगच्छ से विरुद्ध है क्योंकि इस गच्छ के आदि पुरुष आचार्य जिनदत्तसूरि ने स्त्रीपूजा का निषेध किया था।

संप्रति दशवाँ अच्छेरा चलता[1] है।

इत्यादि बहुत से बोल निश्चित किये तथा शास्त्राक्षर मुजब सामायिक प्रतिक्रमण करना और संवरी गृहस्थ के लिए भी १०१ बोलों की प्ररूपणा की और यह नियम निर्धारित किया कि संयमार्थी संवरी गृहस्थ के वेश में रह कर दीक्षा का परिणाम रक्खें और निम्न लिखित नियमों का पालन करते रहें।

१—चलते समय दृष्टि नीची रखना।

२—रात्रि में बिना पूंजे नहीं चलना।

३—स्थंडिल के सिवाय रात्रि को कहीं बाहिर नहीं जाना।

४—मार्ग में चलते समय बोलना नहीं।

५—सच्चित भोजन नहीं करना।

६—शेष दो घड़ी दिन रहे तब चौविहार करना।

७—अति मात्रा में आहार न करे, झूँठा न डाले, और भोजन करते समय न बोले।

८—विद्वल टालना।

९—हाथ से किसी वस्तु को फेंक नहीं देना।

१०—किसी चीज को खींचना नहीं।

११—थंडिला की शुद्धि करना।

---

१ इससे सब साधुओं को असंयति समझा है, या आप स्वयं तथा लौंकाशाह जैसे असंयति पुजाए जाने वाले को 'असंयति पूजा' नामक अच्छेरा समझा है ?।

२ फिर दुबारा शास्त्राक्षराऽनुकूल सामायिक प्रतिक्रमण का उल्लेख साफ २ जाहिर करता है कि उस समय कोई ऐसा भी व्यक्ति था कि सामायिक, प्रतिक्रमण का भी निषेध करता हो। और वह था

१२—लघुशङ्का टाल के शुद्धि करना[1]।
१३—मूत्र भाजन भर कर नहीं रखना।
१४—पूंजी परमार्जि मात्रादी परठना।
१५—किसी को कठोर बचन न कहना।
१६—पूंजियों के विना खाज नहीं खिनना।
१७—पांच स्थावर जीवों की जयणा करना।
१८—निवाण तलाव आदि से स्वयं जल न लाना।
१९—विना छाने हुए जल से वस्त्र नहीं धोना।
२०—स्वयं आरंभ न करना।
२१—वींजणा (पंखे) से हवा-पवन न लेना।
२२—वनस्पतियों को अपने हाथ से न काटना।
२३—त्रस जीव को तकलीफ न देना।
२४—त्रस जीव को जान बूझ के नहीं मारना।
२५—सर्वथा मृषावाद (झूठ बचन) न बोलना।
२६—विना दिये किसी की कोई भी चीज न लेना।
२७—मनुष्यणी या तीर्यंचणी का संघट नहीं करना।
२८—स्वयं परिग्रह (पैसा) नहीं रखना।

- लौंकाशाह। इसके विषय में वि० सं० १५४३ में पण्डित लावण्य समय लिखते हैं कि लौंकाशाह सामायिक, पौषह, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और दान तथा देवपूजा नहीं मानता था। इसलिए कडुआशाह को यह सख्त नियम बनाना पड़ा हो।

१ नंबर ११-१२ ये दोनों नियम भी लौंकाशाह की अशौचता के कारण ही बनाए हों। इसके विषय में पं० लावण्य समयजी भी पुकार करते हैं।

२९—चार घड़ी रात्री शेष रहे तब उठजाना।
३०—उघाड़े मुँह न बोलना (जयणा करना)।
३१—रात्रि के प्रथम प्रहर में नहीं सोना।
३२—विना कारण दिन में भी नहीं सोना।
३३—नित्य एकाशना-व्रत करना।
३४—नित्य, गंट्ठसही, प्रत्याख्यान, करना।
३५—सायं प्रातः दोनों समय देववन्दन, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, करना।
३६—नित्य पांच तथा सात वार चैत्यवन्दन करना।
३७—कम से कम नित्य एक गाथा कंठस्थ करना।
३८—नित्य ५०० गाथाओं की स्वाध्याय करना।
३९—कुदर्शनी के परिचय का त्याग करना।
४०—नित्य बन सके तो एक से ज्यादा सामायिक करना।
४१—नित्य एक विगई से ज्यादा नहीं लेना।
४२—यदि कभी घी खाना हो तो पावसेर से ज्यादा नहीं खाना।
४३—एक पक्ष (१५ दिन) में दो उपवास करना।
४४—दश तथा पन्द्रह लोगस्स का काउसग्ग नित्य करना।
४५—एक वर्ष से ज्यादा एक ही गांव में नहीं रहना
४६—अपने लिए हाट घर नहीं बनाना।
४७—पांच वस्त्रों से अपने पास अधिक वस्त्र न रखना।
४८—गादी तकिया ओशीषा नहीं रखना।
४९—पलंग, खाट या माचे पर नहीं सोना।
५०—दूसरों के चकले या गादी पर नहीं बैठना।
५१—एक कलसिया और एक कटोरा से ज्यादा बरतन नहीं रखना।

५२—दर्द हो जाय तो तीन दिन तक दवा नहीं करना बाद अच्छा न हो तो उचित उपाय करें ।
५३—स्त्रियों के साथ एकान्त में वातें न करना ।
५४—नौवाड़ ब्रह्मचर्यव्रत पालन करना ।
५५—मास पर्यन्त एक दिशा रखना ।
५६—स्त्री का एकान्त संगठ्ठा वरजना ।
५७—क्लेश कषाय की उदीरणा न कराना ।
५८—कषाय उत्पन्न होवे तब विगई का त्याग करना ।
५९—किसी पर अभ्याख्यान न देना ।
६०—किसी की निन्दा न करना ।
६१—तैल आदि सुगन्ध पदार्थों का विलेपन न करना ।
६२—नित्य तेरह द्रव्य से ज्यादा न लगाना ।
६३—पान सुपारी मुखवास न करना ।
६४—बहुमूल्य वस्त्र न लेना और न भोगवना ।
६५—रेशमी वस्त्र न लेना और न पहनना ।
६६—तैल आदि की मालिश कर स्नान न करना ।
६७—स्वयं रसवती (रसोई) न पकाना ।
६८—हरिकाय (अपक) न खाना ।
६९—चौमासा में खजूर आदि न लेना ।
७०—स्त्रियों को सुनाते हुए राग ताल न करना ।
७१—शरीर पर जेवर नहीं पहनना ।
७२—दो पुरुष साथ एक शय्या में न सोना ।
७३—अकेली स्त्रियों को न पढ़ाना ।
७४—जहां स्त्री सोवे वहाँ नहीं सोना ।

७५—लौंकामत वालों के घर का अन्न पानी ग्रहण न करना ।[1]

७६—जिसके यहां देव द्रव्य बाकी हो उसके घर न जीमना ।[2]

७७—मंदिर की भूमि मे न सोना ।

७८—सम्बन्धी से किसी तरह की याचना नहीं करना ।

७९—दूसरों का द्रव्य उनकी मंजूरी के बिना धर्म कार्य में भी नहीं लगाना ।

८०—दो दिन से ज्यादा एक घर में नहीं जीमना ।

८१—मिथ्यात्वी जो संबरी होवे तो उसके घर तीन दिन से ज्यादा नहीं जीमना ।

८२—घेवर आदि उत्कट आहार न करना ।

८३—सिंघोड़ा सूखे तथा हरे भी न खाना ।

८४—डगला कुर्त्ता पहिनने की जयणा ।

८५—दूसरों के लड़कों को लाड़ न लड़ाना ।

८६—स्वजन सिवाय (बड़ा आरम्भादि) वहां जाकर नहीं जीमना ।

८७—हलवाई की मिठाई की जयणा ।

८८—रात्रि को रांधा हुआ भोजन नहीं खाना ।

८९—गृहस्थ के घर में बैठ वातें नहीं करना ।

९०—जूता नहीं पहिनना ।

९१—वाहन पर सवारी नहीं करना ।

९२—मास में एक बार नख उतारना ।

---

१ लौंकामत जो शासन का उच्छेद करनेवालाहोने से उसके घर का अन्न जल लेने में कडुआशाह महापाप समझता होगा ।

२ कडुआशाह देव द्रव्य का भी बड़ा ही हिमायतीदार था ।

९३—कुलेर पकान्न आदि बासी न रखना ।

९४—मार्ग में स्त्री के साथ बातें न करना ।

९५—पांचरंगी वस्त्र न पहिनना ।

९६—स्त्रियों के झुण्ड में नहीं जाना ।

९७—गान तान गाना सुनाना नहीं ।

९८—लोकविरुद्ध आचरण नहीं करना ।

९९—किसी के घर जाना हो तो पहिले खूँखार आदि संकेत करके जाना ।

१००—इत्यादि दूसरे बोल भी बहुत जानना ।

१०१—तथा शील पालने संबन्धी पुरुषों के १०४ बोल तथा स्त्रियों के शील पालने के विषय में १०३ बोल हैं वे सब अन्यत्र ग्रन्थों से जानना ।

कडुआशाह ने बहुत लोगो को संवरी बनाया जैसे कि:—शाह खीमा, तेजा, करमसी, रांणा, करमण, संवसी, पुंजा, धींगा वीरा, देपाल, भोरपाल, धीरु, तींबा सिंघर, कव सबगण, लुणा, मांगा, जसवंत, डाह्या, वेला, जीवा, पटेल, हासां, पसाया, रामा, करणवधा इत्यादि, तथा पाटण, राजनगर, थराद, राधनपुर, खंभात, जूनागढ प्रमुख शहरों में बहुत से संवरी हुए । इसका अतिशय विस्तार बड़ी पटावली से देखना ।*

---

* स्था० साधु मणिलालजी ने अपनी प्रभुवीर पटावली नामक पुस्तक के पृष्ट २१५ पर कडुआ मत का समय वि० सं० १५६२ का लिखा है यह गलत है और इस मत की आदि में साधु होना लिखा यह भी भूल है कारण संवरी श्रावक कल्याणजी को आपने बड़े भारी विद्वान माना है धर्मसिंहजी ने इनके पास ज्ञानाभ्यास किया है उसी कल्याणजी की

कडुआशाह के मत की नियमावली पढ़ कर यह तो कहा जा सकता है कि लौंकाशाह की अपेक्षा कडुआशाह का मत बहुत उत्कृष्ट था, यदि कडुआशाह साधु संख्या का इनकार नहीं करता तो श्रावक धर्म के लिए कडुआशाह के नियम बड़ी उच्च कोटि के हैं।

कडुआशाह ने वि० सं० १५२४ में अपना मत स्थापित किया और ४० वर्ष तक भ्रमण कर अपने मत को खूब बढ़ाया उस समय कडुआशाह के मत ने जनता पर जितना प्रभाव डाला था उतना लौंकाशाह के मत ने नहीं। कारण कडुआशाह के मत में एक साधुओं के सिवाय सब कुछ मान्य था परन्तु लौंकाशाह तो, देव गुरु धर्म मंदिर, मूर्ति, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, दान और सूत्र सिद्धान्त कुछ भी नहीं मानता था, केवल पाप पाप, हिंसा-हिंसा, दया-दया यही करता था। इसी से तो कडुआशाह के बजाय लौंकाशाह का अधिक तिरस्कार हुआ और जैन समाज उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगा।

कडुआशाह ने वि. सं. १५६४ में अन्तिम चौमासा पाटण शहर में किया और अपने पीछे पाट पर शाह खेमा को

लिखी हुई यह कडुआमत की पटावली है और इसमें स्पष्ट लिखा है कि कडुआशाह ने वि० सं० १५२४ में अपना मत स्थापन किया और वे सरूआत से ही 'संवरी श्रावक' नाम का मत स्थापन किया है पर हमारे स्था० साधुओं को अपने लेख की सत्यता के लिये प्रमाण की तो परवाह ही नहीं है जिसके दिल में आई वह ही कल्पना कर लिख मारता है फिर सभ्य समाज उनकी प्रशंसा करे या मज़ाक उड़ावे, यह विचार इन लोगों को होता ही नहीं है।

स्थापन कर स्वयं समाधि पूर्वक काल किया। अंत में पटावली-कार ने यह लिखा है कि भस्मग्रह के उतरने पर कडुआशाह ने धर्म को दीपाया।

कडुआशाह के पाट खेमाशाह हुआ। खेमाशाह के पाट वीराशाह, वीराशाह के पाट शाहजीवराज, शाह जीवराज के पाट तेजपाल, तेजपाल के पाट शाहरत्नपाल, रत्नपाल के पाट जिनदास और जिनदास के पाट पुनः शाह तेजपाल (द्वितीय) हुए। इनका समय वि. सं. १६८४ का है।

"इति कडुआमत लघु पटावली शाह कल्याले न कृता। संवत् वेद[४] वसु[८] कला[१६] अर्थात् १६८४ वि० सं० में पटधर तेजपाल के विजय राज्य में लिखी गई है।"

वि० सं० १६८४ के बाद कडुआमत में कौन २ "संवरी श्रावक" हुए इसका अभी तक पता नहीं है। पर राधनपुर, थराद, अहमदाबाद, पंचमहल प्रान्त आदि ग्रामों में इस समय भी कडुआमत के श्रावक विद्यमान हैं। यदि बड़ी पटावली प्रयत्न करने पर हस्तगत हुई तो, कडुआमत पर फिर विशेष प्रकाश डाला जायगा।

ओं शान्तिः! ओं शान्तिः!! ओं शान्तिः!!!

पूज्यपाद मुनिश्री ज्ञानसुन्दरजी महाराज साहिब के पूर्ण परिश्रम और सदुपदेश द्वारा श्रीरत्नप्रभाकर ज्ञान पुष्पमाला-फलोदी (मारवाड़) से आज पर्यन्त मुद्रित हुई पुस्तकों का—

संक्षिप्त सूचीपत्र

विभाग पहिला तात्विक विषय की पुस्तकें

१ शीघ्रबोध भाग १ला
२ शीघ्रबोध भाग २रा
३ शीघ्रबोध भाग ३रा
४ शीघ्रबोध भाग ४था
५ शीघ्रबोध भाग ५वां
} १॥)

६ शीघ्रबोध भाग ६वां
७ शीघ्रबोध भाग ७वां
८ शीघ्रबोध भाग ८वां
९ शीघ्रबोध भाग ९वां
१० शीघ्रबोध भाग १०वां
} १।)

११ शीघ्रबोध भाग ११वां
१२ शीघ्रबोध भाग १२वां
१३ शीघ्रबोध भाग १३वां
१४ शीघ्रबोध भाग १४वां
१५ शीघ्रबोध भाग १५वां
१६ शीघ्रबोध भाग १६वां
} १॥)

१७ शीघ्रबोध भाग १७वां
१८ शीघ्रबोध भाग १८वां
१९ शीघ्रबोध भाग १९वां
२० शीघ्रबोध भाग २०वां
२१ शीघ्रबोध भाग २१वां
२२ शीघ्रबोध भाग २२वां
} ४)

२३ शीघ्रबोध भाग २३ वां
२४ शीघ्रबोध भाग २४ वां
२५ शीघ्रबोध भाग २५ वां
} ॥।)

२६ सुखविपाक सूत्र—मूल ≡)
२७ दशवैकालिक सूत्र—मूल =)
२८ नन्दीसूत्र—मूल पाठ ।)
२९ समवसरण प्रकरण भेट
३० द्रव्यानुयोग प्रथम प्र० =)
३१ द्रव्यानुयोग द्वितीय प्र० =)
३२ तत्त्वसार संग्रह प्रथम भाग ≡)
३३ तत्त्वसार संग्रह दूसरा भाग =)
३४ कर्म ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद ।)
३५ नयचक्रसार हिन्दी अ० ।=)
३६ तत्वार्थ सूत्र हिन्दी अ० ॥)
३७ व्यवहारसमकित के ६७ बोल-)
३८ तत्वार्थ सूत्र—मूल भेट
३९ कक्काबतीसी—सार्थ ।)
४० दशवैकालिक-सूत्र ४ अ० भेट
४१ पैंतीस बोल का थोकड़ा =)
४२ आनन्दघन चौबीसी भेट
४३ आनन्दघन पदमुक्तावलि =)
४४ जड़ चैतन्य का संवाद =)

विभाग दूसरा-ऐतिहासिक विषय की पुस्तकें।

विभाग तीसरा भक्ति और औपदेशिक पुस्तकें।

१३ व्याख्याविलास दूसरा भाग =)
१४ „ „ तीसरा भाग =)
१५ „ „ चौथा भाग =)
१६ ओशियाँ ज्ञानभंडार की लिप्ट भेट
१७ तीर्थ यात्रा स्तवन भेट
१८ स्वाध्यायसंग्रह गहुंलीसंग्रह „
१९ राइदेवसी प्रतिक्रमण =)
२० वर्णमाला)॥
२१ स्तवन संग्रह भाग ४
२२ महासती सुरसुंदरी कथा ≡)
२३ पंच प्रतिक्रमण सूत्र ।)
२४ मुनिनाम माला =)
२५ शुभमुहूर्त शकुनावली ≡)
२६ पंच प्रतिक्रमण विधि सहित भेट
२७ प्राचीन छंद गुणावली भा १ =)
२८ „ „ „ „ २ „
२९ „ „ „ „ ३ „
३० „ „ „ „ ४ „
३१ „ „ „ „ ५ „
३२ „ „ „ „ ६ „
३३ धर्मवीर शेठ जिनदत्त =)
३४ दो विद्यार्थियों का संवाद =)
३५ जैनसमाजकी वर्तमान दशा ≡)
३६ स्तवन संग्रह भाग ५ ≡)
३७ जिनगुण भक्ति वहार भा. १ भेट
३८ „ „ „ „ २ „
३९ कायापुर पट्टन का पत्र)॥।
४० शान्तिधारा पाठ भेट
४१ कापरडा तीर्थ स्तवनावली =)
४२ श्री नंदीश्वरद्वीपका महोत्सव भेट
४३ श्री वीरपार्श्व निशानी =)
४४ नित्यस्मरण पाठमाला ।)
४५ उगता राष्ट्र -)
४६ लघु पाठमाला -)
४७ भाषण संग्रह भाग १ ≡)
४८ „ „ „ २ -)
४९ नवपदजी की अनुपूर्वी -)
५० मुनि ज्ञानसुंदर(जीवन) भेट
५१ अर्द्ध भारत की समीक्षा ≡)
५२ पाली नगर में धर्म का प्रभाव भेट
५३ गुणानुराग कूलक =)
५४ शुभगीत भाग १)॥
५५ „ „ २)॥
५६ „ „ ३)॥
५७ राईदेवसी प्रतिक्रमण विधिस भेट
५८ आदर्श शिक्षा भेट
५९ श्री संघ का सिलोका „
६० जिनेन्द्र पूजा संग्रह ≡)
६१ महादेव स्तोत्र -)

विभाग चौथा चर्चा विषयक पुस्तकें।